
विशेषज्ञ समिति

प्रो० के. सी. जोशी
पूर्व कुलपति
कुमार्यु विश्वविद्यालय , नैनीताल
उत्तराखण्ड

प्रो० गारिजा पाण्डे
निदेशक समाज विज्ञान विद्या शाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी उत्तराखण्ड

प्रो० कृष्ण देव राव
कुलसचिव
राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालय
देहली
डा० शैफाली यादव
सह प्राध्यापक
एम.जे.पी. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय
उत्तरप्रदेश

प्रो० श्यामबिहारी मिश्रा
विभागाध्यक्ष विधि विभाग के.जी.के. मुरादाबाद
उत्तरप्रदेश

डा० मनीष सिंह
सहायक प्राध्यापक
लखनऊ विश्वविद्यालय
उत्तरप्रदेश

नरेन्द्र कुमार जगूड़ी
पाठ्यक्रम समन्वयक
विधि विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी (उत्तराखण्ड)

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

नरेन्द्र कुमार जगूड़ी
पाठ्यक्रम समन्वयक
विधि विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी (उत्तराखण्ड)

Unit Writers

No. Of Unit

Mr. Narendra Kumara Jaguri

1,2,3(Block-1)

Contract Teacher Law
Law Department
Uttarakhand Open University
Haldwani Uttarakhand

Mr. Sandeep Khanduri

4To16 (Block-2 to4)

Law Department
H.I.C. Educational
Dehradun. Uttarakhand

Copy Right @UTTRAKHAND OPEN UNIVERSITY

Edition: June 2012

Publisher : Director Study & Publish

mail : studies@uou.ac.in

Uttarakhand Open University, Haldwani (Nainital) –263139



UTTRAKHAND OPEN UNIVERSITY HALDWANI

Law and Social Transformation in India *LL.M.-101*
विधि का सामाजिक परिवर्तन

खण्ड— 1 विधि का सामाजिक परिवर्तन	NO of Page
इकाई –1 विधि का सामाजिक परिवर्तन	1-22
इकाई –2 प्रथमों एवं परम्पराओं के द्वारा विधि का निर्माण	23-40
इकाई–3– भारतीय विधि व्यवस्था के अनुरूप विधि का सामाजिक परिवर्तन	41-60
खण्ड— 2 धर्म और विधि	
इकाई –1धार्मिक साम्प्रदायिकता	61- 76
इकाई–2 धार्मिक अल्पसंख्यक एवं विधिक सुधार	77-98
इकाई–3.जाति व्यवस्था	99-122
इकाई–4 विधि का सामाजिक परिवर्तन: कारक एवं सिद्धान्त	123-141
खण्ड – 3 महिलायें /बालक एवं विधि	
इकाई–1:महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एवं अपराध	142-161
इकाई–2–विधायन द्वारा सामाजिक परिवर्तन	162-184
इकाई–3 शैक्षणिक अधिकार/अल्पसंख्यकता एवं विधि	185-205
इकाई–4.बाल–दुर्व्यवहार और बाल–श्रम	206-229
इकाई–5– विधि के परिवर्तन में न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक अवरोध	230-242
खण्ड – 4 आधुनिकीकरण और समुदाय विधि	
इकाई–1:समुदाय (जाति) : सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य	242-265
इकाई–2:जातियों के सम्बन्ध में संवैधानिक उपबन्ध	266-290
इकाई–3: आधुनिकीकरण	291-307
इकाई–4: विधिक सुधार	308-323

एल-एल.एम. प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड- विधि का सामाजिक परिवर्तन
इकाई-1 विधि और सामाजिक परिवर्तन

इकाई की संरचना

- 1.1- प्रस्तावना
- 1.2-उद्देश्य
- 1.3-विधि और सामाजिक परिवर्तन
- 1.4-विधि-सामाजिक अभियन्त्रिकि के रूप में
 - 1.4.1-हित और उसका वर्गीकरण
 - 1.4.2-व्यक्तिगत हित
 - 1.4.3-घरेलु सम्बन्धों में सम्बन्धित हित
 - 1.4.4-तत्व सम्बन्धी हित
 - 1.4.5-लोक हित
 - 1.4.6-विधिक रूप में राज्य का हित
 - 1.4.6.1-सामाजिक हितों के संरक्षण के रूप में राज्य का हित
 - 1.4.7.-सामान्य सुरक्षा सम्बन्धि हित
 - 1.4.7.1-अप्रविष्टि का कोई प्रभाव नहीं
 - 1.4.8-आर्थिक प्रगती
 - 1.4.9-व्यक्तिगत जीवन में सामाजिक हित
 - 1.4.10-हितों का मुल्यांकन
- 1.5- मुस्लिम महिलाओं के भरण-पोषण का अधिकार
- 1.6- बाल विवाह
- 1.7- विवाह का आवश्यक रूप से पंजीकरण
- 1.8- सती प्रथा का उन्मूलन
- 1.9- बहु विवाह प्रथा का उन्मूलन
- 1.10- दास प्रथा का उन्मूलन
- 1.11- साक्ष्य के रूप में विडियो कान्फ्रेन्सिंग
 - 1.11.1 इलेक्ट्रानिक रिकार्ड
- 1.12- सामाजिक एवं जनहित वाद
 - 1.12.1- सामाजिक हित वाद

- 1.13– सूचना का अधिकार
 1.14– बाल श्रम को रोकना
 1.15– विधि के अन्तर्गत बन्दी (कैदियों से सम्बन्धित कानून)
 1.16– सारांश
 1.18– अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 1.19– सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
 1.20– निबन्धात्मक प्रश्न

1.1–प्रस्तावना

स्वतन्त्रता के पश्चात विधायनों के क्रियान्वयनों से कहां तक सामाजिक परिवर्तन हो पायें उनका इस प्रसंग में दिग्दर्शन समीचीन होगा। विधि के अनुरूप समाज में विभिन्न तरीकों से परिवर्तन होता गया।

हमने पुंजीवाद और साम्यवाद के बीच का रास्ता समाजवाद अपनाया है और उसे यथार्थतः प्रभावी स्थायी और उपयोगी बनाने की दिशा में कारगर कदम उठाये हैं। नौकरियों में सबको समान अवसर उपलब्ध करने के लिए आरक्षण का उपाय अपनाया गया। हम हिंसा वर्ग संघर्ष या बल प्रयोग से नहीं अपितु शान्तिपूर्ण उपायों से सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य तक पहुँचने में विश्वास करते हैं। हमारे विकास का बुनियादी ढांचा बन गया है। उसे सुदृढ़ बनाने में हम जुटे हैं। हम आदर्श समाज और सशक्त राष्ट्र बनाने के संकल्प के साथ आगे बढ़ रहे हैं। यह सब विधि के माध्यम से ही सम्भव हो पाया है और है भी।

1.2– उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

- विधि के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार होता है समझ सकेंगे।
- समाज में प्रचलित विभिन्न प्रथाओं का विधि द्वारा किस प्रकार परिवर्तन किया गया है समझ सकेंगे।
- विधि का स्वरूप सामाजिक अभियान्त्रिकी के रूप में किस प्रकार है इसकी प्रमुख स्थितियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- साक्ष्य के रूप में विडियो कान्फ़ेन्सिंग को स्पष्ट कर सकेंगे।

- सूचना के अधिकार अधिनियम पर प्रकाश डाल सकेंगे।

1.3- विधि और सामाजिक परिवर्तन

ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देखें तो समाज की प्रचलित कुरीति सतिप्रथा को कानून द्वारा समाप्त करने के पश्चात 'आत्मदाह' को और उसे प्रेरित करने को भी दाण्डिक अपराध घोषित कर दिया गया। इस प्रकार हिन्दू समाज में सती प्रथा से मुक्ति दिलाने में सहायक हुई। कर्नाटक में सदियों पुरानी देवदासी प्रथा समाप्त करना इसलिए आवश्यक माना गया है। क्यों की यह व्यवस्था भ्रष्ट हो गई थी और अपने पालन पथ से भटक गई थी। इस प्रथा का हस्त अनैतिकता यौन शोषण रहा समाज के अन्दर व्याप्त इस बुराई युक्त प्रथा के अन्त के लिए कर्नाटक देवदास प्रोहिबिशन आफ डेडीकेशन Act 1982 से इसको समाप्त किया गया जिसको हम स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन विधि के अधीन हुआ है।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की सामाजिक बुराईयां दूर करने के विधि द्वारा अनेकों कानून विकसित किये गये जिससे स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए विधि में निरन्तर क्रियाशीलता रही और सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार बनी।

जिस प्रकार सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए विधि अपना कार्य करती अर्थात् विधि उस बुराईयों को समाप्त अथवा रोकने के लिए एक नवीन विधि का सृजन करती है यह विधि का नवीन सृजन ही सामाजिक परिवर्तन अर्थात् समाज को उस बुराई करने से रोकने पर विधि के आधार पर सामाजिक परिवर्तन होता है जिसको हम विधि के अन्तर्गत या विधि के द्वारा सामाजिक परिवर्तन कहेंगे और इसके संविधान संसोधन की समय² पर आवश्यकता प्रतीत होती रहती है इन्हीं संसोधन अथवा नवीन विधि के सृजन से सामाजिक परिवर्तन की सम्भावना होती रहती है।

1.4- विधि सामाजिक अभियान्त्रिक के रूप में

पाउन्ड की ख्याती बहुत बड़ा श्रेय उनके सामाजिक अभियंत्रण को जाता है। वे विधि के कार्यों को सोशल इंजीनियरिंग बताते हैं जिससे उनका तात्पर्य संघर्ष करने वाले हितों में संतुलन स्थापित करने से है।

विधि विज्ञान के प्रयोजनार्थ हित एक मांग इच्छा होती है। ये मांगे या आवश्यकताएं एक व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय की हो सकती हैं। उन्हीं की तृप्ति का प्रयास हो सकता है और किसी भी सभ्य समाज और राज्य के लिए आवश्यक होता है कि वह यथाशक्ति उनकी पूर्ती का प्रयास करें या सहायता दे यही सामाजिक अभियन्त्रण का अर्थ है कार्य है।

पाउन्ड विधि को कोई अभूर्त वस्तु नहीं बल्कि एक सामाजिक सत्य, एक वस्तुनिष्ठ तथा संघर्षो द्वन्दों को दूर करने और उनमें सामजस्य स्थापित करने वाला मानते हैं। विधि समाज का हित वर्द्धक, कल्याणकारक तथा व्यक्तियों के स्वार्थों को कम करने वाला होता है।

पाउन्ड के अनुसार विधि न तो ईश्वरेच्छाजना होती है और न तो सम्प्रभु का समादेश ही है जिसके पिछे अनुशास्ति होती है।

यदि विधि उपयोगी अथवा क्रियाशील नहीं है तो उसका समाज के लिए कोई मूल्य नहीं है। समाज के लिए कानून एक ऐसा साधन है जिसके बल पर सामाजिक उद्देश्य शान्ति सुख समृद्धि और विकास के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। समाज के भावी विकास में उसका अमुल्य योगदान होता है। न्याय प्रशासन में तो विधि की अहम भूमिका होती है इसलिये विधि का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों, मांग इच्छाओं और आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिए।

पाउन्ड ने उत्पादन का उपभोग तथा वितरण की पूर्ती हो जाय इसलिए उन्होने इस क्षेत्र में विधि को सहायक बताया है। कानून हमेशा समाज की प्रगति के लिए बनाये जाते हैं उसको रोकने के लिए नहीं। इसलिए समाज के साथ विधि का भी प्रगतिशील होना अपेक्षित है।

समाज के लोगों के सामान्य हितों, स्वार्थों में तालमेल समन्वय न बैठाने पर वह उग्र रूप धारण करके समाज की शान्ति व्यवस्था को प्रतिकूलित प्रभावित कर सकता है यह कार्य विधि ही करती है इसी को पाउन्ड सामाजिक अभियन्त्रण नाम देते हैं। इसके लिए सामाजिक आवश्यकताओं परिस्थितियों आदि की जानकारी रखना किसी भी कल्याणकारी राज्य में आवश्यक होता है। इसलिए पाउन्ड ने सामाजिक शोध न्याय प्रशासन, न्यायिक कार्यों पर विशेष जोर दिया है समाज का निरीक्षण और शोध पाउन्ड आवश्यक समझते हैं। इससे कर्तव्य का पता चलता है उन्होने अमेरिका के समक्ष एक ज्वलन्त समस्या देखी जिसकी जड़ में वहां की धन की प्रचुरता, वाणिज्य का विस्तार तथा औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्ती तथा असिमित भौतिक

साधन थे इन सबके गहन अध्ययन के बल पर पाउण्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि कोई देश आर्थिक, वाणिज्य, औद्योगिक सामाजिक दृष्टि से सम्भुन्नत तथा समृद्ध है तो वहां पर सघर्ष अशांती तथा अराजबकता नहीं होनी चाहिए यदि होता है तो इसके पिछे कोई मूल रहस्य अवश्य है और वे मूल बातें दो हो सकती हैं (1) अपेक्षित नियन्त्रण (2) धन दौलत साधनों अवसरों का अनुचित आबंटन।

ऐसी समस्या से उबरने के लिए पाउण्ड ने सामाजिक अभियन्त्रण पर विशेष बल दिया है इसलिए ये विधि के आदर्श, वास्तविक अवधारण (Ideal realistic conception) के प्रबल समर्थक है। विधि में दोनों विशेषताओं यथार्थता तथा आदर्श होना चाहिए ताकि सामाजिक अभियन्त्रण का कार्य सही ढंग से क्रियान्वित किया जा सके।

इस अभियान्त्रिकता के सहारे पाउण्ड ने अमेरिका की सामाजिक पुनर्रचना के लिए सोशल Engineering का अविष्कार किया पाउण्ड के विधि दर्शन में संकल्पनात्मक विचारधारा का कम स्थान है, विधि का सामाजिक निर्धारण महत्व के दूसरे क्रम है।

सबसे आगे न्यायपालिका की सृजनात्मक भूमिका है क्यों की नई विधिक तकनिकि में जो सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति समर्पित है। उसकी अधिक आवश्यकता है सामाजिक अभियन्त्रण का मुख्य कार्य अन्तिम लक्ष्य यह प्रयास करना है कि मानव इच्छा दावों इत्यादि की संतुष्टि यथा सम्भव विधिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्यूनतम विरोध या मनमुटाव और न्यूनतम अपव्यय के साथ की जाय।

1.4.1— हित और उसका वर्गीकरण

पाउण्ड हितों को विधि की प्रमुख विषय वस्तु मानते हैं। और उनके संक्षिप्त किये जाने पर जोर देते हैं। हित की परिभाषा वे इस प्रकार देते हैं— हित वे दावे, इच्छा या अपेक्षाएं हैं जिन्हें लोग तथ्येन बलपूर्वक कहते हैं और जिनके बारे में विधि को अवश्य कुछ करना चाहिए यदि संगठित समुदाय को टिका रहना है। पाउण्ड हितों को व्यक्तिगत सार्वजनिक (लोक) और सामाजिक तीन वर्गों में विभाजित करते हैं जिनका संरक्षण समाज की सुख शान्ती समृद्धि तथा उत्थान के लिए आवश्यक है।

1.4.2— व्यक्तिगत हित (Individual Interest)

व्यक्तिगत हित में निम्नलिखित पांच हित सम्मिलित हैं।

- ❖ 1. शारीरिक हित, 2. इच्छा की स्वतन्त्रता, 3. सम्मान और प्रतिष्ठा (गरिमा) 4. एकान्तता (privacy) 5. विचार एवं विश्वास सम्बन्धी हित
- ❖ **घरेलु सम्बन्धों में सम्बन्धित हित (Domestic Ration) :-** इसमें पति-पत्नी, माता पिता अथवा बच्चों के हित के साथ परिवार और विवाह से सम्बन्धी हित आते हैं।
- ❖ **तत्त्व सम्बन्धी हित (Interest of substance) :-** इसमें सम्पत्ति उद्योग और संविदा की स्वतन्त्रता प्रतिज्ञाजन्य लाभ संघ या समुदाय सम्बन्धी हित, दूसरों के साथ लाभप्रद सम्बन्ध से उत्पन्न हित और नियोजन की निरन्तरता सम्बन्धी हित छः तरह के हित सम्मिलित हैं।

1.4.3 – लोक हित (Public Interest)

इसमें निम्नलिखित दो तरह के हित सम्मिलित हैं—

- **विधिक वक्ति के रूप में राज्य का हित (Interest of State as a Juristic person):-** इसमें भी पुनः दो हित सम्मिलित हैं क— अखण्डता कार्य की स्वतन्त्रता और राज्य के व्यक्तित्व का सम्मान, ख निगम जैसे राजनैतिक रूप से संगठित समाजों के सम्पत्ति अर्जित करने और निगमित उद्देश्यों के लिए, रखने के दावे में निहित हित।
- **सामाजिक हितों के संरक्षण के रूप में राज्य का हित –** इसमें न्यास एवं धर्मादा का निरिक्षण प्राकृतिक वातावरण की सुरक्षा, उसे बनाये रखना, सामुद्रिक पेट्टी और तटों का संरक्षण सामाजिक नियोजन का विनियमन आदि आते हैं।

1.4.4 – सामाजिक हित (Social Interest) – इसमें भी छः तरह के हित सम्मिलित होते हैं।

- **सामान्य सुरक्षा सम्बन्धी सामान्य हित :-** सामान्य सुरक्षा, सामान्य स्वास्थ्य, शान्ती व्यवस्था, अधिग्रहण की सुरक्षा और, संव्यवहार की सुरक्षा।
- **सामाजिक संस्थाओं की सुरक्षा में निहित हित :-** इसमें घरेलु राज नैतिक और आर्थिक संस्थाओं से सम्बन्धित हित सम्मिलित हैं।

- **सामान्य नैतिकता में सामान्य हित** :- इसमें वेश्यावृत्ति मधपान जुआ या घूत क्रीडा पर निषेध आदि सम्मिलित है। ऐसे कार्य नैतिक भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं।

- **सामाजिक संसाधनों के संरक्षण में सामाजिक हित**—इसमें 1. प्राकृति संसाधनों के संरक्षण और 2. आश्रित एवं विकलांगों की रक्षा और ट्रेनिंग में निहित हित सम्मिलित है।

1.4.5— सामान्य प्रगति में सामाजिक हित :- इसमें निम्नलिखित हित सम्मिलित है।

क) आर्थिक प्रगति — इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के उपभोग, स्वतन्त्र व्यापार, स्वतन्त्र उद्योग, और पेटेन्ट के माध्यम से नवीन खोजों को प्रोत्साहन देना शामिल है।

ख) राजनीतिक प्रगति — इसमें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र संघ हित सम्मिलित है।

ग) सांस्कृतिक प्रगति — इसमें स्वतन्त्र विज्ञान स्वतन्त्र पत्राचार कला शिक्षा एवं ज्ञान संवर्द्धन तथा सौन्दर्य बोध सम्बन्धी हित सम्मिलित है।

1.4.6 — व्यक्तिगत जीवन में सामाजिक हित

इसमें आत्मदृढ़ता अवसर और जीवन की दशाओं से सम्बन्धित हित सम्मिलित है। हितों की सूची बनाने के बाद पाउन्ड ने इस पर भी विचार किया कैसे या किन उपायों से इन हितों को संरक्षित किया जाए। इन उपायों में विधिक व्यक्ति का उपाय और दावों कर्तव्यों स्वतन्त्रताओं, शक्तियों एवं उन्मुक्तियों का आरोपण सम्मिलित है। इसके पीछे उपचार सम्बन्धी मशीनरी भी है जिसका लक्ष्य कभी दण्ड और कभी निरोध होता है।

1.4.7— हितों का मुल्यांकन

उपर्युक्त हितों में संतुलन बनाये रखना तथा उनका मुल्यांकन करना न्यायिक विज्ञान के लिए बहुत बड़ी समस्या है किसे मान्य किया जाए, जिससे सर्वाधिक हित हो, यह आवश्यक पर विकट कार्य है। हितों इच्छाओं मांगों का आंकलन तथा पूर्ती अपेक्षित है। इससे हितों के पारस्परिक संघर्षों को बहुत हद तक कम तथा क्रमबद्ध तथा श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। समाज के वर्तमान स्तर से ही इसका आंकलन होगा। वैयक्तिक तथा सामाजिक हितों के संघर्ष को ध्यान में रखना होगा।

1.5– मुस्लिम महिलाओं के भरण पोषण का अधिकार

जहां तक भारत में रहने वाले मुसलमानों पर भरण पोषण की विधि लागू होने की प्रश्न है, वे लोग दो प्रकार की विधियों से प्रशासित होते हैं। प्रथम प्रकार की विधि है जो कि व्यक्तिगत विधि के नाम से जानी जाती है। दूसरे प्रकार की विधि के अन्तर्गत दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 एवं उससे सम्बन्धित धाराएं आती हैं।

मुस्लिम महिला के भरण पोषण के अधिकार में मा0 सर्वोच्च न्यायालय ने मोहम्मद अहमद खां बनाम शाहबानों बेगम AIR 1985 S.C. के बाद में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अन्तर्गत एक तलाकशुदा महिला द्वारा भरण पोषण हेतु आवेदन प्रस्तुत किया गया था। उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रश्न यह था कि क्या मुस्लिम विधि तलाकशुदा पत्नी के भरण पोषण के लिए पति पर कोई उत्तरदायित्व नहीं डालती।

इस वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि – मुस्लिम पति को यह विशेषाधिकार है कि वह अपनी पत्नी को उचित अनुचित या बिना कारण के जब भी वह चाहे त्याग दें।

उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि– धारा 125 (1) के स्पष्टीकरण के उपखण्ड (स) के द्वारा पत्नी के अन्तर्गत तलाकशुदा स्त्री, जिसने पुनर्विवाह नहीं किया है शामिल है। इसलिए ऐसी तलाकशुदा पत्नी जिसने पुनर्विवाह नहीं किया है इद्दत की अवधि के पश्चात भी अपने पूर्व पति से भरण पोषण प्राप्त करने की अधिकारी है। यह उपबन्ध बिल्कुल स्पष्ट है और इसमें कोई संदेह नहीं है। इन उपबन्धों में इस बात का महत्व नहीं है कि पति पत्नी का धर्म कौन सा है धारा 125 ऐसे लोगों के लिए जो अपना भरण पोषण करने के लिए असमर्थ है शीघ्र उपचार कराने हेतु बनायी गया है ऐसे उपबन्ध जो कि निरोधात्मक स्वरूप के हैं। धर्म के बन्धनों को काटते हैं। उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि धारा 125 के अधीन डाला गया उत्तर दायित्व धर्म के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। धारा 125(1) के मुस्लिम महिला को उसके क्षेत्राधिकार से बाहर किया जाए धारा 125 धर्म निरपेक्ष है।

अपिलार्थि का तर्क था कि मुस्लिम विधि के अधीन पत्नी का भरण पोषण करने का उत्तरदायित्व इद्दत की अवधि तक ही सीमित है। उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि मुस्लिम विधि के अन्तर्गत पति ऐसी पत्नी के भरण पोषण के लिए जो कि अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है उत्तरदायी नहीं है जिससे की उसने

तलाक दिया है। उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि सही स्थिति यह है कि यदि तलाकशुदा पत्नी अपना भरण-पोषण करने में सक्षम है तो इसका भरण-पोषण करने का उत्तरदायित्व इद्दत की अवधि के बाद समाप्त हो जाता है। यदि वह अपना भरण पोषण करने के लिए असमर्थ है तो वह धारा 125 दण्ड प्रक्रिया संहिता की सहायता लेने की पात्र है। साथ ही धारा 125 और मुस्लिम विधि में तलाकशुदा पत्नी जो कि अपना भरण पोषण करने में असमर्थ है के भरण पोषण के किसी मुस्लिम पति के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में विरोधाभास नहीं है। पवित्र कुरान पर विभिन्न लेखकों की टिप्पणियों का उल्लेख करते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि कुरान तलाकशुदा पत्नी के भरण पोषण का उत्तरदायित्व मुस्लिम पति पर डालती है।

शाहबानों बेगम के मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय का कट्टर और प्रतिक्रियावादी मुसलमानों ने कड़ा विरोध किया और आवाज उठायी कि यह निर्णय उनके धर्म (शरियत) के प्रतिकूल है। कट्टरपन्थी मुसलमानों के अनुसार पति तलाकशुदा पत्नी को इद्दत की अवधि के पश्चात भरण पोषण देने के लिए बाध्य नहीं है भारतीय संसद ने इस विषय पर मुस्लिम विधि को स्पष्ट करने के लिए सन् 1986 में मुस्लिम महिला (विवाह विच्छेद पर अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम (**The muslim woman protection of rights on divorce Act 1986**) पारित किया गया। इस अधिनियम की धारा 3 के अनुसार पूर्व पति तलाकशुदा पत्नी को उसकी इद्दत की अवधि तक भरण पोषण देने के लिए बाध्य है।

1.6- बाल विवाह का संरक्षण

बाल विवाह की प्रथा ने स्त्रियों की स्थिति को और दयनीय बना दिया था। इस प्रथा को प्रचलित करने में विभिन्न सामाजिक बातों का योग था वहां के मौसम का जिस प्रकार का प्रभाव पड़ता है उसी के अनुसार सामाजिक प्रणालियों का नियमन हुआ। गरम मौसम वाले इलाकों में शारीक विकास जल्दी होता है और समाज अपना नैतिक स्तर बनाये रखने के कारण लड़कियों के कौमार्य पर विशेष महत्व देता था। विवाह योग्य आयु की होने से पहले ही उनका विवाह करके लोग इस बात से निश्चिन्त हो जाते थे कि समाज की नैतिक शुद्धता बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त कुछ आर्थिक कारण भी थे गरीब लोगों के लिए लड़की अपने माता पिता पर बोझ होती थी। मध्ययुग के दौरान बाल विवाह प्रथा खूब प्रचलित थी। हिन्दु

मुसलमान दोनों ही उसका पालन करते थे बहुत ही छोटी आयु में मां बन जाना पीले जर्द और कमजोर बच्चों से घिरे रहना ऐसी बाल विवाह से कई और बुराईयों ऊपजी आर्थिक तंगी से माता पिता अपनी लड़कियों को धनी लोगों के हाथों दुल्हन के रूप में बेची जाती थी।

बाल विवाह से सबसे ऊपजने वाली समस्या थी बाल विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या इन छोटी2 विधवा लड़कियों के पास जिन्दा रहने के लिए कोई आर्थिक साधन नहीं थे। निकटतम सम्बन्धि से प्रेम व प्यार नहीं मिलता था वे लोग इन्हें दायित्व दृष्टि से देखते थे तथा सामाजिक कलंक और अंधविश्वास की भावनाओं के वातावरण में वे बेचारी जैसे-तैसे अपना जीवन बिताती थी। समाज के उच्च वर्गों की कुछ बाल विधवायें इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए सती आत्मदाह की प्रथा का आश्रय लेती थी। लेकिन समाज के सभी वर्गों और जातियों की अधिकांश विधवाओं का जीवन पीड़ा और व्यथा की एक लम्बी कहानी मात्र थी। बाल विवाह को रोकने के लिए The child marriage act 1929 लागू किया गया जिसमें लड़के की उम्र 21 वर्ष एवं लड़की की उम्र 18 वर्ष नियत की गयी थी किन्तु फिर भी बाल विवाह को पूर्ण रूप से रोक नहीं पाया इसके बाद वर्तमान समय में बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम 2006 संसद द्वारा पारित किया गया जिसे 10 जनवरी 2007 से लागू किया गया अधिनियम में दण्ड का प्रावधान कठोर होगा जिसमें दो वर्ष तक का कारावास अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत दिया जायेगा। जुर्माना जो कि एक लाख रु0 तक का हो सकती है प्रावधनित है साथ ही दण्ड को स्थितिनुसार पृथक पृथक रूप में रखा गया है। साथ ही बाल विवाह अवरोध अधिनियम 1929 को धारा 21 के अन्तर्गत निरसन किया गया एवं धारा 20 के अन्तर्गत हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में धारा 18 में खण्ड क को संसोधित कर दण्ड की प्रावधान रखा गया।

1.7- विवाह का आवश्यक रूप से पंजीकरण होना चाहिए

भारत में विवाह पृथक रूप से धार्मिक आधार पर विधि के अधिन है जैसे सर्वप्रथम विवाह के लिए ब्रिटिश कानून के अनतर्गत इसाई विवाह अधिनियम 1872 बनाया गया किन्तु यह अधिनियम अन्य धर्मों के उपबन्धों से अलग एक समुदाय विशेष के लिए ही था जिस कारण हिन्दू विवाह अधिनियम 1954 पारित किया गया हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 8 विवाह के रजिस्ट्रीकरण के लिए आवश्यक रूप से निर्देशित

करती है कि राज्य सरकार हिन्दू विवाह के प्रमाण को सरलीकरण के प्रयोजन के लिए यह उपबन्धित करने वाले नियम बना सकेगी कि ऐसे किसी विवाह के पक्षकार अपने विवाह से सम्बन्धित रजिस्टर में ऐसी रीति में और ऐसी शर्तों के अधीन रहकर जैसी की विहित की जाएं प्रविष्ट कर सकेंगे।

यह धारा आगे उपबन्ध करती है कि राज्य सरकार यदि उसका मत है कि यह आवश्यक है अथवा ऐसा करना सर्वोचित है कि उपयुक्त विवरणों की प्रविष्टि की जाय तो राज्य में या उसके भाग में यह अनिवार्य होगा चाहे सभी मामलों में आवश्यक हो जैसा कि विहित किया जाय।

1.7.1- अप्रविष्टि का कोई प्रभाव नहीं

किसी हिन्दू विवाह की वैधता विवाह की पंजिका में प्रविष्टि का लोप होने के कारण प्रभावित नहीं होगी। यह आवश्यक रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि इस धारा के अन्तर्गत विवाह का रजिस्ट्रीकरण सामान्यता यह उपबन्ध हिन्दू विवाह के वैध रिति से अनुष्ठापित होने का वैध प्रमाण प्रस्तुत करता है। यदि कोई विवाह नहीं है किन्तु विवाह पंजीकृत है तो इस प्रकार रजिस्ट्रीकरण प्रमाण पत्र विवाह को वैध नहीं बना सकता शाजी बनाम गोपीनाथ AIR 1995 मद्रास हाईकोर्ट ने इस मामले में कहा कि इस अधिनियम के उपबन्धों के अन्तर्गत कोई विवाह नहीं था किन्तु पक्षकारों के बीच केवल विवाह पंजीकृत था क्योंकि लड़के ने लड़की से कहा कि ऐसा प्रमाण पत्र विदेश में उस लड़की की नौकरी के लिए आवश्यक होगा, उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि ऐसी परिस्थितियों में विवाह का रजिस्ट्रीकरण अकृत और शून्य होगा। अतः वैध विवाह का रजिस्ट्रीकरण होना आवश्यक है।

1.8- सति प्रथा का उन्मूलन

मुगलकाल में हिन्दू समाज की उच्च वर्ग की स्त्रीयों में सती प्रथा का प्रचलन बहुतायात से प्रचलित था इस प्रथा का विशेष रूप से प्रचलन राजस्थान में था इन्बतूता ने अपने विवरण में सति प्रथा का विस्तृत उल्लेख किया है ऐसा इसलिए होता था क्योंकि समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय थी।

डेला वेल के अनुसार विधवाएँ पुनः विवाह नहीं कर सकती थी उन्हें अपने केशों को काटना पड़ता था और अपना समस्त जीवन दास की भांती व्यतीत करना था। इस नारकीय स्थिति को बिताने से वह सती हो जाना अधिक पसन्द करती थी। अकबर ने सबसे पहले सति प्रथा को रोकने के भरसक प्रयास किये किन्तु वह सफल नहीं हुआ।

इसके पश्चात सति प्रथा को रोकने के लिए बार-बार आन्दोलन प्रयास होते गये किन्तु सति प्रथा के अन्त पर पूर्ण विराम नहीं लग पाया बदलते काल खण्ड के बीच राजा राम मोहन राय ने स्त्रीयों की दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया और उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा। सति प्रथा अत्यन्त ही भयावह एवं अमानुषिक सामाजिक प्रथा थी उन्होंने सति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया जिसके परिणाम स्वरूप 1829 ई० में लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा लाये गये कानून से सामाजिक बुराई का अन्त हो गया जिससे विधिक आधार पर समाज में एक नया परिवर्तन उत्पन्न हुआ।

1.9- बहु विवाह प्रथा का उन्मूलन

बहु विवाह के दो रूप हैं।

❖ **बहु पत्नीत्व :-** जब पुरुष अनेक स्त्रीयों से विवाह करता है तो उसे बहु पत्नीत्व विवाह कहते हैं। इस विवाह का मुख्य कारण उच्छखल कामवासना की तृप्ती अथवा पुत्र प्राप्ति है।

❖ **बहु पतित्व विवाह :-** कोई स्त्री जब अनेक पुरुषों के साथ विवाह करती है तब उसे बहुपति विवाह कहते हैं।

आजादी के पश्चात भारतवर्ष में विधिक जागरूकता के अन्तर्गत इस प्रथा को रोकने का विधिक रूप में प्रयास किया गया भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 की उपधारा 5 के अन्तर्गत यह अपराध है इसी प्रकार से विवाह अधिनियम 1955 की धारा 5 के अन्तर्गत स्पष्ट विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि विवाह के समय पति को कोई अनन्य दूसरी पत्नी न हो एवं पत्नी का दूसरा अन्य कोई पति जीवित

न हो इसके पश्चात ही विवाह विधि मान्य होगा अन्यथा विवाह शून्य होगा। इस प्रकार विधि के द्वारा बहु विवाह की प्रचलन प्रथा में सुधार आया और सामाजिक परिवर्तन को विधि द्वारा अग्रसारित किया गया।

1.10— दास प्रथा का उन्मूलन

विश्व इतिहास अध्ययन से ज्ञात होता है कि दास प्रथा मिश्र, असीरिया, सुमेरिया, बैविलोनिया, भारत आदि देशों में प्राचीन काल में प्रचलित थी। यह प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जीवित रही है और अब कानूनी रूप से इसका सभी सभ्य देशों में औपचारिक बहिष्कार हो गया है भारत में अंग्रेजों के काल के समय भी कलकत्ता में दासों का (जिन्हें तब कोफरी) कहा जाता था खुले आम क्रय-विक्रय होता था। जब ब्रिटिश पार्लियामेंट में 1833 का इंडिया विल प्रस्तुत किया था तब उसमें 28वीं धारा के अन्तर्गत दास प्रथा के समाप्ति की व्यवस्था रखी गयी किन्तु उसके विरोध में बोलते हुए ड्यूक ऑफ बैलिंगरन ने कहा था निसंदेह भारत में दास प्रथा विद्यमान है तथापि मैं इस धारा को हटा देने की सीफारिश करूंगा। मैं जानता हूँ की भारतीय सेना के प्रत्येक मुसलमान सिपाही की झोपड़ी में दासी होती है जो सिपाही को कहीं भी भेजे जाने पर उसके साथ जाती है 1843 तक अंग्रेजों ने दास प्रथा को हटाने का प्रयास नहीं किया था, 11 फरवरी 1843 को लार्ड एलमबोरो ने सर्वप्रथम दासों के क्रय विक्रय के समाप्ति की घोषणा की थी तथा 1862 में भारतीय दण्ड विधान में इसे कानून के रूप में सम्मिलित किया साथ ही भारतीय संविधान के अनु0 23 एवं भारत में अधिनियम बन्धित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम 1976 पारित किया गया जिसके अन्तर्गत अध्याय 6 की धारा 16 से 23 तक अधिनियम के उल्लंघन पर दण्ड के प्रावधान से युक्त है जो कि कठोर कारावास 3 वर्ष तक का जुर्माना 2000/रु0 तक का देना होगा।

1.11— वेश्यावृत्ति में कानून

अनेक सामाजिक और धार्मिक रिति रिवाजों और परम्पराओं के फलस्वरूप भी हिन्दू समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित रही है, यथा महाराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर में, देवीदासी प्रथा, बंगाल में कुलीन प्रथा आदि, आधुनिक

काल में निर्धनता, फैशन, नगरीकरण, यौन स्वतन्त्रता यौन वैचिभ्य की इच्छा वर्ग संघर्ष पारिवारिक तनाव आदि के फलस्वरूप वेश्याकृति को बढ़ावा मिला है।

भारत में सर्वप्रथम 1718 में बम्बई और कलकत्ता में अंग्रेजों की सहायता से वेश्यावृत्ति को रोकने के लिए कानून बना किन्तु इससे वेश्यावृत्ति को पूर्ण रूप से नहीं रोका गया। आजादी के पश्चात भारत में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा शिक्षण संस्थाओं वेश्यावृत्ति के अधिकाधिक प्रचलन को रोकने के लिए सिनियर अधिवक्ता महाजन के नेतृत्व में एक कमेटी को बनाया गया जो कि वेश्यावृत्ति के कार्यों पर लगे बर्करो बच्चो के कारणों की समीक्षा करेंगे।

इस प्रकार से वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में गौरव जैन बनाम भारत संघ (1997) के वाद में उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति रामास्वामी ने कहा कि महिलाओं को देह व्यापार करने के लिए उनकी सामाजिक आर्थिक परिस्थिति जिम्मेदार है और इससे अधिक हमारा समाज उनको अपराधि की दृष्टि से देखता है किन्तु अपराध केवल देह का वाणिज्यिक दोहन है। प्रत्येक राज्य सरकार का दायित्व है कि निर्धनता बेरोजगारी, पारिवारिक जीवन के उत्थान के लिए कल्याणकारी योजनाओं को संचालित कर वेश्यावृत्ति में देह का वाणिज्यिक दोहन रोकने का प्रयास करें।

वेश्यावृत्ति के लिए विधि द्वारा कठोरतम उपाय व दाण्डिक प्रावधान रखा गया जिसके कारण काफी हद तक वेश्यावृत्ति की प्रथा को अपराध स्वरूप में समाज को दिखाई देने लगा और विधि द्वारा इस प्रथा का सामाजिक परिवर्तन कर निषेद्ध किया गया।

1.12- साक्ष्य के रूप में विडियो कान्फ्रेन्सिंग स्वीकार करना

अमिताभ बागची बनाम एना बागची A.I.R. 2005 कलकत्ता के इलेक्ट्रानिक साक्ष्य के सम्बन्ध में विडियो कान्फ्रेसिंग के माध्यम से इसे पेश करने की प्रार्थना की गई थी न्यायालय ने कहा कि विडियो कान्फ्रेसिंग के माध्यम से साक्षी की परिक्षा पर कोई रोक टोक नहीं थी। यह इलेक्ट्रानिक विधि का एक सहज हिस्सा था इसलिए सामान्य बचाव के साथ, प्रार्थना की अनुमति देदी गई यह मुकदमें के दौरान के समय भरण पोषण के दावे का एक मुकदमा था। पति स्थायी रूप से अमेरिका में रह रहा था इलेक्ट्रानिक माध्यम से अनुमति देदी गई।

साथ ही भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 3 के अन्तर्गत दो प्रकार के साक्ष्य बताये गये जिसमें पहला प्राथमिक साक्ष्य जैसे मौखिक साक्ष्य और दूसरा दस्तावेजी साक्ष्य जिसके अन्तर्गत इलेक्ट्रानिक माध्यम से दस्तावेज दिये जा सकते हैं।

1.12.1— इलेक्ट्रानिक रिकार्ड

यह परिभाषा सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 200 द्वारा संसोधित की गयी थी। इलेक्ट्रानिक रिकार्ड को सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 की धारा 2(1) के अनुसार परिभाषित किया गया और विडियो कान्फ्रेंसिंग को साक्ष्य के रूप में सम्मिलित किया गया, साथ ही सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 के अध्याय 12 क की धारा 79 क में इलेक्ट्रानिक साक्ष्य को परिक्षण करवाने सम्बन्धी नियमों को बनाने हेतु संसूचित करती है।

आपराधिक मामलों में तो इलेक्ट्रानिक रिकार्ड के माध्यम से ही अपराधी को दण्ड देना सुलभ प्रक्रिया हो गयी है। विडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से अपराधियों के आवागमन में सुरक्षा व्यवस्था से सम्बन्धित कार्य सामान्यतः हो गये हैं। सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम 2000 पारित होने से विधि के आधार पर सामाजिक जन चेतना का कार्य निरन्तर विधि के साथ परिवर्तित होता जा रहा है।

1.13— सामाजिक एवं जन हित वाद

साधारणतया वह व्यक्ति जिसके मौलिक अधिकारों अथवा अन्य अधिकारों का उल्लंघन होता है संविधान के अनु0 32 अथवा 226 जो भी इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए न्यायालय में जाने के लिए लागू होती है, के अधीन याचिका संस्थित कर सकते हैं।

1.13.1— सामाजिक हित वाद (Social Interest litigation)

प्रारम्भ में सुने जाने के अधिकार को उस दशा में शिथिल अथवा व्यापक बनाया जाता था जबकि सामाजिक कर्मकर्ता अथवा संगठन द्वारा उन व्यक्तियों या व्यक्तियों के समुह की ओर से इनके अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए आवेदन अथवा याचिका प्रस्तुत की जाती थी जो कि गरीब दबे कुचले अथवा सामाजिक और आर्थिक अलाभकर अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में होते थे और इस कारण अपने अधिकारों

को प्रवर्तित कराने में असमर्थ होते थे। इसी कारण आरम्भ में इसका नाम सामाजिक हितवाद था। इसका उद्देश्य सामाजिक न्याय दिलवाना अथवा सामाजिक अन्याय रोकना था।

1.13.2– जनहित वाद (Public Interest litigation)

जनहित वाद का शिघ्र ही विस्तार किया गया और इसे केवल उसी दशा में अनुज्ञात नहीं किया गया जबकि यह देव कुचले गरीब और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अलाभ कर अथवा प्रतिकूल स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए प्रस्तुत किया गया बल्कि इसे उस दशा में भी अनुज्ञात किया जाने लगा जबकि याचिका अथवा आवेदन जनहित अथवा सामान्य हित के संरक्षण के लिए प्रस्तुत किया गया है। इस विस्तार के पश्चात् इसे जनहित वाद नाम से पुकारा गया और यह सामाजिक हित वाद से अधिक लोकप्रिय हो गया।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ एवं एस0पी0 गुप्ता बनाम भारत संघ A.I.R. 1982 सु0 को0 एम0व सी0 मेहता V/s यूनियन ऑफ इण्डिया 1988 सु0 को0 जैसे जनहित वाद के कई उदाहरण सम्मिलित हैं।

1.14– सूचना का अधिकार (Right to Information)

सूचना का अधिकार मानवाधिकार का एक भाग माना गया है बिना इस अधिकार के बाद और अभिव्यक्ति की सूचना प्रभावकारी और सार्थक नहीं होगी जो कि हमें संविधान के मौलिक अधिकार अनु0 19(1)(6) के अन्तर्गत प्राप्त है परन्तु यह अधिकार लम्बे समय तक केवल अभिव्यक्ति तक से नहीं देखा गया। सरकार से कोई भी सूचना अधिकार स्वरूप नहीं मांगी जा सकती थी।

सर्वोच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनारायण 1975 के मामले में आम जनता की उक्त आकांक्षा को न्यायिक स्वीकृति भी प्रदान की। सर्वोच्च न्यायालय ने यह व्यवस्था दी कि इस देश में नागरिकों को जन सेवक द्वारा जनहित में किये गये कार्यों की जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है।

जैसे-जैसे जनचेतना का विकास होता गया उक्त अधिकार का स्वरूप और स्पष्ट होता गया। सर्वोच्च न्यायालय ने एक अन्य मामले में एस.पी.गुप्ता बनाम भारत सरकार 1982 में संविधान के अनुच्छेद 19(1)

(6)की व्याख्या करते हुए सूचना के अधिकार को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार में निहित पाया। माननीय न्यायालय ने व्यवस्था दी कि सरकार की कार्यप्रणाली के बारे में सूचना देना एक सामान्य नियम होना चाहिए एवं गोपनीयता मात्र अपवाद। अतः सूचना के अधिकार के महत्व एवं वैधता को न्यायिक स्वीकृति मिली। इसके साथ ही संसार की विभिन्न प्रजातान्त्रिक प्रणालियों द्वारा उक्त अधिकार को विधिवत अधिसूचित करने के उपरान्त राष्ट्रीय स्तर पर प्रबद्ध व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा इस मुद्दे को शक्तिशाली एवं प्रभावशाली ढंग से उठाया गया। विविध चेतना के माध्यम से जनप्रतिनिधियों को इसकी आवश्यकता एवं महत्व का आभास हुआ व अन्ततः अक्टूबर 2005 में सूचना के अधिकार अधिनियम का जन्म हुआ।

1.15— बाल श्रम को रोकने में विधि

पिछले पांच दशको से निरन्तर कल्याणकारी योजना के कार्यक्रम, विधि निर्माण और प्रशासनिक कार्य के उपरान्त भी भारत में अधिकांश बच्चे दुःख व संकट में रह रहे हैं। जिसके पिछे सीधे तौर पर निर्धनता ही सामने आती है। निर्धन परिवार के लाखों बच्चों को आर्थिक कारणों से बाध्य होकर श्रम बल (Labour force) में सम्मिलित होना पड़ता है। भारत को संसार के कार्यरत बच्चों की सबसे अधिक संख्या के होने की संदिग्ध प्रतिष्ठा प्राप्त है।

बालको को नियोजन और काम के घण्टों को नियन्त्रित करने के लिए पहला अधिनियम **फैक्ट्री एक्ट 1881** बना था इसके पश्चात् बाल नियोजन की निम्न आयु को निर्धारित करने के लिए 1929 में एक आयोग नियुक्त किया गया उसकी सिफारिश पर **चाइल्ड लेबर Act (Child Labour Act 1933)** पारित किया गया जिसने 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया तत्पश्चात् **फैक्ट्री अधिनियम 1948** ने बाल श्रमिकों के लिए कुछ सुरक्षाये प्रदान की 1986 में लोकसभा ने **Child Labour Act (Regulation and prohibition)** बनाया जिसके द्वारा कुछ विशेष नौकरियों में बाल नियुक्ति की योजना बनाई गयी और जोखिम रोजगारों में काम की शर्तों को नियन्त्रित किया गया। इसके अतिरिक्त बाल श्रम को रोकने के लिए अन्य अधिनियम जैसे **The plantation Act 1951 the merchant shipping act 1958 the motor transport laborers Act 1961** समय समय

पर बनाये गये इसके अधिकार में बाल श्रम (प्रतिषेध और विनियम) अधिनियम 1986 के अन्तर्गत बाल श्रम को रोकने के लिए अधिनियम के भाग 3 की धारा 6 से 13 तक बाल श्रम के नियोजन का समय अवकाश सुरक्षा आदि की व्यवस्था की गई है। भाग 4 की धारा 14 से 17 तक दण्ड एवं नियम बनाने का प्रावधान है साथ ही अधिनियम सम्पूर्ण भारत वर्ष में लागू होगा और बाल श्रम को रोकने के समुचित प्रयास करेगा।

1.16– विधि के अन्तर्गत बन्दि (कैदियों से सम्बन्धित कानून)

यह एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है जहां कानून के द्वारा अपराधियों की सजा में सामाजिक परिवर्तन कर दिया है। अपराध बहुत प्राचीन काल से समाज में व्याप्त है। अपराध विहित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। जिसके कारण अपराधियों से अपराध रोकने के लिए कड़ी से कड़ी यातनाएं दी जाती थी जिससे समाज भयभीत होकर भविष्य में इस प्रकार के अपराध नहीं करें किन्तु फिर भी अपराध अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ने लगा इसलिए यातना के स्थान पर सुधारात्मक दृष्टिकोण अपनाये जाने लगा और जिस जगह पर उन्हें रखा जाता है उसे कारागार जेल या बन्दी गृह कह जाता है।

न्यायमूर्ती कृष्णा लायर कहते हैं कि जेलों को कानून के पत्थर के साथ बनाया जाता है कैदियों को कई अधिकार हैं। आधुनिक युग में अपराधियों के प्रति नजरिया को बदला जा रहा है। आज यह माना जा रहा है कि अपराधी एक विशेष प्रकार का रोगी होता है। साथ ही यह माना जा रहा है, कि इस रोग को सुधारा जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय ने **mohd griasddin v/s state of A.P., AIR 1977 s.c.** का वाद महत्वपूर्ण है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि भारत हर दूसरे देश की तरह अपने स्वयं के अपराध व दण्ड के लिए जटिल दुविधा में है।

बन्दियों को भी सुधारात्मक दृष्टिकोण के मध्य नजर कुछ अधिकार मिलने चाहिए क्योंकि बन्दियों के अधिकार से ही सुधारात्मक वाक्यांश की पूर्ति हो सकती है। जिसके लिए आवश्यक है कि बन्दियों को बन्दिगृह में।

- पढ़ने लिखने के लिए अच्छे अच्छे लेखकों की पुस्तक मिलनी चाहिए ताकि बन्दीयों के अन्दर सुधारात्मक प्रवृत्ति का भाव व्याप्त हो।

- पैंरोल के उदार उपयोग होना चाहिए।
 - कैदियों के अलगाव।
 - उच्चतम न्यायालय प्रशासनिक संचालन के कार्यों के लिए योग्य कैदियों का साक्षात्कार किया जाना आवश्यक समझा और इस प्रकार प्रशासन को करने के लिए गया।
 - कैदियों को भी संवैधानिक उपचार एवं मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।
 - पांव में बेड़ी बाध कर परिक्षण पर कैदियों को ले जाना निषेध होना चाहिए।
 - साक्षात्कार का अधिकार।
 - जमानत पर रिहा हुए कैदियों के लिए इस प्रकार से पवित्र कार्यों के प्रदर्शन होना चाहिए जिससे उनके हृदय की मानसिक चेतना का विकास हो सके।
 - परिक्षण कैदियों की छक्क के तहत जमानत पर रिहाई होनी चाहिए।
- उपरोक्त अधिकार कैदियों को प्रदत्त होने चाहिए, जिससे की बन्दीयों को सुधारात्मक दृष्टिकोण अपनाने में किसी भी प्रकार का कष्ट उठाना न पड़े।

1.17– अभ्यास प्रश्न

1.– सत्य/असत्य बताइये

अ– मोहम्मद अहमद खॉ बनाम शाहबानो बेगम A.I.R.1985 S.C. का वाद बहु विवाह के सम्बन्ध में था।

ब– सती प्रथा का कानून 1829 में लाया गया था।

स– सूचना का अधिकार अधिनियम 2005, 2005 में संसद द्वारा लाया गया है।

द– चाइल्ड लेवर अधिनियम 1933 में बच्चों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध की उम्र 21 वर्ष से कम रखी गयी थी।

2– बहु विकल्पीय प्रश्न

अ– व्यक्तिगत हित में कितने हित सम्मिलित है–

क–चार

ख– सात

ग- पाँच

घ- दो

ब- वेश्यावृत्ति को रोकने के लिये भारत में सर्वप्रथम मुम्बई और कलकत्ता में कानून बना-

क- 1718

ख-1719

ग- 1720

घ- 1721

3-रिक्त स्थानों की पूर्ती करे-

अ- मुस्लिम महिला भरण- पोषण का अधिकार दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा..... के अन्तर्गत आता है

ब- बाल विवाह अधिनियम 2006, को लागू किया गया.....से।

स- बहु विवाह को भा0द0सं0 की धाराकी उपधारा..... में अपराध माना गया।

द- अमिताभ बागची बनाम एना बागची A.I.R.2005 कलकत्ता का वाद से सम्बन्धित है।

4- लघु उत्तरीय प्रश्न

अ- व्यक्तिगत हित क्या है समझाइये ?

ब- लार्ड विलियम बेंटिक द्वारा लाया गया कानून एवं राजाराम मोहन राय का आन्दोलन किससे सम्बन्धित था ?

स- जन हित वाद क्या हैं समझाइये ?

द- उच्चतम न्यायालय द्वारा बन्दियों के क्या-क्या अधिकार बताये गये हैं ?

1.18- सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप जान चुके हैं कि किस प्रकार से विधि के आधार पर सामाजिक परिवर्तन में विधि का भी अहम योगदान जैसे सती प्रथा है सती प्रथा को कोई कुरीतियां नहीं माना जाता था सति प्रथा का प्रचलन समाज के द्वारा ही हुआ था इसके अतिरिक्त बाल विवाह, दास प्रथा, बहु विवाह प्रथा, आदि जैसे मुख्य सामाजिक प्रचलन के अन्तर्गत प्रथायें भी जो कि समाज के द्वारा ही

स्वीकार्य थी किन्तु विधि की जागरूकता या विधि द्वारा समाज को भय कारित कर इन कुप्रथाओं का प्रचलन रोका गया जिससे समाज में परिवर्तन हुआ यहां तक कि साक्ष्य के अन्तर्गत विडियो कान्फ्रेन्सिंग को विधि द्वारा ही स्वीकार्य किया गया जबकि साक्ष्य अधिनियम के अन्तर्गत पहले यह विधि मान्य नहीं था फिर भी विधि के अनुरूप यह उल्लेखनीय परिवर्तन हैं साथ ही सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 आदि ऐसे कइ उदाहरण समाज में उपस्थित हैं जिसमें कि विधि के द्वारा समाज का परिवर्तन हुआ है।

1.19-अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

- 1- अ- असत्य, ब- सत्य, स- सत्य, द- असत्य।
- 2- अ- ग, ब- क।
- 3- अ- 125, ब- 10 जनवरी 2007, स- 494 व 5, द- विडियो कान्फ्रेन्सिंग साक्ष्य ।
- 4- अ-देखें - 1.4.1, ब- देखें-1.8, स- देखें-1.14.2, द-देखें-1.17।

1.20- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रो0 जी0पी0 त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा- सामाजिक समस्याय (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा0 अवतार सिंह-भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा0गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो0इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन

9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)—डा० शैफाली यादव
10. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा०अभय सिंह—सूचना का अधिकार अधिनियम2005, (2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा०आर०के०अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा० इकबाल सिंह—मुस्लिम विधि (2001)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.21—सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सी०पी० अरोरा—विविध अपराध अधिनियम (2010)— यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
2. डा० टी०पी० त्रीपाठी—सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)— इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
3. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—श्रमिक विधियां—(2005)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
4. डा० एस०के० कपूर— मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.22— निबन्धात्मक प्रश्न

- 1.—विधि के द्वारा सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ?उदाहरण सहित समझाइये ?
- 2.—विधि न तो ईश्वरेच्छाजन होती है और न तो सम्प्रभु का समादेश ही है जिसके पिदे अनुशास्ति होती है— रोस्को पाउण्डे। व्याख्या करें ?

एल-एल.एम. प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-1 विधि का सामाजिक परिवर्तन
इकाई-2 प्रथाओं एवं परम्पराओं के द्वारा विधि का निर्माण

इकाई की संरचना

- 2.1- प्रस्तावना
- 2.2-उद्देश्य
- 2.3-प्रथा एवं परम्परा विधि का स्थान कब ग्रहण करती है
- 2.4-प्रथा एवं परम्परा में अन्तर
- 2.5 प्रथा कि विधि मान्यता के लिये आवश्यक तत्व
- 2.5.1-अतिपुरातनता या प्राचीनता (**Antiquity**)
- 2.5.2-निरन्तरता (**Continuity**)
- 2.5.3-शान्तिपूर्ण उपयोग(**Peaceful enjoyment**)
- 2.5.4-निश्चितता(**Certainty**)
- 2.5.5-बाध्यकारी बल(**Obiligatory Force**)
- 2.5.6- पारस्परिक संगतता (**Mutual Consistency**)
- 2.5.7- युक्तियुक्तता
- 2.6.-प्रथागत विधि के लिए सैविगनी का मत
- 2.6.1. -सैविगनी की लोकचेतना का सिद्धान्त
- 2.7. -प्रथागत विधि के सम्बन्ध में आन्ट का मत
- 2.8. -प्रथा न्याय तथा समाज
- 2.9-कॉमन लॉ प्रणाली में प्रथा का स्थान
- 2.10-हिन्दू तथा मुस्लिम विधि में प्रथा का स्थान
- 2.11-विभिन्न प्रथाएं: विधि के निर्माण के रूप में
- 2.11.1 -बाल विवाह प्रथा के अन्तर्गत विधि का निर्माण
- 2.11.2- दास प्रथा के अन्तर्गत विधि का निर्माण
- 2.11.3-वेश्यावृत्ति प्रथा के अन्तर्गत विधि का उत्पाद
- 2.11.4- बाल अधिकारों के संरक्षण के लिए विधि का निर्माण
- 2.11.5- सति प्रथा का उन्मूलन : विधि का निर्माण

2.12–प्रथा को विधि के स्वरूप में स्वीकार करने का औचित्य

2.13– प्रथा कि वर्तमान सामाजिक स्थिति

2.14– सारांश

2.15– अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.16–सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.17–निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

विधि के स्रोतों का हम अध्ययन करें तो हमें मालुम पड़ता है। कि प्रथा और परम्पराओं के आधार पर भी विधि का निर्माण हुआ है जिस प्रकार बंजर पड़ी भूमि में प्रतिदिन के आवागमन से पगडण्डीनुमा पथ बन जाता है। ठीक उसी प्रकार से प्रथा व परम्पराओं से विधि का निर्माण होता है। प्रथा व परम्पराओं का प्रचलन जितना अधिक पुराना होता है उतनी ही विधि अधिक प्रभावी रूप धारण करती है समाज के आधार पर ही विधि का निर्माण होता है प्रथायें एवं परम्परायें अनौपचारिक विधि का स्वरूप है जिन्हें आज औपचारिक विधि के रूप में स्थान प्राप्त हुआ है जब हम प्रथाओं और परम्पराओं से उत्पन्न विधि के सोपानों पर विचार करते हैं तो एक अति महत्वपूर्ण तथ्य सामने आता है कि हर युग इसकी अवधारणा में परिवर्तित होता गया और दृष्टि से इसकी अपरिवर्तनशीलता पर ऊंगली उठने लगी। सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार प्रथाओं और परम्पराओं से उत्पन्न विधि के समान रूप से लागू किये जाने के पीछे यह प्रबल भावना काम करती थी। चूंकी इसका स्रोत समाज का प्रचलन है अतः यह प्रचलन ईश्वरीय है न बल्कि मानवीय है जिससे यह पवित्र एवं सर्वोपरी है। समय के साथ जैसे जैसे औपचारिक विधि अर्थात् विधायन, न्यायिक निर्णयों का महत्व बढ़ता गया जैसे-जैसे प्रथा व परम्परा रूपी विधि का ह्रास होता गया भले ही भारतीय समाज में सदैव से ही औपचारिक विधि के अतिरिक्त अलिखित अनौपचारिक विधि का अस्तित्व रहा हो किन्तु गलत अनौपचारिक विधि का औपचारिक विधि के ही द्वारा प्रतिशोध कर उसको समाप्त किया गया है जिसका इतिहास साक्षी है

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है कि आप विधि तथा प्रथा एवं परम्पराओं के सम्बन्धों को जान सकें। आप समझ सकें कि विधि का एक भाग प्रथाओं एवं परम्पराओं का उत्पाद है। साथ ही किस प्रकार से प्रथा और परम्पराओं से विधि का निर्माण हुआ वह कौन-कौन सी प्रथायें हैं एवं परम्परायें हैं जिसके लगातार प्रचलन से उसने विधि का स्वरूप प्राप्त किया है साथ ही संक्षेप में आप निम्नलिखित बिन्दुओं को आत्मसात कर सकें।

- ❖ प्रथा एवं परम्परा विधि का स्थान कब ग्रहण करती है
- ❖ प्रथागत विधि के लिए सैविगनी का मत
- ❖ विभिन्न विधिक पद्धतियों में प्रथा की स्थिति
- ❖ प्रथागत विधि के सम्बन्ध में आर्न्ट का मत
- ❖ प्रथा न्याय तथा समाज
- ❖ कामन लॉ प्रणाली में प्रथा का स्थान
- ❖ हिन्दू तथा मुस्लिम विधि में प्रथा का स्थान
- ❖ विभिन्न प्रथाएं: विधि के निर्माण के रूप में
- ❖ प्रथा की वर्तमान सामाजिक स्थिति
- ❖ प्रथा को विधि के स्वरूप में स्वीकार करने का औचित्य

2.3 प्रथा एवं परम्परा विधि का स्थान कब ग्रहण करती है

इस बात को लेकर सहमति दिखाई पड़ती है कि प्रथा विधि का स्वरूप ग्रहण करती है लेकिन न्यायाविदों और लेखकों में सहमति के आधार को लेकर मतैक्य नहीं है। प्रथा एवं परम्परा विधि का स्थान कब ग्रहण करती है इससे पहले प्रथा व परम्परा के अन्तर को समझाना आवश्यक होता है।

2.4. प्रथा एवं परम्परा में अन्तर

सधारणतया प्रथा व परम्पराओं को एक ही माना जाता है परन्तु वास्तव में यह दोनों आपस में काफी भिन्नता रखते हैं। प्रथाओं का निर्माण समाज के किसी समुह के व्यवहार से उत्पन्न होत है और समाज कि

स्वीकृति के बाद इसका निर्माण होता है। परम्पराओं का सृजन जब समाज के किसी समुह द्वारा स्वीकृत तरीकों का प्रचलन पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है तब परम्पराओं का सृजन होता है, परम्पराओं के सृजन के पश्चात उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त होने के बाद वह प्रथा का रूप धारण करती है।

2.5. प्रथा की विधि मान्यता के लिए आवश्यक तत्व

प्रथा को विधि का स्वरूप प्राप्त होने के लिए निम्नलिखित आवश्यक तत्व प्रथा में होने आवश्यक है।

2.5.1—अतिपुरातनता या प्राचीनता (Antiquity)

प्रथा को प्राचीन होना चाहिए वह भी कितनी प्राचीन, स्मरणातीत होनी चाहिए या नहीं यह विवादास्पद प्रश्न है। इसको लेकर मतमतान्तर है। **प्रो० एलेन के अनुसार** किसी व्यवहार आदत या फैशन का बहुत दिनों चलन अपने आप में उसे बाध्यकारी नहीं बना देता। किन्तु प्रश्न यह है कि प्राचीनता या अतिपुरातनता की क्या सीमा है क्या कोई सीमा निर्धारित है ? कितनी अवधि के प्रचलन को पुरातनता का द्योतक माना जाय। इंग्लैण्ड में मनमाने तौर पर सीमा वर्ष 1189 A. D. मान लिया गया है। उसी वर्ष रिचार्ड प्रथम गद्दी पर बैठे थे। इस आशय का साक्ष्य देने पर कि प्रश्नगत प्रथा 1189 A.D. से या उसके पहले से ही प्रचलन में चलती आ रही है तो उसे निश्चित रूप से प्राचीन माना जायेगा। किन्तु भारत में यह मतैक्य नहीं है। कात्यायन और व्यास 60 वर्ष का समय ही इसके लिए पर्याप्त मानते हैं। आधिपत्य के लिए 100 वर्ष से प्रचलित प्रथा को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

2.5.2—निरन्तरता (Continuity)

प्रथा के प्रचलन तथा पालन में विध्वंसरहित निरन्तरता के तत्व का विद्यमान रहना अति आवश्यक है। अल्पकालीन व्यवधान तो नजर अन्दाज किया जा सकता है लेकिन दीर्घकालीन घातक माना जायेगा क्योंकि इसके नाते प्रथा अपनी प्रभावकारिता खो देगी। ब्लैक स्टोन अधिकार के प्रयोग तथा कब्जे के प्रयोग के व्यवधान में अन्तर मानते हैं। पहले मामले में एक दिन का व्यवधान घातक होगा और प्रथा को समाप्त कर देगा। प्रथा को विधि का स्वरूप ग्रहण करने के लिए प्रथा में निरन्तरता आवश्यक है।

2.5.3—शान्तिपूर्ण उपयोग (Peaceful enjoyment)

यह भी एक आवश्यक तत्व है कि प्रथा का पालन अनन्तकाल से शान्तिपूर्ण ढंग से होता रहना चाहिए। किसी प्रथा के लम्बे समय तक विवादित रहने की स्थिति में यह धारणा बलवती होगी कि ऐसी प्रथा के लिए आवश्यक आम सहमति नहीं है। शान्तिपूर्ण उपयोग में एलेन का कथन है कि वह प्रथा हो ही नहीं सकती जिसका शान्तिपूर्ण उपयोग न हो इसी प्रकार ब्लैक स्टोन कहते हैं कि सामान्य सहमति की कमी अथवा उसका लम्बी अवधि तक विवादित रहना, प्रथा को समाप्त करने का आधार होगा अतः प्रथा का शान्तिपूर्ण उपयोग होना आवश्यक है।

2.5.4—निश्चितता (Certainty)

प्रथा में निश्चितता का होना आवश्यक है। तभी वह विधि का स्वरूप ग्रहण करेगी क्योंकि जो स्वयं अनिश्चित है उसे व्यवहार में उतारना कठिन होगा। **बाडवेन्ट बनाम विलिक्स (1982)** में मुख्य न्यायाधीश विलेस का सम्प्रेक्षण प्रासंगिक है प्रथा को निश्चित रहना चाहिए क्योंकि उसके निश्चित न रहने पर इसे स्मरणातीत सिद्ध करना कठिन होगा। किसी चीज को दिमाग से कैसे कहा जा सकता है जब तक वह स्वयं निश्चित नहीं है। प्रथा का निश्चित न होना प्राचीनता को समाप्त कर देता है जिससे वह विधि का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती है। अतः प्रथा को निश्चित होना आवश्यक है।

2.5.5—बाध्यकारी बल (Obligatory Force)

प्रथा को इतना सुदृढ़ तथा सुनिश्चित होना चाहिए कि सर्वसाधारण उसके पालन के लिए बाध्य है। पालन या अपालन उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिए। विधि के समान उसका बाध्यकारी स्वरूप एवं बल होना आवश्यक है। नियम की भांति उसका प्रयोग अधिकार के बतौर होना चाहिए। एलेन ने उदाहरण देकर इसे समझाने का प्रयास किया है कि जैसे न्यायालय में अधिवक्ता के बिग और गाउन पहनना बाध्यकारी है, और ऐसी निर्धारित पोशाक न पहने पर न्यायालय उसकी बात को अनसुनी कर देगा और वह अपने पेशे से निषिद्ध हो जायेगा। और गर्मी के बहाने इससे मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। आदत

एवं प्रथा भिन्न- भिन्न है एक नहीं। प्रथा का अनुपालन स्वैच्छिक नहीं अपितु बाध्यकारी होना चाहिए जिससे उसे विधि का स्वरूप प्राप्त हो जाय।

2.5.6—पारस्परिक संगतता (Mutual Consistency)

प्रथाओं को जो प्राचीन और मान्य है उन्हें आपस में मेल खाना चाहिए क्योंकि वह सामान्य उपज होती है। उनमें से किसी एक को बेकार कहना कठिन होगा क्योंकि परस्पर दो विरोधी रूढ़ियां हो ही नहीं सकती। यदि ऐसा है तो एक को अच्छा नहीं माना जायेगा। पारस्परिक संगतता आवश्यक है।

2.5.7—संविधियों से संगतता (Conformity with the Statutes)

किसी भी प्रथा को संविधान अथवा अधिनियम के किसी प्रावधान के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। अधिनियम प्रथा को समाप्त कर सकते हैं लेकिन विलोम सत्य नहीं है अर्थात् प्रथा विधि को समाप्त नहीं कर सकती। प्रथा को संविधियों से संगतता में होना चाहिए। भारत और इंग्लैण्ड में ऐसी ही अवधारणा है लेकिन रोमन विधि तथा उस पर आधारित अन्य पद्धतियों में प्रथा को सर्वोच्च माना जाता है। वहां “*Lex posterior derogate priori a later law derogates fro man earlier one.*”

2.5.8—युक्तियुक्तता

ऐसी ही प्रथायें मान्य और प्रवर्तनीय होगी जो युक्तियुक्त हो तर्क संगत एवं लाभकारी हो। प्रश्न यह है कि युक्तियुक्तता की कसौटी क्या है साम्या प्राकृतिक न्याय शुद्ध अन्तः करण लोकहित जैसे तत्वों पर आधारित प्रथा को ही हम युक्तियुक्त कहेंगे। समाज प्रथा को किस दृष्टि से देखता और आंकलन करता है, वह कहां तक उनके हितों का संरक्षण पारस्परिक सौहार्द्र सामंजस्य स्थापित करने में प्रभावी है, यह बात युक्तियुक्ता के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है।

न्यायाधिश ब्रेट के अनुसार :- प्रथा को युक्तियुक्त तब माना जायेगा जब वह सही या गलत के मूल सिद्धान्तों के अनुकूल है। प्रथा को विवके से असंगत या उसके विपरित नहीं होना चाहिए।

2.6—प्रथागत विधि के लिए सैविग्नी का मत

फ्रेडरिक कार्ल वान सैविग्नि ने विधि के संबन्ध में अपना मत व्यक्त किया कि प्रथाओं की उत्पत्ती समाज की अन्तः चेतना से होती है। दूसरे शब्दों में प्रथा की उत्पत्ती आवश्यक रूप से प्राकृतिक प्रभावों से होती है जिनका सम्बन्ध एक विशिष्ट वर्ग की चेतना से होता है। वस्तुतः प्रथायें राष्ट्रीय चेतना से होता जिसमें (सत्य न्याय और लौकिक उपयोगिता के गुण सम्मिलित हैं) का प्रतीक है। परन्तु ऐसा हमेशा नहीं होता अनेक प्रथाएँ जन इच्छा के विरुद्ध उन पर थोपी जाती हैं जैसे दास प्रथा जिसे बहुमत नहीं चाहता को अल्पतम थोपता है। सैविग्नि के अनुसार प्रत्येक समुदाय में निश्चित परिपाटि और रूढ़ि का विकास होता है। जिसके अनवरत आचरण से विधिक नियम बन जाते हैं। प्रारम्भिक चरणों में ही विधि लोगों की भाषा तौर तरिको और सामाजिक संरचना के अनुकूल अपना स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

2.6.1—सैविग्नि की लोक चेतना

लोक चेतना से सैविग्नि का अभिप्राय विधि से है। विधि अचेतन एवं सहज विकास का विषय है इसका विकास रूढ़िगत विधि के समान, समाज राष्ट्र के विकास के साथ होता रहता है। प्राचीन काल से लोगों की भाषा चाल ढाल रिति रिवाज तथा संविधान के अनुरूप विधि का कोई न कोई रूप अवश्य रहा है जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि विधि सतृप्त प्रगतिशील है। उसमें स्थायित्व नहीं आ सकता उसका विकासोन्मुख प्रवाह रुक नहीं सकता अर्थात् विधि राष्ट्र के साथ सृजित होती है। इसके साथ विकसित होती है और उसके लोप के साथ वह मर जाती है और यही इसके विशेषता है।

Volk का अभिप्राय लोग People से है इसलिए Volks geist को लोक विधि कहा जाता है। लोक एवं समय के साथ परिवर्तित होने वाली विधि सदैव लोक चेतना के अनुरूप होनी चाहिए। यह किसी समुदाय या देश विदेश के लोगों की आन्तरिक आवश्यकताओं एवं भावनाओं, प्रथा, सहज प्रवृत्ति, विवेक अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति है। Volk Gesit विधि प्रत्यय का मार्ग दर्शक है। विधि में तारतम्य बना रहता है। जिसका सम्बन्ध भूत भविष्य वर्तमान तीनों से होता है यह लोगों को एक सूत्र में बाधे रखने का काम करती है। लोक चेतना एक मानदण्ड है इसलिए विधि सदैव लोक चेतना के अनुरूप होनी चाहिए। विधि निर्माताओं को जनप्रिय चेतना का आदर करना चाहिए और उसी रूप लोक कल्याण के लिए विधायन बनाना चाहिए।

2.7—प्रथागत विधि के सम्बन्ध में आर्न्ट का मत

आर्न्ट प्रथा को महत्वपूर्ण बताते हुए कहते हैं कि प्रथागत विधि की वैधता स्वयं अपने में ही होती है। यह अपनी प्रकृति के नाते विधि है न कि अनुशास्ति के नाते लोगों के लिए उनकी अपनी प्रथागत विधि सर्वोत्कृष्ट होती है। इसका कारण यह है कि इसकी उत्पत्ति उनकी आवश्यकताओं एवं न्याय की चेतना परिणामस्वरूप होती है और उसके विकास के साथ आगे बढ़ती रहती है। अतः प्रथा विधायन और पूर्व निर्णय दोनों से श्रेष्ठ है। न केवल सार Substance की दृष्टि से बल्कि अपनी उत्पत्ति की दृष्टि से भी है। आर्न्ट ने अन्य निर्मित विधि से प्रथा को श्रेष्ठ विधि इसलिए माना है कि प्रथा में प्राचीनता निरन्तरता युक्तियुक्ता आदि न्यायिक गुण स्वतः ही उत्पन्न होते हैं जिससे प्रथागत विधि अपना श्रेष्ठतम स्थान ग्रहण करती है।

2.8—प्रथा न्याय तथा समाज

न्यायालय कानून से बद्ध होते हैं उनका प्रवर्तन तथा व्याख्या करते हैं। प्रथा को जहां सिद्ध करना पड़ता है कानून वहाँ अपने आप स्वयं सिद्ध होता है कानून और प्रथा दोनों मानव निर्मित होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि कानून या विधायन संसद या विधानमण्डल बनाते हैं जबकि प्रथा का निर्माण सामाजिक जनों के निरन्तर चलन में किये जा रहे व्यवहार और पारस्परिक सहयोग तथा स्वीकार्यता से होता है। विधि प्राचीन अथवा अर्वाचीन या अत्यन्त ही कम अवधि की भी हो सकती है लेकिन प्रथा के लिए यह आवश्यक है कि वह प्राचीन तो हो ही स्मरणीय भी हो। समाज का प्रथा और विधि दोनों से ही अपने अपने ढंग से न्याय मिलता है। न्यायालय भी समाज में मान्य, प्रचलित प्रथा को ध्यान में रखकर न्याय प्रदान करते हैं निर्णय विधि इसके प्रमाणों से भरी पड़ी है प्रथा न्याय और समाज का चोली दामन का साथ है। प्रथा और न्याय का उद्भव समाज में और समाज से ही होता है और दोनों ही समाज का नियन्त्रण करती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरातन काल में राज्य और कानून के न रहने पर प्रथाएं ही सामाजिक काल नियन्त्रण का काम करती थीं विधि के समान उनमें बल था। उसके नाते समाज में गतिशीलता कायम थी। समाज उससे आवद्ध था। कई प्रथाओं ने विधायन का स्थान लिया। इंग्लैण्ड का सारा का सारा कामन लॉ प्रथा पर ही आधारित है प्रथा के अनुसार चलना सुगम होता है इसके विपरित चलने वाले

को सामाजिक दण्ड देने के कई उदाहरण हैं। साम्यपत्तिक तथा वैयक्तिक सम्बन्धों को प्रथाओं ही नियमित करती चली आ रही है। ब्लैक स्टोन तो प्रथा को कानून के ही समान मानते हैं अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार प्रथाएं ही हैं। मुनरोस्मिथ ने समाज न्याय तथा प्रथा के अटूट सम्बन्धों की ओर संकेत किया है।

2.9—कामन लॉ प्रणाली में प्रथा का स्थान

इंग्लैण्ड के कामन लॉ का आधार रुढ़िजन्य विधि ही मानी जाती है। ब्लैकस्टोन सामान्य एवं विशिष्ट रुढ़ियों तथा विशिष्ट विधि को कॉमन लॉ का आधार मानते हैं क्योंकि वह अलिखित है। लार्ड कोक के अनुसार रुढ़ि इंग्लैण्ड की विधियों की त्रिकोण में एक मुख्य कोण है। सेन्टजमैन ने अपनी पुस्तक डॉक्टर एण्ड स्टमडेण्ट में कामन लॉ के रुढ़ि पर आधारित होने की बात की दलील इस प्रकार पेश की है चुंकि कथित रुढ़ियां न तो ईश्वरीय विधि के विपरित हो सकती हैं और न ही युक्ति के विधि के विपरित और कामन वेल्थ के सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए सदैव अच्छी और आवश्यक मानी गई हैं, इसलिए उन्हें, यहां तक कि विधि का बल प्राप्त है कि जो उनके विरुद्ध कार्य करता है वह न्याय के विरुद्ध कार्य करता है और ये ही वे रुढ़ियां हैं जिन्हें उचित रूप में कामन लॉ कहा जा सकता है। रुढ़ि को कामन लॉ से अलग करना असम्भव है। वहां की संसदीय प्रणाली का आधार ही प्रथा है।

2.10—हिन्दु तथा मुस्लिम विधि में प्रथा का स्थान

हिन्दु विधि में वेदों, पुराणों, मनुस्मृति आदि में प्रथा को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है यहां तक कि विधि के विरुद्ध होने पर भी उन्हें मान्य किया गया है। विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में जातिगत प्रथा को स्वीकार किया गया है मनु प्रथा को सर्वोच्च विधि मानते हैं गौतम, वशिष्ठ इस विचार से सहमति प्रकट करते हैं। नारद ने तो रुढ़ि को विधि की अपेक्षा बहुत ऊँचा स्थान दिया है और वे इस बात के हिमायती हैं कि बलवती प्रथा तो पवित्र विधि को निराकृत कर देती है आज के दिन में भी कुछ मामलों में निर्णय देते समय न्यायालय प्रथाओं का हवाला देते हैं और उन्हीं के आलोक में निर्णय देना तर्क संगत तथा न्यायहित में मानते हैं। मुस्लिम विधि में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि रिवाज या प्रथा जिसे ऊर्फ कहा गया है कुरान सुत्रों से असंगत नहीं होना चाहिए क्योंकि उसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है। प्रथा के माने जाने

के लिए दो तत्व होना आवश्यक है एक तो प्रथा प्रचलन में हो, दूसरा किसी क्षेत्र विशेष में उसे मान्यता प्राप्त हो। हेदाया का मानना है कि जब कोई सुव्यक्त सूत्र नहीं उपलब्ध है, तभी रिवाज को व्यवहार्य माना जाएगा वह भी इज्मा के समान ही प्रथा को मुस्लिम विधि के विकास का आधार माना गया है किन्तु कुरान, सुन्नत, इज्मा और कयास की तुलना में उसका स्थान गौण है। अबदुर्हीम मुस्लिम विधि के विकास में प्रथा के योगदान को स्वीकार करते हैं।

2.11—विभिन्न प्रथाएं :- विधि के निर्माण के रूप में

रोमन विधि उल्लेखनीय है कि रोम में मान्य प्रचलित प्रथाओं की समाप्ति टवेल्व टेबुल्स अधिनियम के पारित हो जाने से हो गई। रोम में न्यायालयों पर प्रथाजन्य विधि ही बाध्यकारी होती है जब लिखित विधि उपलब्ध नहीं होती। वर्तमान रोमन विधि में अधिनियमित विधि के बल के समाप्त हो जाने के बाद रोमन विधि रूढ़िजन्य विधि बन गई महाद्विपीय यूरोप में रूढ़िजन्य विधि का बहुत कम महत्व रह गया है।

2.11.1—बाल विवाह प्रथा के अन्तर्गत विधि का निर्माण

बाल विवाह की प्रथा ने स्त्रियों की स्थिति को और दयनीय बना दिया था। इस प्रथा को प्रचलित करने में विभिन्न सामाजिक बातों का योग था वहां के मौसम का जिस प्रकार का प्रभाव पड़ता है उसी के अनुसार सामाजिक प्रणालियों का नियमन हुआ। गरम मौसम वाले इलाकों में शारीरिक विकास जल्दी होता है और समाज अपना नैतिक स्तर बनाये रखने के कारण लड़कियों के कौमार्य पर विशेष महत्व देता था। विवाह योग्य आयु की होने से पहले ही उनका विवाह करके लोग इस बात से निश्चिन्त हो जाते थे कि समाज की नैतिक शुद्धता बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त कुछ आर्थिक कारण भी थे गरीब लोगों के लिए लड़की अपने माता पिता पर बोझ होती थी। जबकि अपने पति के परिवार के लिए वह उपयोगी थी क्योंकि वहां उसे रसोईघर संभालना पड़ता था। बाल विवाह को प्रोत्साहन देने के लिए हिन्दू संयुक्त परिवार प्रणाली भी कम जिम्मेदार नहीं है। दादा दादी नाना नानी या बड़े बुढ़ों की यही इच्छा रहती थी। कि वे अपने नाती पोतों को विवाहित देखें मध्ययुग के दौरान बाल विवाह प्रथा खूब प्रचलित थी। हिन्दू मुसलमान दोनों ही उसका पालन करते थे बहुत ही छोटी आयु में मां बन जाना पीले जर्द और कमजोर बच्चों से घिरे रहना

ऐसी बाल विवाह से कई और बुराईयों ऊपजी आर्थिक तंगी से माता पिता अपनी लड़कियों को धनी लोगों के हाथों दुल्हन के रूप में बेची जाती थी।

बाल विवाह से सबसे ऊपजने वाली समस्या थी बाल विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या इन छोटी-2 विधवा लड़कियों के पास जिन्दा रहने के लिए कोई आर्थिक साधन नहीं थे। निकटतम सम्बन्धि से प्रेम व प्यार नहीं मिलता था वे लोग इन्हें दायित्व दृष्टि से देखते थे तथा सामाजिक कलंक और अंधविश्वास की भावनाओं के वातावरण में वे बेचारी जैसे-तैसे अपना जीवन बिताती थी। समाज के उच्च वर्गों की कुछ बाल विधवायें इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए सती आत्मदाह की प्रथा का आश्रय लेती थी। लेकिन समाज के सभी वर्गों और जातियों की अधिकांश विधवाओं का जीवन पीड़ा और व्यथा की एक लम्बी कहानी मात्र थी। बाल विवाह को रोकने के लिए **The child marriage act 1929** लागू किया गया जिसमें लड़के की उम्र 21 वर्ष एवं लड़की की उम्र 18 वर्ष नियत की गयी थी किन्तु फिर भी बाल विवाह को पूर्ण रूप से रोक नहीं पाया इसके बाद वर्तमान समय में बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम 2006 संसद द्वारा पारित किया गया जिसे 10 जनवरी 2007 से लागू किया गया अधिनियम में दण्ड का प्रावधान कठोर होगा जिसमें दो वर्ष तक का कारावास अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत दिया जायेगा। जुर्माना जो कि एक लाख रु0 तक का हो सकती है प्रावधनित है साथ ही दण्ड को स्थितिनुसार पृथक पृथक रूप में रखा गया है। साथ ही बाल विवाह अवरोध अधिनियम 1929 को धारा 21 के अन्तर्गत निरसन किया गया एवं धारा 20 के अन्तर्गत हिन्दु विवाह अधिनियम 1955 में धारा 18 में खण्ड क को संसोधित कर दण्ड की प्रावधान रखा गया।

2.11.2—दास प्रथा के अन्तर्गत विधि का स्वरूप

विश्व इतिहास अध्ययन से ज्ञात होता है कि दास प्रथा मिश्र, असीरिया, सुमेरिया, बैविलोनिया, भारत आदि देशों में प्राचीन काल में प्रचलित थी। यह प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जीवित रही है और अब कानूनी रूप से इसका सभी सभ्य देशों में औपचारिक बहिष्कार हो गया है अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका अरब इंग्लैण्ड भारत आदि देशों में यह प्रथा पिछले बीस पच्चीस वर्षों तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। अमेरिका के गोरे व्यक्तियों की समृद्धि के पीछे अफ्रीका से आयात किये गये लाखों नीग्रों दासों की

भयंकर वेदना व कठोर परिश्रम रहा है। राष्ट्रपति एब्राहम लिंकन ने वहां दास प्रथा की समाप्ति की भारत में अंग्रेजों के काल के समय भी कलकत्ता में दासों का (जिन्हें तब कोफरी) कहा जाता था खुले आम क्रय-विक्रय होता था। जब ब्रिटिश पार्लियामेंट में 1833 का इंडिया विल प्रस्तुत किया था तब उसमें 28वीं धारा के अन्तर्गत दास प्रथा के समाप्ति की व्यवस्था रखी गयी किन्तु उसके विरोध में बोलते हुए ड्यूक ऑफ बैलिंगरन ने कहा था निसंदेह भारत में दास प्रथा विद्यमान है तथापि मैं इस धारा को हटा देने की सीफारिश करूंगा। मैं जानता हूँ की भारतीय सेना के प्रत्येक मुसलमान सिपाही की झोपड़ी में दासी होती है जो सिपाही को कहीं भी भेजे जाने पर उसके साथ जाती है 1843 तक अंग्रेजों ने दास प्रथा को हटाने का प्रयास नहीं किया था, 11 फरवरी 1843 को लार्ड एलमबोरो ने सर्वप्रथम दासों के क्रय विक्रय के समाप्ति की घोषणा की थी तथा 1862 में भारतीय दण्ड विधान में इसे कानून के रूप में सम्मिलित किया साथ ही भारतीय संविधान के अनु0 23 एवं भारत में अधिनियम बन्धित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम 1976 पारित किया गया जिसके अन्तर्गत अध्याय 6 की धारा 16 से 23 तक अधिनियम के उल्लंघन पर दण्ड के प्रावधान से युक्त है जो कि कठोर कारावास 3 वर्ष तक का जुर्माना 2000/रु0 तक का देना होगा

2.11.3- वेश्यावृत्ति प्रथा के अन्तर्गत विधि का उत्पाद

अनेक सामाजिक और धार्मिक रिति रिवाजों और परम्पराओं के फलस्वरूप भी हिन्दू समाज में वेश्याकृति प्रचलित रही है, यथा महाराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर में, देवीदासी प्रथा, बंगाल में कुलीन प्रथा आदि, आधुनिक काल में निर्धनता, फ़ैशन, नगरीकरण, यौन स्वतन्त्रता यौन वैचिभ्य की इच्छा वर्ग संघर्ष पारिवारिक तनाव आदि के फलस्वरूप वेश्याकृति को बढ़ावा मिला है।

भारत में सर्वप्रथम 1718 में बम्बई और कलकत्ता में अंग्रेजों की सहायता से वेश्यावृत्ति को रोकने के लिए कानून बना किन्तु इससे वेश्यावृत्ति को पूर्ण रूप से नहीं रोका गया। आजादी के पश्चात भारत में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा शिक्षण संस्थाओं वेश्यावृत्ति के अधिकाधिक प्रचलन को रोकने के लिए सिनियर अधिवक्ता महाजन के नेतृत्व में एक कमेटी को बनाया गया जो कि वेश्यावृत्ति के कार्यों पर लगे बर्करो बच्चो के कारणों की समिक्षा करेंगे।

इस प्रकार से वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में गौरव जैन बनाम भारत संघ (1997) के उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ती रामास्वामी ने कहा कि महिलाओं को देह व्यापार करने के लिए उनकी सामाजिक आर्थिक परिस्थिति जिम्मेदार है और इससे अधिक हमारा समाज उनको अपराधि की दृष्टि से देखता है किन्तु अपराध केवल देह का वाणिज्यिक दोहन है। प्रत्येक राज्य सरकार का दायित्व है कि निर्धनता बेरोजगारी, पारिवारिक जीवन के उत्थान के लिए कल्याणकारी योजनाओं को संचालित कर वेश्यावृत्ति में देह का वाणिज्यिक दोहन रोकने का प्रयास करें।

वेश्यावृत्ति के लिए विधि द्वारा कठोरतम उपाय व दण्डिक प्रावधान रखा गया जिसके कारण काफी हद तक वेश्यावृत्ति की प्रथा को अपराध स्वरूप में समाज को दिखाई देने लगा और विधि द्वारा इस प्रथा का सामाजिक परिवर्तन कर निषेद्ध किया गया।

2.11.4— बाल अधिकारों के संरक्षण के लिए विधि का निर्माण

बालको को नियोजन और काम के घण्टों को नियन्त्रित करने के लिए पहला अधिनियम **फैक्ट्री एक्ट 1881** बना था इसके पश्चात् बाल नियोजन की निम्न आयु को निर्धारित करने के लिए 1929 में एक आयोग नियुक्त किया गया उसकी सिफारिश पर **चाइल्ड लेबर Act (Child Labour Act 1933)** पारित किया गया जिसने 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया तत्पश्चात् **फैक्ट्री अधिनियम 1948** ने बाल श्रमिकों के लिए कुछ सुरक्षायें प्रदान की 1986 में लोकसभा ने **Child Labour Act (Regulation and prohibition)** बनाया जिसके द्वारा कुछ विशेष नौकरियों में बाल नियुक्ति की योजना बनाई गयी और जोखिम रोजगारों में काम की शर्तों को नियन्त्रित किया गया। इसके अतिरिक्त बाल श्रम को रोकने के लिए अन्य अधिनियम जैसे **The plantation Act 1951 the merchant shipping act 1958 the motor transport laborers Act 1961** समय समय पर बनाये गये इसके अधिकार में बाल श्रम (प्रतिषेध और विनियम) अधिनियम 1986 के अन्तर्गत बाल श्रम को रोकने के लिए अधिनियम के भाग 3 की धारा 6 से 13 तक बाल श्रम के नियोजन का समय अवकाश सुरक्षा आदि की व्यवस्था की गई है। भाग 4 की धारा 14 से 17 तक दण्ड एवं नियम बनाने का प्रावधान है साथ ही अधिनियम सम्पूर्ण भारत वर्ष में लागू होगा और बाल श्रम को रोकने के समुचित प्रयास करेगा।

2.11.5— सति प्रथा का उन्मूलन : विधि का निर्माण

सति प्रथा का प्रारम्भ भगवान शंकर की पत्नी एवं हिमालय राज की पुत्री पार्वती के यज्ञशाला में सति हो जाने के बाद जहां पति अपमान होने के पश्चात एवं पति के प्रति प्रेम का भाव प्रदर्शित करने से जन समुदाय ने अपने प्रचलन में लाया जो कि अनैतिक थी जिसका कि अन्त 1829 में लार्ड विलियम बेंटिक के विधि के सृजन से समाप्त हो गया। मुगलकाल में हिन्दू समाज की उच्च वर्ग की स्त्रीयों में सती प्रथा का प्रचलन बहुतायात से प्रचलित था इस प्रथा का विशेष रूप से प्रचलन राजस्थान में था इन्बतूता ने अपने विवरण में सति प्रथा का विस्तृत उल्लेख किया है ऐसा इसलिए होता था क्योंकि समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय थी।

डेला वेल के अनुसार विधवाएँ पुनः विवाह नहीं कर सकती थी उन्हें अपने केशों को काटना पड़ता था और अपना समस्त जीवन दास की भांती व्यतीत करना था। इस नारकीय स्थिति को बिताने से वह सती हो जाना अधिक पसन्द करती थी। अकबर ने सबसे पहले सति प्रथा को रोकने के भरसक प्रयास किये किन्तु वह सफल नहीं हुआ।

इसके पश्चात सति प्रथा को रोकने के लिए बार-बार आन्दोलन प्रयास होते गये किन्तु सति प्रथा के अन्त पर पूर्ण विराम नहीं लग पाया बदलते काल खण्ड के बीच राजा राम मोहन राय ने स्त्रीयों की दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया और उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा। सति प्रथा अत्यन्त ही भयावह एवं अमानुषिक सामाजिक प्रथा थी उन्होनें सति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया जिसके परिणाम स्वरूप 1829 ई० में लार्ड विलियम बेंटिक द्वारा लाये गये कानून से सामाजिक बुराई का अन्त हो गया जिससे विधिक आधार पर समाज में एक नया परिवर्तन उत्पन्न हुआ।

2.12—प्रथा को विधि के स्वरूप में स्वीकार करने का औचित्य

प्रथा को विधि के रूप में स्वीकार किये जाने के सामण्ड ने अनेक कारण बताए हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. प्रथा को विधि के रूप में स्वीकार किये जाने का एक प्रमुख औचित्य अथवा कारण यह है कि प्रथा में उन सिद्धान्तों का समावेश रहता है, जो न्याय संगत लोकोपयोगी तथा राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल होते हैं।

किसी नियम में शास्ति का होना इस बात का प्रतीक है कि वह नियम विधि द्वारा मान्य किये जाने के योग्य है।

2. प्रथा को विधि के रूप में स्वीकार किये जाने का औचित्य इसलिए भी है कि समाज के लिये प्रथा का वही महत्व है जो राज्य के लिए विधि का है दोनों ही औचित्य न्याय के सिद्धान्तों को प्रतिस्थापित करते हैं यद्यपि प्रथा का विधि सिद्धान्त राज्य की सम्प्रभुता शक्ति के कारण मान्य होती है।

3. प्रथा को विधि के रूप में स्वीकार करने का अर्थ यह भी है कि वर्तमान में विद्यमान प्रथा भविष्य में भी लागू रहेगी इस सन्दर्भ में प्रथा को विधि के रूप में स्वीकार किये जाने के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए सामण्ड ने कथन किया कि यदि प्रथाएं आदर्श रूप में न्याय संगत और युक्तियुक्त न भी हो और इन प्रथाओं के स्थान पर अधिक अच्छे नियमों का निर्माण एवं प्रवर्तन न्यायालयों द्वारा किया जा सकता है। फिर भी प्रथाओं को यथावत स्वीकार कर लिया जाना ही श्रेयस्कर होता है, क्योंकि प्रस्थापित आचार पर आधारित प्रत्याशियों को विफल करना उचित नहीं होगा।

पैटन ने भी सामण्ड के उपयुक्त विचारों से सहमति प्रकट करते हुए कहा है कि प्रथाएं विधि निर्माताओं को विधि का ढाँचा तैयार करने में सहायक होती है क्योंकि पूर्णतः नये सिरे से विधि की रचना किया जाना संहिताकारों के लिए आवश्यकताओं से अधिक बुद्धिमत्ता का परिचय देने के समान होगा। उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ऐसी प्रथाओं पर आधारित हो क्योंकि इसके पिछे यह मान्यता छिपी रहती है कि जो कुछ अतीत से अनुकरणीय रहा हो वह भविष्य के लिए सुगम पथ प्रदर्शक भी होगा।

2.13—प्रथा की वर्तमान सामाजिक स्थिति

यथार्थ तो यह है कि प्रथाओं का अस्तित्व में रहना इस बात पर निर्भर करेगा कि समाज किस प्रकार का परिवर्तन चाहता है। समय बदल गया है। आज विज्ञान का युग है। व्यापक पैमाने पर हर क्षेत्र में परिवर्तन हुए हैं। जिनका प्रभाव प्रथाओं पर भी पड़े बिना नहीं रहा है। परिवर्तनशीलता नित्य नवीनता की प्राप्ति ही आज समाज का लक्ष्य बन गया है। पुरातन में जो कार्य करने के तरीके, क्रिया कलाप विधि के स्वरूप थे वह आधुनिक समय में बिल्कुल भिन्नता धारण किए हुए हैं। यह भिन्नता स्वाभाविक भी है क्योंकि वर्तमान समय में नये विचार नये अधिनियम न्यायालयों के अन्तर्गत नये निर्णय विधि का स्वरूप प्राप्त कर रहे हैं।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व और पश्चात की सामाजिक परिस्थितियों तथा प्रथाओं में व्यापक बदलाव दिखलाई पड़ता है। जब यह देखा गया कि प्राचीन मान्यताएँ तथा प्रथाएँ लोक हित में नहीं हैं तथा सामाजिक विकास में बाधक हैं तो कानूनी ढंग से उसको समाप्त करने का प्रयास किया गया जिसके कारण एक नई विधि का सृजन हुआ और नयी सृजित विधि को आवश्यकता पड़ने पर बार-बार संसोधित किया गया। स्मरण रहे कि प्रथा समाप्त करने के पिछे सामाजिक विकास तथा समरसता को ध्यान में रखा जाता है। मनमाने ढंग से नहीं अपितु सोच समझकर परिवर्तन के दूरगामी परिणामों का चिन्तन करके परिवर्तन होना चाहिए आज के दिन भी बहुत सी प्रथाएँ राष्ट्रीय एकता और सामाजिक समरसता में बाधक हैं। उनके निजात पाना आवश्यक है ताकि हम एक सुदृढ़ सम्पन्न राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ सकें और विश्व पटल पर अपना अग्रणीय एवं विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकें।

अभ्यास प्रश्न—

1. रिक्त स्थान भरें

प्रश्न— 1— इंग्लैण्ड में प्रथा को वर्षसे माना गया है ?

प्रश्न— 2— लोक चेतना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया

2. बहुविकल्पिक प्रश्न—

प्रश्न— 3— इंग्लैण्ड का कॉमन लॉ आधारित है—

- | | |
|--------------------|----------------|
| अ— न्याय निर्णय पर | ब— प्रथा पर |
| स— विधायन पर | द— उपरोक्त सभी |

प्रश्न— 4— विधि राष्ट्र के साथ सृजित होती है इसके साथ विकसित होती है और उसके लोप के साथ वह मर जाती और यही उसकी विशेषता है,— यह मत निम्न सिद्धान्त से है—

- | | |
|--------------------------|----------------------------|
| अ— सामाजिक अभियान्त्रिकि | ब— विशुद्ध विधि सिद्धान्त |
| स— लोक चेतना | द— उपरोक्त में से कोई नहीं |

3. सत्य व असत्य प्रश्न—

प्रश्न— 5— प्रथा में निरन्तरता होनी चाहिए। सत्य/असत्य।

प्रश्न— 6— मनु प्रथा को सर्वोच्च विधि नहीं मानते हैं सत्य/असत्य।

प्रश्न— 7— मुस्लिम विधि के विकास में प्रथा का योगदान रहा है— अब्दुरहीम, सत्य/असत्य।

प्रश्न— 8— प्रथा सम्प्रभु का आदेश है सत्य/असत्य।

2.14—सारांश

विधि के रूप में प्रथा का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है प्रथाओं के द्वारा विधि का उत्पादन अर्थात् नवसृजन किस प्रकार होता है अभी तक हम उसका अध्ययन कर चुके हैं प्रथाएं जिसमें निरन्तरता, प्राचीनता कोई बाध्यकारी बल आवश्यक है अर्थात् जिसमें कुछ नियम बनाये गये हैं उनका पालन आवश्यक समझा गया था भले ही वह समाज के द्वारा अंगीकृत विधि के विपरित क्यों न हो अर्थात् प्रथा का सृजन भी किसी नियमों के अन्तर्गत होता था वह नियम या वह सृजित प्रथा सामाजिक बुराईयों का जब द्योतक बनती है तो उसे समाप्त करने के लिए एक नयी विधि का उत्पन्न होना या बनना अति आवश्यक है आस्टिन की दी गई परिभाषा विधि सम्प्रभु का आदेश है एवं उसके पिछे अनुशास्ती है। इस परिभाषा का अर्थान्वयन दो आधारों पर होता है सम्प्रभु घोषणा करें की यह प्रथा सामाजिक विसंगिता उत्पन्न करती है इसलिए इसे समाप्त किया जाता है तो सम्भवतः वह पूर्ण रूप से समाप्त नहीं होगी जब तक समाज को उस कृत्य का (प्रथा) पालन न करने के लिए अनुशास्ति (दण्ड) का भय नहीं दिया जायेगा। अनुशास्ति का यही निर्माण किसी नियम विनियम से होना सम्भव है यही नियम विधि का स्वरूप ग्रहण करते हैं। और हम यह कह सकते हैं कि प्रथा के द्वारा विधि का उत्पादन (सृजन) हुआ है।

वर्तमान आधुनिक समाज में सामाजिक नियन्त्रण के लिए प्रथाएं अपर्याप्त हैं तथा विधि प्राथमिक रूप से यह कार्य करती है तथा इसी प्रकार अनेक सृजित विधियों में प्रथाएं प्रतिबिम्बित होती हैं।

2.15-प्रश्नों के उत्तर-

1. रिक्तस्थान भरें -

प्रश्न-1- 1189 माना गया।

प्रश्न-2- सेवगिन ने किया।

2. बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न-1- प्रथा पर 2।

प्रश्न-2- लोक चेतना 3।

3. सत्य/असत्य

प्रश्न-1- सत्य, प्रश्न-2- असत्य, प्रश्न-3- सत्य प्रश्न-4- असत्य।

2.16- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
15. रामनाथ शर्मा/राजेन्द्र कुमार शर्मा - भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक समस्याएं (2007) अंटलांटिक पब्लिकेशर्स।
16. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
17. के०एल० शर्मा - भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन(2006) रावत पब्लिकेशन।

18. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
19. राम आहुजा- सामाजिक समस्यायें (2008)- रावल पब्लिकेशन दिल्ली
20. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावल पब्लिकेशन दिल्ली
21. डा0गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
22. प्रो0इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
23. डा0 कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
24. डा0आर0के0अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
25. डा0 इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.17-सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1.सी0पी0 अरोरा-विविध अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
- 2.प्रो0 इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
- 3.डा0 एस0के0 कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.18- निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रथा एवं परम्परा में अन्तर स्पष्ट किजिए ?
2. प्रथा कि विधि मान्यता के लिये आवश्यक तत्वों की विवेचना किजिए ?
3. लोक चेतना का सिद्धान्त क्या है विवेचना कीजिये ?
4. प्रथा विधि का स्वरूप किस प्रकार ग्रहण करती है व्याख्या करें ?
5. बाल विवाह एवं सति प्रथा ने विधि का स्वरूप किस प्रकार ग्रहण किया समझाइए ?

एल-एल.एम. प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-1 विधि का सामाजिक परिवर्तन
इकाई-3- भारतीय विधि व्यवस्था के अनुरूप विधि का सामाजिक परिवर्तन

इकाई की संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 प्राचीन भारत विधि व्यवस्था एवं न्याय प्रशासन
 - 3.3.1 मौर्यकालीन व्यवस्था
- 3.4 मध्य कालीन भारत विधि व्यवस्था
 - 3.4.1 मुगल साम्राज्य व विधि व्यवस्था
 - 3.4.2 मराठा विधि व्यवस्था
- 3.5 आंग्ल विधि व्यवस्था: भारतीय प्रपेक्ष
 - 3.5.1 अंग्रेजी संवैधानिक विधि व्यवस्था
 - 3.5.2 सन् 1669 ई० का कानून
 - 3.5.3 सन् 1672 ई० कि आंगियर योजना
 - 3.5.4 सन् 1726 ई० का राजपत्र एवं अंग्रेजी विधि का प्रसार
- 3.6 साम्य विधि
 - 3.6.1 साम्य विधि का सूत्रपात
 - 3.6.2 हिन्दू काल
 - 3.6.3 मुस्लिम काल
 - 3.6.4 ब्रिटिश काल
 - 3.6.5 साम्य विधि के सन्दर्भ में विभिन्न मत
 - 3.6.6 साम्य सिद्धान्त कि भारत में आवश्यकता
- 3.7. विधायन की उत्पत्ति एवं विकास
- 3.8 न्याय प्रशासन का उद्भव
- 3.9 समाज शास्त्रीय सिद्धान्त
- 3.10 प्रथा आधारित विधि एवं विधायन का आलोचनात्मक परिक्षण
- 3.11 सारांश
- 3.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अभी तक अध्ययन से हमें ज्ञात हुआ है कि प्रथा के द्वारा विधि ने समाज के परिवर्तन के साथ साथ होने वाले परिवर्तनों से परिवर्तित होती गयी और विधि इन परिवर्तनों में एक नया परिवर्तनशील स्वरूप ग्रहण किया है। किन्तु वास्तव में जो विधि एक नया स्वरूप वर्तमान समय में हमें प्राप्त है अर्थात् वर्तमान विधि का स्वरूप भी उत्पत्ती के कई आयामों से जुड़ा हुआ है। क्योंकि पौराणिक प्राचीनतम प्रथाओं का क्रमवार बढ़ते प्रभाव से प्रथा ने विधि का स्वरूप ग्रहण किया किन्तु वर्तमान विधि का अध्ययन करें तो प्रथा के साथ-साथ उसको नये स्वरूप में समाज ग्रहण करता है जिसे हम भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास कहते हैं।

वर्तमान विधि के स्वरूप का क्या इतिहास रहा है इसका उद्भव भारत में किस प्रकार हुआ है क्योंकि भारत की वर्तमान न्याय व्यवस्था अधिकांश स्थिति तक अंग्रेजों की देन है जो स्वतन्त्रता के बाद नये रूप में अंगीकार की गई थी। वर्तमान व्यवस्था के पूर्व भारतवर्ष में न्यायप्रणाली हिन्दू एवं मुस्लिम विधियों द्वारा विहित व्यवस्था थी। जो कि विभिन्न प्रथाओं परम्पराओं पर आधारित थी। हिन्दू विधि हिन्दुस्तान की सबसे प्राचीन व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसे अनेक स्थानों पर मुसलमानों ने भी अपने शासन के बीच बनाये रखा। प्रारम्भ में हिन्दू विधि सामान्य विधि के रूप में हिन्दुस्तान के सभी निवासियों पर लागू होती रही, परन्तु मुसलमान शासकों के शासन के दौरान हिन्दू विधियों को मात्र हिन्दूओं तक सीमित किया गया और मुस्लिम विधि को सामान्य विधि का स्तर प्रदान किया गया अंग्रेजों ने अपने शासन के बीच मुस्लिम विधि को वैयक्तिक विधि के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। धिरे-धिरे ब्रिटिश शासनकाल में विधि के स्वरूप में भिन्न-भिन्न परिवर्तन किये गये और भारतवर्ष की वर्तमान न्याय व्यवस्था की उत्पत्ती वेदो पुराणों अतिप्राचीनतम प्रथाओं, स्मृति काल धर्म शास्त्र काल पुराण व इतिहास मिमांसा दर्शन भास्य निबन्ध अर्थशास्त्र से धिरे-धिरे सामाजिक परिवर्तन के साथ वर्तमान न्याय व्यवस्था का सृजन होता है।

इसी वर्तमान न्याय व्यवस्था का सृजन सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर किस प्रकार होता गया इसमें उस क्रमवार परिवर्तन का अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

विगत इकाईयों में विभिन्न प्रथाओं का अध्ययन किया एवं प्रथाओं के द्वारा किस प्रकार विधि का निर्माण हुआ इसका अध्ययन किया यह इकाई वर्तमान न्याय व्यवस्था का सृजन किस प्रकार हुआ और वर्तमान न्याय व्यवस्था किस प्रकार से विधिक स्वरूप में समाज ने ग्रहण की का अध्ययन इस इकाई से कर सकेंगे, इसके अतिरिक्त मुख्यतः आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ सकेंगे जिससे वर्तमान न्याय व्यवस्था का सामाजिक परिवर्तन के साथ सृजन हुआ।

- 1- प्राचीन भारत व्यवस्था व न्याय प्रशासन
- 2- मध्यकालीन भारत न्याय व्यवस्था
- 3- आंग्ल न्याय व्यवस्था भारतीय प्रपेक्ष्य
- 4- साम्य विधि
- 5- विधायन की उत्पत्ती एवं विकास
- 6- न्याय प्रशासन का उदभव व विकास
- 7- विधि का समाज शास्त्रीय सिद्धान्त
- 8- प्रथा आधारित विधि एवं विधायन का आलोचनात्मक परिक्षण

3.3 – प्राचीन भारत व्यवस्था एवं न्याय प्रशासन

प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था का अध्ययन हम करें तो हमें प्रथा द्वारा उत्पादित विधि का स्मरण होगा किन्तु इससे थोड़ा भिन्न व्यवस्था विधि के परिपेक्ष्य में उपलब्ध थी जिनका जन्म प्रथाओं से नहीं बल्कि विद्वारेण्य समाज के ज्ञान से प्राप्त होता है। मानव सभ्यता का इतिहास हिन्दुओं के परिपेक्ष्य में सतयुग, त्रेता, द्वापर व कलयुग में बांटा जा सकता है। इन सभी का लिखित रूप से विधिक स्थिति मौजूद नहीं है अतः इसे इतिहास पूर्व काल (प्रागैतिहासिक काल) कहा गया है। ऐसी स्थिति में ई. पू. 3000 तक है।

इस प्रकार इस प्रागैतिहासिक काल में वेदों उपनिषदों पुराणों स्मृतियों के बने नियमों पर विधि का पालन होता था जिसमें प्रथा का काफी महत्व था। प्रथा के अतिरिक्त भी श्रुती स्मृति जो एक प्रकार का मौखिक ज्ञान होता था उन्हीं के नियमों के आधार पर विधि का सृजन या विधि का पालन होता था।

प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था में सामान्य से सामान्य प्रजा की बात राजा तक पहुँचती थी। राज कर्मचारी खुफिया ढंग से पता लगाया करते थे कि प्रजा को क्या तकलिफें हैं न्याय राज शासन का धर्म था। राजधर्म पढ़ने में उम्र के 25 वर्ष गुरुकुल को समर्पित करना होता था। न्याय धर्म था, धर्म ही न्याय था, धर्म की व्याख्या धर्म गुरु करता था जो बन में कुटिया में रहता था। और धर्म के अनुसार दण्ड या अन्य निर्णय करता था।

वेदों में विधि व्यवस्था का पृथक विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है केवल ऋग्वेद में ही विधि के सन्दर्भ में आश्रम धर्म स्वीकृत व्यवस्था मिलती है।

सूत्र काल में गौतम धर्म सूत्र सबसे पुराना है। इसमें न्याय प्रणाली विकसित हुयी राजा मुख्यन्यायाधीश था अन्य अधिकारी भी नियुक्त किये जाते थे। सूत्रकार कठोर दण्ड के समर्थक थे न्याय व्यवस्था वर्ण भेद पर आधारित थी। एक ही अपराध के लिए विधि पृथक वर्णों को पृथक-पृथक दण्ड की व्यवस्था करती थी।

3.3.1 मौर्यकालीन व्यवस्था

इसके प्रमुख शासकों में चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक इतिहास प्रसिद्ध थे। कौटिल्य की अर्थशास्त्र व्यवस्था का चित्रण है। अर्थशास्त्र चौथी शताब्दी ई० पू० की कृति है इसमें 4000 श्लोक हैं। राजस्व नागरिक प्रशासन दिवानी, फौजदारी एवं व्यक्तिगत विधि का विवरण सम्राट व अनुचरों के कर्तव्य राज्य के सातों अंगों (स्वामी, आमात्य, राष्ट्र दुर्ग बल कोष तथा मित्र) का विवरण विदेश नीति सैनिक अभिमान युद्ध तथा सन्धि आदि में विधिक नियम बनाये गये थे। न्यायाधीशों की बेंच थी विदेशियों के लिए विशेष न्यायालय थे। यहां तक विधि की व्याख्या थी कि किसी न्यायाधीश द्वारा गलत बयान लिखने निरपराध व्यक्ति को दण्ड देने व अपराधी को छोड़ने पर न्यायाधीशों एवं न्यायालय के कर्मचारियों को दण्ड दिया जायेगा। अशोक द्वारा विधि व्यवस्था का सुधारा गया मौर्य काल में विधि द्वारा मृत्युदण्ड की स्थिति को यथावत रखा गया किन्तु अशोक द्वारा उसमें तीन को मोहलत दी गयी ताकि वह उस अपराध के लिए पश्चाताप कर सके इसी प्रकार यह प्राचीन विधि व्यवस्था गुप्त काल में सामाजिक परिवर्तन के कारण थोड़ा परिवर्तित हो गयी दण्ड विधान अति कोमल था मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। गुप्त काल में सर्वत्र शान्ती थी अपराध कम थे। यह युग भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल कहा गया। विधि व्यवस्था का वर्द्धन राजवंश में शासन

व्यवस्था देश व प्रान्तों में विभक्त हो गयी विधि व्यवस्था गुप्त काल के शासन काल से अधिक कठोर थी। अपराधियों को देश से बाहर निकाला जात था। निर्दोष या अपराधी सिद्ध करने के लिए अग्नी जल एवं विष आदि द्वारा दिव्य परिक्षायेंली जाती थी। शान्ति व व्यवस्था के लिए पुलिस विभाग द्वारा स्थापित किया गया। इसमें दण्ड के लिए पृथक पुलिस व्यवस्था थी।

इस प्रकार प्राचीन भारत में विधि व्यवस्था मानव समाज के परिवर्तन में धिरे-धिरे परिवर्तित हो गयी।

3.4 मध्यकालीन भारत विधि व्यवस्था

समाज में मानव सभ्यता एवं शासकों के अपने संघर्षों के कारण जिस प्रकार से नये-नये परिवर्तन होते गये विधि भी उसी प्रकार से एक नये स्वरूप में परिवर्तित होती गयी। अरबों के आक्रमण के पूर्व शासन में पैगम्बर मोहम्मद के पूर्व अरब छोटे छोटे लड़ाकों का देश था जिन्हे केवल तलवार की भाषा बोलना व समझना आता था। मोहम्मद ने उन्हें ईश्वर की एकता बन्धु बान्धव की दिक्षता से दिक्षित किया उन आक्रमणों के पश्चात अरबों ने स्थानीय व्यवस्था को ही बनाये रखा धिरे-धिरे बढ़ते हुए परिवर्तन जो कि आपसी संघर्ष स्वरूपीय थे आगे चलकर मुगल साम्राज्य के रूप में स्थापित हो चुके थे।

3.4.1 मुगल साम्राज्य व विधि व्यवस्था

मुगल शासकों ने निष्पक्ष न्याय के लिए काम किया जहांगिर द्वारा अपनायी विधि को न्याय जंजीर इतिहास प्रसिद्ध हुयी। सम्राट की अदालत सर्वोच्च अपील अदालत थी। मृत्युदण्ड देने का प्रावधान यथावत रखा गया। औरंगजेब कि विधि व्यवस्था में न्याय प्रेम फतवा आलमगिरी में प्रावधान रखा गया कि काजी के आदेश के बिना किसी को जेल में नहीं रखा जा सकता है और जब तक प्रत्यक्ष मामला न हो किसी की गिरफ्तारी नहीं हो सकती थी। किसी को भी बन्दीगृह में अधिक समय तक नहीं रखा जा सकता था अविलम्ब न्याय करने का प्रावधान रखा गया था।

3.4.2 मराठा विधि व्यवस्था

मराठा विधि व्यवस्था संसोधित मुस्लिम विधि जैसे स्वरूप की थी। इस्लाम व्यवस्था की अच्छी

बातें मराठा शासकों ने लागू रखा जैसे शासक का सर्वोच्च स्थान हिन्दु विधि में नहीं था परन्तु मुस्लिम व्यवस्था में था मराठों ने इसे स्वीकार किया।

मराठा विधि व्यवस्था में मृत्युदण्ड का प्रावधान नहीं रखा गया था। मराठा विधि व्यवस्था का निर्माण रिति रिवाजों के आधार पर हुआ था। इस विधि व्यवस्था में पंचायतों को सिविल प्रकार के मामलों का निपटारा करने का अधिकार दिया गया था, और पंचायत द्वारा दिया गया निर्णय बाध्यकारी होता था। दण्ड का उद्देश्य अपराधी को सुधारना था। अतः मध्यकालीन भारतीय विधि व्यवस्था में समाज के परिवर्तन के साथ साथ विधिक परिवर्तन होते गये।

3.5 आंग्ल विधि व्यवस्था : भारतीय प्रपेक्ष

3.5.1 अंग्रेजी संवैधानिक व्यवस्था

अंग्रेजी संविधान की मान्य विधि व्यवस्था के अनुसार कोई भी अंग्रेज अपने नाम में भूमि नहीं प्राप्त कर सकता है। इस तरह कोई भी भूखण्ड ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होता है। यही कारण था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा प्राप्त भूखण्ड पर अधिराट ने प्रशासन का दावा किया। विधि व्यवस्था की भिन्नता के कारण पार्लियामेंट का तक तक सिधा दखल विजित प्रदेशों में नहीं होता जब तक कि अधिराट ऐसे देशों को कोई स्पष्ट संविधान न दे स्पष्ट संविधान दे देने के बाद पार्लियामेंट का दखल भी ऐसे देशों में हो जायेगा।

3.5.2 सन् 1669 ई0 का कानून

कम्पनी के विधि अधिकारियों ने सरकार व प्रशासन तथा न्याय वितरण के लिए नई विधि का सृजन किया जिसे सालिसटर अनुमोदन के बाद सन् 1669 में बम्बई भेजा गया। इस विधि में 6 धारायें थी जो उचित कार्यवाही के लिए न्यायिक ढंग को प्रतिपादित करती थी। दण्ड विधि के विषय में स्पष्ट विवरण कम मिलता है। फाँसी की सजा प्रचलित थी। सजा किस प्रकार दीजाए इसे डिप्टी गवर्नर एवं परिषद पर छोड़ दिया गया था।

3.5.3 सन् 1672 ई0 क आंगियर योजना

सन् 1672 ई0 में आंगियर की विधि व्यवस्था का प्रस्ताव रखा गया जिसके अन्तर्गत एक हाईकोर्ट ऑफ जुडीकेचर की स्थापना की गई पुर्तगाली विधि व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त कर अंग्रेजी कानून को लागू किये जाने की स्पष्ट घोषणा की गई इस अदालत के प्रथम न्यायाधीश विलकाक्स थे जेराल्ड आंगियर का न्यायालय की स्थापना के समय दिया गया भाषण न्यायिक निर्भिकता का बेजोड़ नमूना प्रस्तुत करता है। इस तरह भारत के एक छोटे से हिस्से पर इंगलिश कामन लॉ का अबधित प्रयोग प्रारम्भ कर दिया गया। फैसले का एक सबसे महत्वपूर्ण साधन कलेक्टर की न्याय की निष्ठा थी जिसे जस्ट डिस्सनटेमेंट कहा जाता था। इस शब्द को जस्टिस इक्विटी एण्ड गुड कान्शन इंगलिश विधि के प्रयोग से सम्बधित था।

3.5.4 सन् 1726 ई0 का राजपत्र एवं अंग्रेजी विधि का प्रसार

अखिल भारतीय स्तर में सर्वप्रथम अंग्रेजी विधि का प्रसार सन् 1726 ई0 के राजपत्र के द्वारा हुआ। सन् 1726 ई0 के राजपत्र द्वारा किसी भी अदालत की स्थापना नहीं हुई। परन्तु इस वर्ष कम्पनी ने ऐसी अदालतों को स्थापित करने का अधिकार प्राप्त कर लिया जिनका स्तर अंग्रेजी अदालतों को भी मान्य था। ऐसी अदालतें मेयर कोर्ट व कोर्ट ऑफ ओयर एण्ड टरमिनर (गवर्नर एण्ड काउंसिल) के नाम से जानी गयी। इन अदालतों की स्थापना प्रत्येक या किसी भी एक प्रेसीडेन्सी नगर में की जानी थी। प्रश्न यही रह गया कि किस तिथि से अंग्रेजी विधि भारत में सामान्य विधि के रूप में लागू की गयी इसके साथ ही यह अवधारणा स्वतः सिद्ध एवं पुरातन रही कि सन् 1726 ई0 के राजपत्र ने प्रेसीडेन्सी नगरों में इंग्लैण्ड का वह सारा कानून लागू कर दिया जो सन् 1726 ई0 में सुस्पष्ट हो गया था। ऐसे कानून का स्वरूप चाहे कॉमन लॉ के रूप में हो या स्टैच्यू व इक्विटी के सिद्धान्तों के रूप में हो रहा हो। इंगलिश लॉ का अर्थ अंग्रेजी विधि साहित्य के ऐसे हिस्से से था जो भारतवर्ष की स्थानीय परिस्थितियों मिश्रित हो सकती है।

3.5.5 रेग्युलैरिंग एक्ट व सन् 1774 के राजपत्र एवं अंग्रेजी विधि

सन् 1726 के राजपत्र के बाद प्रायः सभी राजपत्रों ने अंग्रेजी विधि का प्रयोग भारत में किया। परन्तु प्रश्न यह था कि सबसे पहले राजपत्र कौन था और सबसे अन्तिम राजपत्र कौन था। क्या सन् 1726 ई० के राजपत्र द्वारा सन् 1726 ई० तक विद्यमान सारी विधि व्यवस्था में भारत में लागू हुयी या इसके द्वारा पारित विधि व्यवस्थाएँ भारत में अंग्रेजी कानून का लगातार प्रयोग करती रही क्या सन्

1774 के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट व उसके मातहत पास किया गया सन् 1774 ई० के चार्टर ऑफ जस्टिस द्वारा भी सन् 1726 ई० से 1774 ई० के बीच पास किये गये एक्ट व सुस्थिर कामन लॉ सुप्रीम कोर्ट के साथ पुनः लागू किये गये।

रानी सूर्नोमयी दासी बनाम एडवोकेट जनरल ऑफ बंगाल 9 मूर इण्डियन अपील में कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश बारनेस पिकाक ने मत प्रकट किया है कि भारत में सर्वप्रथम सामान्य विधि के रूप में अंग्रेजी विधि जार्ज प्रथम ने सन् 1726 के जारी किये गये राजपत्र द्वारा लागू की गई।

उन्होंने इसे लगभग अर्धशताब्दी से सुव्यवस्थिति अवधारणा घोषित किया और इसके पूर्व के राजलेखों का इस विषय के सन्दर्भ में विश्लेषण अनावश्यक घोषित किया प्रिवी काउन्सिल स्तर पर इन्हीं विचारों का समर्थन लार्ड किंग्सडान ने भी किया।

इस तरह यह निष्कर्ष स्पष्टतः मान्य है कि अंग्रेजी विधि भारत में सर्वप्रथम 1726 में लागू हुई। यद्यपि कि राजलेख में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं था और न तो इस सन्दर्भ में स्थापित मेयर की अदालतों में ही ऐसी कोई बात थी। परन्तु अब यह निर्विवाद तथ्य है कि अंग्रेजी विधि 1726 ई० में ही लागू हुई और उसके बाद पुनः लागू नहीं हुई। परन्तु स्टीफन ने यह विचार व्यक्त किया है कि सन् 1726 ई० के राजपत्र एवं उसके बाद पारित सन् 1774 ई० के राजपत्र दोनों ने अपने अपने समय तक का सारा कानून अपने साथ भारत में लागू किया। मेयर अदालत व सुप्रीम कोर्ट दोनों अंग्रेजी कानून के प्रयोग का माध्यम बनी। भारतवर्ष के लिए इस प्रश्न पर निश्चित तारीख बताना असम्भव है जैसा कि सन् 1828 के एक्ट में न्यू साउथ वेल्स विक्टोरिया और तस्मानिया (आस्ट्रेलिया) के लिए स्पष्ट निर्देश दिया था।

इन प्रश्नों का समाधान देते हुए स्टीफेन्स ने निष्कर्ष दिया कि 1661 के राजलेख द्वारा सर्वप्रथम अंग्रेजी विधि को पुनः तीनों अवसरों पर भारत में लागू किया। अतः 1774 ई० के अन्त तक स्थिति यह थी कि सारी आंग्ल विधि भारतवर्ष में लागू हो चुकी थी।

3.6 साम्य विधि

न्याय साम्य एवं सदाचार का सम्बन्ध मन स्थिति से होता है। सामान्य विधि का जन्म सोच समझ एवं मस्तिष्कीय होता है। इसे जस्टिस बाई हेड कहा जाता है। प्रत्येक पक्ष को न्याय सामान्य विधि के अनुसार दिया जाता है इसे कामन लॉ के अनुसार न्याय कहा जाता है जैसे दण्ड विधि संविदा विधि साक्ष्य विधि आदि का प्रयोग इसके विपरित न्यायालयों को कभी² ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। कि इन विधि व्यवस्थाओं में अमुक समस्या का हल नहीं मिलता है। या पर्याप्त हल उपयुक्त व पर्याप्त नहीं है या सम्बन्धित व्यवस्था द्वारा प्रदत्त राहत से कम राहत सम्बन्धित परिस्थिति में न्याय दे सकेगी या उससे अधिक राहत की व्यवस्था सम्बन्धित परिस्थिति में अनिवार्य है। कानून को तोड़-मरोड़कर व्यवस्था द्वारा कुछ न कुछ अभीष्ट प्राप्त किया जा सकता है।

3.6.1 साम्य विधि का सूत्रपात

इस विधि का सूत्र पात रोम तथा ग्रीस में हुआ। इसकी छाप इंग्लैण्ड की शासन प्रणाली पर भी पड़ी। इसका उपयोग व्यापक पैमाने पर तब शुरू हुआ जब चान्सलर, चान्सरी कोर्ट के रूप में ऐसे लोगों को न्याय प्रदान करने लगे जब कॉमन लॉ कोर्ट से न्याय पाने से पूर्णतया वंचित हो जाते थे, या न्याय अपूर्ण होता था। ऐसे में व्यथित पक्षकार सम्राट की शरण लेता था, जिसे न्याय का स्रोत माना जाता रहा। प्रारम्भ में सम्राट ऐसे लोगों की फरियाद स्वयं सुनता था और न्याय प्रदान करता था। धिरे-धिरे फरियादों की संख्या बढ़ने के कारण जग सम्राट के लिए न्याय प्रदान करना असम्भव हो गया तो इसके लिए चान्सलर नियुक्त किये जाने लगे जो मुख्य रूप से पादरी हुआ करते थे। धर्म से जुड़े होने के नाते साम्य न्याय और शुद्ध अन्तःकरण के आधार पर वे न्याय प्रदान करते थे और ये गुण साम्य की वास्तविक कसौटी थी। कुछ दिन तक कामन लॉ और साम्य के न्यायालय सामान्तर कार्य करते रहे और स्थिति पर पैदा हो गई कि वे एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी मानने लगे। इस गतिरोध को इंग्लैण्ड में ज्यूडीकेचर एक्ट व 1873-1875 पास करके दोनों को एक कर दिया गया। फिर भी उनका अन्तर जब व्यवहार में देखा जाता है। साम्य का आधार न्याय और युक्तियुक्तता होती है। भारत में अलग वे साम्य न्यायालय नहीं थे न है ही। लेकिन न्याय प्रशासन में साम्य को हमेशा आधार बनाकर ही न्याय प्रदान किया जाता रहा है। सम्पत्ति अन्तरण

अधिनियम- 1882 भारतीय विनिर्दिष्ट अनुतोण अधिनियम, भारतीय न्याय अधिनियम 1888 की मुख्य रूप से साम्या ही आधारशीला है। साम्या विधि की कठोरता, तकनीकीपन दुरुहता कार्यवाही की लम्बी अवधी को कम और दूर करती है और न्याय प्रणाली को ऋजुता शुद्ध अन्तः करण और लचीलेपन से सरल और सुगम बनाती है।

न्याय साम्य तथा शुद्ध अन्तः करण के सिद्धान्त का वास्तविक प्रयोग ऐसे मामलों के निर्णय के लिए किया जाता था जिनमें सामान्य व्यवस्था के प्रयोग द्वारा वास्तविक न्याय सम्भव न हो पाता था। इस सिद्धान्त में न्यायाधीश को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि किसी मामले विशेष में निर्णय का आधार बन सकता था तथा किसी भी प्रकार की स्थानीय व्यवस्था उसके अधिकार में बाधक नहीं थी। भारत में साम्या विधि का इतिहास अध्ययन की दृष्टि से निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है।

3.6.2 हिन्दू काल

हिन्दू विधि ईश्वर प्रदत्त थी। राजा या प्राक्ववाद न्यायाधीश का कार्य ईश्वरीय निर्देशों का पालन था जिनका पालन करने में उन्हें स्वयं पर भी अपने दायित्वों का प्रतिबन्ध था, फिर भी स्मृतियों में राजा को न्याय के लिए दिये गये अबधित अधिकारों की चर्चा आई। राजा को अधिकार था कि मामलों का निर्णय बेद स्मृति, सदाचार तथा आत्मा तुष्टि के सिद्धान्तों के अनुसार करें। आत्म तुष्टि के मापदण्ड का संकेत अंग्रेजी विधि के साम्या सिद्धान्त से मिलता जुलता है, अतः सहृदयता सौजन्यता व सौहार्द से परिपूर्ण यह सिद्धान्त भारत के लिए अजनबी न था।

3.6.3 मुस्लिम काल

हिन्दू विधि व्यवस्था की ही भांती मुस्लिम विधि भी हुक्में अल्लाह है। कुरान में दिये गये सिद्धान्त जेब्राइल देवदूत द्वारा दर्शित सिद्धान्तों के सारमाम है जो अल्लाह की कृपा से पैगम्बर मोहम्मद को प्राप्त हुए थे इज्मा तथा कयास की व्युत्पत्ति साम्या जैसे सिद्धान्तों पर आधारित है। मुस्लिम विधि में न्यायाधीशों को काफी स्वतन्त्रता दी गई थी। कुरान के नियमों का पालन आवश्यक होता था।

3.6.4 ब्रिटिश काल

- साम्या के इस सिद्धान्त का प्रयोग आंग्ल विधि में अलग तरीके से हुआ। भारत के हिन्दु एवं मुस्लिम काल में साम्या के सिद्धान्त का प्रयोग ऐसी व्यवस्था में किया गया जब कि श्रुति समृति सदाचार कुरान, सुन्नत इज्मा, आदि के सिद्धान्त अपर्याप्त हो चुके हो, परन्तु साम्या की प्रथा का विकास आंग्ल विधि में तीन कारणों से हुआ है।
- सामान्य व्यवस्था के सहायक के रूप में
- साम्या विधि का मौलिक क्षेत्राधिकार
- सामान्य व्यवस्था कि सहगामिनी व्यवस्था के रूप में।
- ब्रिटिश काल में साम्या न्याय व शुद्ध अन्तःकरण का इतिहास निम्न प्रकार से गुजरा
- भारत की परिषद के अध्यक्ष से संचालन समिति को पत्र 2 नवम्बर 1772 ई०
- न्यायालय में मालगुजारी प्रथा की व्यवस्था के सम्बन्ध में साम्या के अन्तर्गत व्यवस्था।
- सन् 1774 ई० का राजपत्र की ज्युडीकेचर एक्ट धारा 18 में बताया गया की सुप्रीम कोर्ट साम्या की अदालत होगी।
- सन् 1781 ई० की इम्पे योजना की धारा 93 में निर्देश था कि सदर दिवानी अदालत व उसके न्यायाधीश ऐसे मामलों का निर्णय न्याय व शुद्ध अन्तःकरण के आधार पर दे सकते हैं।
- सन् 1793 कार्नबालिस योजना साम्या के सिद्धान्तों का प्रयोग।
- सन् 1831 ई० की बेंटिंग योजना।
- इसके अतिरिक्त प्रिवि काउन्सिल ने बघेला राजसन जी बनाम शेख मसुलुद्दीन 14 I.A. 18 का वाद नाबालिग की सम्पत्ति के क्रय के सम्बन्ध में साम्या के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। इसके अतिरिक्त निश्चल क्रेता एवं सम्पत्ति का विक्रय लगातार दूसरे से तीसरे में हस्तान्तरण का मामला वारडेन सेठ साम बनाम लकपथी के बाद में साम्या के सिद्धान्त के आधार पर निर्णय दिया गया।

3.6.5 साम्या विधि के सन्दर्भ में विभिन्न मत

1. **स्टीफन का मत :-** सन् 1872 ई0 में भारतीय संविदा अधिनियम का प्रस्ताव रखते हुए विधि सदस्य सर जेम्स स्टीफन ने जिक्र किया कि यद्यपि न्याय साम्या व शुद्ध अन्तःकरण ऐसी व्यवस्था है जिसे भारतीय न्यायालयों व भारतीय न्यायाधीशों को प्रयोग करना होता है। वस्तुतः ऐसे मामलों व भारतीय न्यायाधीशों को प्रयोग करना होता है। वस्तुतः ऐसे मामलों में मार्गदर्शन के लिए उनका एकमात्र आश्रय अंग्रेजी विधि साहित्य व नजीरों ही होती है। अन्य मार्ग उनके लिए सर्वथा असम्भव है जब कि उनके मार्गदर्शन के लिए संहितायें न निर्मित की जा सकें।

2. वारनेस पिकाक का मत –

सन् 1868 ई0 के एक मामले के सिलसिले में इस सुप्रसिद्ध न्यायाधीश ने अपनी राय व्यक्त की थी। उन्होंने प्रश्न किया कि न्याय साम्या व शुद्ध अन्तःकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करने का निर्देश मिल जाने पर सम्बन्धित आवश्यक व्यवहारिक कानून कहां से मिलेगा। उत्तर के रूप उन्होंने कहा कि युगों से निर्मित तथा परिस्थितियों में आचरित अंग्रेजी विधि के व्यवहारिक सिद्धान्तों के उनके समान भारतीय परिस्थितियों में भी लागू करना अनुचित न होगा।

3. वी0 के0 आचार्य का मत :-

भारतीय न्यायाधीशों को साम्या का प्रयोग करने का निर्देश मिलने पर उन्होंने अंग्रेजी सिद्धान्तों का विचारहीन होकर प्रयोग किया जिससे भारतीयों की रुचियों नितियों आदतों के विपरित सिद्धान्त भी प्रमादवश प्रयुक्त हो गये जो कालान्तर में पुनरावृत्ति के बाद न्यायालयों की नजीरों के रूप में भी प्रभावशाली विधि सिद्धान्त का रूप धारण कर बैठ और उनकी समाप्ति असम्भव हो गई। उन्हें यदि समाप्त करना सामाजिक दृष्टिकोण से आवश्यक समझा गया तो व्यवस्थापिका द्वारा अधिनियम निर्माण ही एकमात्र आश्रय रहा।

3.6.6 साम्या सिद्धान्त की भारत में आवश्यकता

हिन्दु विधि तथा मुस्लिम विधि समक्ष तथा सुव्यवस्थित व्यवस्थायें थी, जिनकी संहिताओं का विशद स्वरूप ऐसे सिद्धान्तों के अबाधित प्रयोग के अनुकूल न था। अन्तःकरण या आत्मतृप्ति के सिद्धान्त का प्रभाव गौण

लेजिस्टेशन शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में यह ज्ञात होता है कि यह लैटिन भाषा के शब्दों से बना है लेजिस और लैटियों या लैटम जिसका अर्थ है विधि तथा निर्माण या प्रस्थापन उल्लेखनीय है कि विधायिका ही विधि का निर्माण करने में सक्षम है, कोई व्यक्ति नहीं। भारत में संविधान के अनुसार 245 और 246 के अन्तर्गत क्रमशः संसद और राज्य विधान मंडलों को विधान निर्माण का कार्य और अधिकार प्रदान किया गया है। इसके साथ संविधान के अनु0 123, 213 तथा 357 में कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति और राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। विधायिका के एक अधिनियम की भांति ही जारी अध्यादेशों का भी प्रभाव होता है। विधि शास्त्र की विश्लेषणात्मक विचारधारा विधान को ही एक आम विधि का स्रोत मानना है तथा प्रथा आदि को इस प्रयोजन के लिए अस्वाकार कर देता है।

जेम्स कार्ट के अनुसार—“विधायिनी कार्य द्वारा विधि का निर्माण सम्भव नहीं है। अधितिम इसकी शक्ति का उद्देश्य किसी आचरण विशेष के लिए पुरस्कृत या दण्ड देने की धमकी देना है और इस प्रकार आचरण को प्रभावित करने के लिए अतिरिक्त उत्प्रेरक उपलब्ध कराना है। अलिखित विधान तो परम्पराओं पर आधारित है और प्रथाएं ही विधान का काम करती थी जब वे नहीं बने थे। यह आधुनिक सभ्यता और सामाजिक परिवर्तन का कारण है। राज्यों के गठन के बाद पश्चात अपने-अपने क्षेत्रों के लिए कानूनों का निर्माण करने के लिए विधान मण्डलों की स्थापना की गई और न्यायालयों ने उनके द्वारा निर्मित कानूनों को मान्यता दी और प्रवर्तित ही नहीं किया बल्कि आवश्यकतानुसार उनकी व्याख्या भी की। जहां राजतन्त्र थे तथा जहां अभी भी राजतन्त्र बचा है वहां राजाज्ञा ही विधान मानी जाती थी अथवा मानी जाती है। सभी देशों की संसदों तथा विधानमण्डलों को ही विधान बनाने की शक्ति प्रदान की गई और सही मायने में उनके द्वारा निर्मित विधि ही विधि होती है।

आस्टिन और बेन्थम विधान को व्यापक अर्थ में लेते हैं और मानते हैं कि विधान विधि निर्माण की प्रक्रिया का परिचालक है। अतः सक्षम प्राधिकारी अर्थात् विधायिका द्वारा बनाया गया नियम ही विधान कहा जा सकता है, अन्य नियम नहीं।

आस्टिन कहते हैं कि— “विधायी कार्य के बिना कोई विधि हो ही नहीं सकती”

3.8 न्याय प्रशासन का उद्भव

न्याय तथा विधि का अटूट चोली-दामन का सम्बन्ध है। न्याय का सम्बन्ध हमेशा अन्याय से जुड़ा होता है। जैसे धूप, छाया प्रकाश अन्धकार को एक दूसरे के बिना समझना कठिन है। उसी प्रकार न्याय को अन्याय के सन्दर्भ में समझना उत्तम होगा। प्रारम्भिक काल में मनुष्य आज जैसे सुसंगठित राज्य में नहीं रहता था छोटे मोटे समुदाय थे। सम्यता की किरण फूटी नहीं थी ऐसे में कबिलों का मुखिया आपसी विवाद उठने पर न्याय करता था। समाज गति के आगे बढ़ने और गाँव में स्थायी निवास के समय भी तत्कालीन न्याय व्यवस्था का उल्लेख मिलता है चुने हुए लोग पंचायत के माध्यम से न्याय करते थे। पुरानी पंच निर्णय प्रणाली को भारत में स्वतन्त्रता के बाद अधिनियम पारित करके सुधरे रूप में उसे पंचायती राज के माध्यम से ग्राम्यांचल में कायम रखने पर बल दिया गया। क्यों कि पंचायती व्यवस्था सर्वसुलभ तथा सस्ती होती है। न्याय पाने में अप्रत्याशित विलम्ब नहीं होता है। समय बीतने के साथ बन्जारों और खानाबदोसों का जीवन बिताने वाले लोग छोटे2 समुदाय बनाकर रहने लगे। सामुदायिक अनुशासन तथा नियन्त्रण के लिए उन्होंने कुछ नियम भी बनाये जिसके अधीन दण्ड की व्यवस्था बदली और लोग कुलो परिवारों और संघों के रूप में रहने लगे और जब उसका और सुधार विकसित रूप में आया तो माध्यस्थों या पंचार (पंच निर्णयों) द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से विवादों का निस्तारण किया जाने लगा जब समुदायों ने पारस्परिक इच्छा और समझौतों से सुसंगठित राज्य को अपने हित में स्वीकारा तब न्याय प्रशासन का अधिकार और दायित्व राज्य (सरकार) के हाथों और कन्धों पर आ गया। परिस्थितियों के आलोक में भिन्न-भिन्न राज्यों और देशों ने न्याय प्रशासन की व्यवस्था सुव्यवस्थित और सुदृढ़बनाने की दिशा में प्रभावी कदम उठाने शुरू कर दिये। समाज और राज्यों के अभ्युदय और विकास का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि न्याय प्रशासन में कितना उतार-चढ़ाव हुआ है। आधुनिक काल में पुरानी पद्धतियों में सुधार करके नयी न्याय प्रशासन प्रणाली अंगीकार की गई। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ न्याय प्रणाली में भी परिवर्तन होता गया और समाज को सर्वश्रेष्ठ व उत्तम न्याय प्रशासन देने के लिए आवश्यक कदम समय-समय पर उठाये गये जिसके फलस्वरूप दण्ड के प्रतिकात्मक सिद्धान्त से उपचारात्मक सिद्धान्त जैसा स्वरूप न्याय प्रशासन के रूप में समाज को प्राप्त हुआ है।

3.9 प्रथा आधारित विधि एवं विधायक का आलोचनात्मक परिक्षण

विधायक का सबसे बड़ा लाभ इस तथ्य में निहित है कि इसमें विधान को निराकृत करने की शक्ति (Abrogative power) होती है जिसके माध्यम से वर्तमान विधि को समाप्त किया जा सकता है। यह विधि का एक मात्र नया स्रोत नहीं है। यह निराकृत करने की शक्ति का उपयोग कर सकता है। यह क्षमता प्रथाओं में नहीं रहती है। विधायक पूर्वानुमान के बल पर भविष्य में आने वाली सम्भावित समस्याओं के निराकरण करने के लिए भी उपबन्ध कर देता है। विधान लागू किये जाने के पूर्व लागू व घोषित किया जाता है जिसके कारण लोगों को अपने अधिकारों व कर्तव्यों की जानकारी प्राप्त हो जाती है, जिससे लोग उसके परिणामों एवं दण्ड से बचने के लिए विधान के अनुकूल ही आचरण करना हितकर समझते हैं, जबकि प्रथा आधारित विधि का अनुकरण लोब पारम्परिक निरन्तरता से प्रचलन के आधार पर करते हैं। प्रथा आधारित विधि का अनुकरण लोग पूर्वजों के द्वारा मान्य रिति रिवाजों व पूर्वजों के द्वारा निर्मित नियमों के आधार पर करते चले आते हैं। जिसकि निरन्तर प्रचलन से प्रथा विधि का स्वरूप ग्रहण करती है। प्रथा आधारित विधि एवं विधान उत्कृष्ट तब माना जायेगा जब प्रथा आधारित विधि समाज के विरुद्ध नियमों का निर्माण करती हो।

प्रश्न यह उठता है कि विधान जब वर्तमान में स्थिति रहता है और उसे विधायिका अस्तित्व में लाती है और लाती रहती है और संसोधन पश्चातवर्ती प्रक्रिया है तो फिर विधान के रहते सुधार की आवश्यकता क्यों आन पड़ती है। इसका उत्तर हमें बदलती हुयी सामाजिक परिस्थितियों जनाकांक्षाओं और विकास में आने वाली अड़चनों में ढुँढना होगा क्योंकि उनका राज्य सरकार पर इतना भारी दबाव बनता है कि उसके अनुरूप संसोधन करना आवश्यक हो जाता है। यही संसोधन सुधार के रूप में ग्रहण किया जाता है।

सामण्ड तो यहां तक कहते हैं कि विधान न केवल विधिक विकास का एक अपरिहार्य उपकरण है बल्कि विधिक सुधार का भी एक अनिवार्य उपाय (माध्यम) है। विधिक सुधार के इतिहास को हम यदि देखें तो स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन और विकास के माध्यम के रूप में इसे हर क्षेत्र में आजमाया गया है।

यह लगने पर कि कोई विधि अत्यन्त पुरातन हो गई, प्रचलित प्रथाएं अप्रासंगिक प्रतीत होती हैं ऐसी विधि और प्रथायें सामाजिक हित और विकास के लिए अनुपयोगी हो गईं तो सर्वोत्तम उपाय है उन्हें निष्प्रभावी बनाकर नई विधि लाई जाय।

यह कार्य विधान के माध्यम से ही सम्भव है। निरसन और अमान्य करने का कार्य तो विधान ही कर सकती है। सामाजिक परिवर्तन और विकास के प्रति प्रतिबद्धता इसकी छानबीन करना आवश्यक बना देती है कि प्रचलित विधान और प्रथाएं समाज के सन्दर्भ में आवश्यकता और उपयुक्तता की कसौटी पर खरी उतर रही हैं। अथवा नहीं यदि उत्तर नकारात्मक है तो उनमें सुधार की प्रक्रिया अपनाई ही जानी चाहिए। कभी-कभी देखने में आता है कि एक ही विषय को लेकर प्रचलित प्रथाओं में एक रुपता और सामंजस्य न होकर परस्पर विरोधी भाव होता है जिससे भ्रामक स्थिति उत्पन्न होता है। ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि समय की मांग के अनुसार यथेष्ट परिवर्तन या परिवर्द्धन कर दिये जाएं या समाप्त कर दिया जाए या अधिनियमित विधि का स्वरूप प्रदान कर दिया जाए। विधानों में सुधार करने हेतु सुझावों और संस्तुतियों को प्रदान करने के लिए भारतवर्ष में एक विधि आयोग की स्थापना की गई है जो समय² पर सामाजिक परिस्थितियों आकाक्षाओं का अध्ययन करके उसके आलोक में मूल्यवान सुझाव और संस्तुतियां भारत सरकार को सौंपता रहा है। और यह वास्तविकता है, इसे नकारा नहीं जा सकता कि सरकार ने विधायन के द्वारा समुचित लोक हितकारी सुधार किया है।

विधान के अन्तर्गत अधिनियमित विधि पूर्णता नहीं होती है और यह भी कहना उचित ही है कि विधान विधि के स्रोत के रूप में मुख्य स्रोत है इससे सुस्पष्ट विधि का सृजन होता है। किन्तु सुस्पष्टता बार² संसोधन कि प्रक्रिया से एवं सामाजिक परिवर्तन के आधार पर होता रहता है अतः विधान के अन्तर्गत विधि का सृजन एवं प्रथागत विधि का सृजन एक दूसरे के स्वरूप के आधार पर संचालित होते हैं। प्रथागत विधि समाज के विरुद्ध होने पर विधान द्वारा विधि निर्माण करके उसका निरसन कर दिया जाता है और प्रथागत विधि को क्रमबद्ध स्वरूप में लेकर कभी² विधान उसमें नवीन विधि का सृजन करता है।

3.10 समाजशास्त्री सिद्धान्त

यह सिद्धान्त सामाजिक परिस्थितियों, मानव के विकास, सुख दुःख विधि के उदभव विकास आदि का अध्ययन और विश्लेषण समाज शास्त्रीय ढंग सं करता है। यह आधुनिक काल की सबसे बड़ी उपलब्धि है। यह सिद्धान्त विधि पर और विधि का समाज पर पड़ने वाला प्रभाव, उनके परिणामों का गहराई से अध्ययन किया जाता है। सामाजिक परिस्थितियों के साथ विधि थी, जो सामाजिक व्यवस्था और विकास का माध्यम है, बदलती रहती है। विधि समाज को नियन्त्रित, सूत्रबद्ध और उसके विकास के अनेकों द्वार खोलती है। लेकिन समाज उसमें परिवर्तन की मांग तब उठाता है जब लोक हितों का संरक्षण और सम्बर्द्धन करने में वह विफल दिखाई देती है। प्राचीन काल से उद्यतन काल का विधिक इतिहास इस बात का साक्षी है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आर्थिक व्यवस्था आदि में अहस्तक्षेप का सिद्धान्त प्रचलित था। राज्य का हस्तक्षेप वाणिज्य शिक्षा स्वास्थ्य के मामलों में नहीं था। लेकिन इस शताब्दी के अन्त में महसूस किया जाने लगा कि आर्थिक और सामाजिक विषमताएं बढ़ गई हैं। आबादी बढ़ी औद्योगिक क्रान्ति तो हुई अवश्य लेकिन उसने समस्याओं को और बढ़ाया और जटिल बना दिया पूँजीपतियों और मजदूरों के दो वर्ग बन गये आर्थिक विषमता बढ़ गई आबादी बढ़ी। रोजी रोटी के लिए लोग शहरों की ओर भागे। जिसके परिणामस्वरूप असमाजस्य कि स्थिति पैदा हो गई। अब राज्य के लिए इन विषमताओं को कुछ हद तक दूर करने के लिए, अधिकतम लोगों की अधिकतम सुख सुविधाओं जीवन स्तर ऊँचा उठाने शिक्षा रोजगार और स्वास्थ्य आदि बातों के लिए प्रभावी कदम उठाने और हस्तक्षेप करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। जिसके परिणामस्वरूप विधि ने अपना नया आयाम ग्रहण किया सामाजिक परिवर्तन के साथ साथ विधि का भी परिवर्तनशीलता निरन्तर होती चली आई विधि सतत् संघर्ष का परिणाम है। विधि का विकास उसकी उत्पत्ति व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से सतत् संघर्ष या विरोध का परिणाम है। विधि लक्ष्य की पूर्ती का एक साधन है।

3.11 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप जान चुके हैं कि किस प्रकार से विधि में धिरे-धिरे परिवर्तन होता चला आ रहा है अभी तक हम उन इकाईयों का अध्ययन कर चुके हैं जिससे प्रथा के द्वारा विधि का निर्माण हुआ है परन्तु लोक चेतना के आधार पर यह परिवर्तन निरन्तर होता चला आता गया क्योंकि

पौराणिक प्राचिनतम प्रथाओं का क्रमवार बढ़ते प्रभाव से प्रथा ने विधि का स्वरूप ग्रहण किया किन्तु वर्तमान विधि का अध्ययन करें तो प्रथा के साथ-साथ उसको नये स्वरूप में समाज ग्रहण करता है जिसको हम भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास के रूप में जानते हैं।

भारत में विधि का सृजन अधिनियम के रूप में आंग्ल विधि व्यवस्था के आधार पर ही हो पाया था इस अधिनियमित विधि का परिवर्तनशील आयाम भारत में देखने को मिला क्योंकि भारत में हिन्दू एवं मुस्लिम समुदाय को शासित करने के लिये वैयक्तिक विधि पृथक-पृथक रूप से कार्य करती रही जो कि निरन्तर रूप से आज भी प्रचलित है।

साथ ही इस इकाई से हमने प्राचीन भारत की विधि व्यवस्था व भारत में प्राचीन न्याय का प्रशासन किस प्रकार क्रियान्वित था उसको समझ सकें हैं।

उसी प्रकार से मध्यकालीन भारत का न्याय प्रशासन किस प्रकार से संचालित होता था उसका विस्तार से अध्ययन हम इस इकाई से कर सकें हैं।

इस इकाई के माध्यम से आंग्ल न्याय व्यवस्था किस प्रकार भारतीय विधि व्यवस्था में अपना योगदान दे पायीं और विधायन की उत्पत्ति उसके विकास साम्य और प्रथा आधारित विधि एवं विधि एवं विधायन के आलोचनात्मक परिक्षण को समझ सकें हैं।

इस प्रकार इस इकाई से हम भारत में विधि व्यवस्था अपने परिवर्तनगामी आयामों में धिरे-धिरे किस प्रकार होती गयी इसको पूर्ण तरीके से समझ चुके हैं।

3.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्नों के उत्तर –

1- रिक्त स्थान कि पूर्ती –

उत्तर –1- पुर्तगाली , उत्तर –2- गौतम धर्म सूत्र , उत्तर –3- 1774 , उत्तर – 4- रोम तथा ग्रीस।

2- बहु विकल्पीय प्रश्न –

उत्तर – 1- स , उत्तर – द , उत्तर – ब , उत्तर – अ

3.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

26. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
27. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर

28. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहबाद लॉ एजेन्सी
29. राम आहुजा- सामाजिक समस्यायें (2008)- रावल पब्लिकेशन दिल्ली
30. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावल पब्लिकेशन दिल्ली
31. डा0गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
32. प्रो0इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
33. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)-डा0 शैफाली यादव
34. डा0 कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
35. डा0आर0के0अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
36. डा0 इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.17-सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

5. सी0पी0 अरोरा-विधि अपराध अधिनियम (2010)- यूनिवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
6. प्रो0 इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
7. डा0 एस0के0 कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

- प्रश्न-1- प्राचीन भारतीय व्यवस्था एवं न्याय प्रशासन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?
- प्रश्न-2- आंग्ल न्याय व्यवस्था का भारतीय परिपेक्ष्य क्या है ? समझाईये ?
- प्रश्न-3- साम्य विधि क्या है ? इसकी उत्पत्ति एवं विकास को समझाईये ?
- प्रश्न-4- प्रथा आधारित विधि एवं विधायन का आलोचनात्मक परिक्षण कीजिए ?

एल-एल.एम. प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-2 धर्म और विधि
इकाई-1-धार्मिक साम्प्रदायिकता

इकाई की संरचना

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 धर्म और न्यायिक निर्वचन
 - 1.2.1 अन्तःकरण की स्वतन्त्रता:-
 - 1.2.2 धर्म का अबाधे मानने आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता
- 1.3 विभिन्न न्यायिक निर्वचन
- 1.4 धार्मिक कार्यों को प्रबन्ध की स्वतन्त्रता
- 1.5 साम्प्रदायिक हिंसा के सिद्धान्त
- 1.6 सारांश
- 1.7 सन्दर्भ सूची
- 1.8 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.0 प्रस्तावना

धार्मिक विभिन्नता भारतीय समाज की मुख्य विशेषता है साथ ही भारत का संविधान किसी धर्म विशेष को मान्यता नहीं देता है धर्म के स्वरूप में भारत निरपेक्ष है अर्थात् भारत धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है। भारत में प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को मानने तथा किसी भी रूप में ईश्वर की अराधना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। धर्म की यह स्वतन्त्रता केवल उसको मानने के लिए ही नहीं बल्कि उसका

प्रचार प्रसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान है। धर्म के इस निरपेक्षता व धर्म के प्रति समान आदर भाव के लिये भारतीय संविधान ही नहीं बल्कि अमेरिका संविधान का प्रथम संसोधन यह उपबन्धित करता है कि कांग्रेस किसी धर्म के स्थापना में या उसके स्वतन्त्र प्रयोग निषिद्ध करने के सम्बन्ध में कोई विधि नहीं बनायेगी। अमेरिकन सुप्रीम कोर्ट ने एवर्सन बनाम बोर्ड ऑफ एजुकेशन (1947) के मामले में इस पदावली की व्याख्या करते हुए इस अधिकार का उपर्युक्त अर्थ स्वीकार किया है। दोनों संविधानों में अन्तर केवल यह है कि जहां अमेरिकन संविधान में यह अधिकार बिल्कुल अनिर्बन्धित पदावली में घोषित किया गया है वहां भारतीय संविधान में इस पर निर्बन्धनों का भी उल्लेख किया गया है। भारतीय संविधान का अनु0 26 प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए धार्मिक कार्यों के प्रबन्धन की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। जैसे कि धार्मिक एवं पूर्त प्रयोजन के लिए संस्थाओं की स्थापना, अपने धार्मिक कार्य सम्बन्धि विषयों का प्रबन्ध आदि। अनु0 27 यह उपबन्धित करता है कि कोई भी किसी व्यक्ति, किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय की उन्नती के लिए कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा और साथ ही राज्य कर के रूप में एकत्रित किये गए जनता के धन को किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए खर्च नहीं कर सकता।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आज जान सकेंगे कि धर्म निरपेक्षता क्या है धर्म को मानने उसका प्रचार करने की भारतीय संविधान द्वारा जो अधिकार प्रदान किया गया है उसका न्यायिक आधार क्या है और धार्मिक स्वतन्त्रता पर क्या-क्या निर्वन्धन लगाये गये हैं, इसके साथ ही आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ सकेंगे:-

- धर्म और न्यायिक निर्वचन
- धार्मिक स्वतन्त्रता: संवैधानिक उपबन्ध न्यायिक आधार
- धर्म निरपेक्षता एवं पंथ निरपेक्ष राज्य
- धार्मिक स्वतन्त्रता पर निर्बन्धन

1.2 धर्म और न्यायिक निर्वचन

भारतीय संविधान में धर्म की कोई पृथक से परिभाषा नहीं दी गई है। धर्म के अर्थ को समझने के लिए विभिन्न न्यायालयों एवं भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समय-समय पर दिये गये निर्णयों का अध्ययन करने के पश्चात समझ सकते हैं। न्यायालयों के अनुसार धार्मिक स्वातन्त्र्य सैद्धान्तिक विश्वासों तक ही सीमित नहीं हैं। इसके अन्तर्गत धर्म के अनुसरण में किये गये कार्य भी है। धर्म या धार्मिक परिपाटी का आवश्यक भाग क्या है उसका निर्धारण न्यायालयों द्वारा विशिष्ट धर्मों के सिद्धान्तों के प्रति निर्देश से किया जायेगा और इसके अन्तर्गत ऐसी परिपाटीयां आती है जिन्हे समुदाय द्वारा धर्म का भाग समझा जाता है। यदि कोई व्यक्ति धार्मिक विचारों को दूसरे तक संप्रेषित करने की बजाय उसे धर्म परिवर्तन करने के लिए विवश करता है तो वह उसके अन्तःकरण की स्वतन्त्रता पर सीधा आघात करता है जो संविधान द्वारा वर्जित है। इसमें कर्मकाण्डों धार्मिक कार्यों, संस्कृति, उपासनाओं की पद्धतियों की गारन्टी है। जो धर्म के अभिन्न अंग है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन व्यक्ति को दो प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं:-

1. अन्तःकरण की स्वतन्त्रता

2. धर्म को अबाध मानने "आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता।

1.2.1 अन्तःकरण की स्वतन्त्रता

अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तात्पर्य आत्यान्त्रिक आन्तरिक स्वतन्त्रता से है जिसके माध्यम से व्यक्ति ईश्वर के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्धों को स्थापित कर सकता है। और जब यह स्वतन्त्रता ब्राह्म स्वरूप में व्यक्त की जाती है तो अन्तःकरण की स्वतन्त्रता में परिवर्तन हो जाता है। अनु0 25 (1) प्रत्येक नागरिक को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता की गारंटी करता है। वह केवल अपने विशेष धर्म को अनुसरण करने का अधिकार नहीं प्रदान करता है। इसमें किसी दूसरे व्यक्ति को अपने धर्म को परिवर्तन करने का मूल अधिकार सम्मिलित नहीं है यदि कोई व्यक्ति अपने धार्मिक विचारों को दूसरे ते संप्रेषित करने की बजाय उसे धर्म परिवर्तन करने के लिए विवश करता है तो वह उसके अन्तःकरण की स्वतन्त्रता पर सीधा आघात

करता है जो संविधान द्वारा वर्जित है। यदि विधानमंडल कोई ऐसी विधि बनाकर धर्म परिवर्तन का प्रतिषोध करता है तो वह संविधानिक होगा।

1.1.2. धर्म का अबाधे मानने आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता

धर्म द्वारा विहित कर्तव्यो कर्मकाण्डों और धार्मिक कृत्यों को प्रदर्शित करने की स्वतन्त्रता जो उसके धर्म द्वारा विहित किये गये गये हों धर्म के प्रचार करने का अर्थ है विचारों का दूसरे तक संप्रेषित करना और इसके लिए उनका प्रकाशन उनके लिए आवश्यक है। धर्म का प्रचार करने का अर्थ केवल आप अपने विचारों को दूसरे तक पहुंचाना ही नहीं बल्कि उसको मनवाने के लिए दुसरे व्यक्ति को समझाने बुझाने का भी अधिकार धर्म को अबाध मानने आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता से सम्मिलित है। समझाने बुझाने के अधिकार में किसी व्यक्ति पर धर्म को ग्रहण करवाने के लिए दबाव में नहीं लिया जा सकता है अर्थात् इसमें कोई दबाव का तत्व न हों साथ ही प्रचार करने के अधिकार में किसी भी व्यक्ति को अपना धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य करने का अधिकार शामिल नहीं है।

1.3 विभिन्न न्यायिक निर्वाचन

एम0 पी0 मित्तल बनाम भारत संघ 1983 (अरोविल आश्रम का मामला) उपर्युक्त मामले में आपात प्रावधान अधिनियम 1980 की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौति दिया कि इससे पिटशनरों के भारतीय संविधान द्वारा प्रदान मौलिक अधिकार धर्म की स्वतन्त्रता अनु0 25 एवं 26 के अन्तर्गत दिये गये धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का उल्लंघन होता है। श्री अरविन्द ने योग की एक नयी प्रणाली प्रतिपादित की और अपने नये प्रदर्शन के प्रचार प्रसार के लिए एक सोसाइटी बनायी जिसने पांडिचेरी में अरोविले आश्रम स्थापित किया जिससे अरविन्द के नये दर्शन एवं शिक्षा का प्रचार किया जा सके। सोसाइटी को सरकार व अन्य स्रोतों से अरोविले आश्रम में निर्माण एवं विकास के लिए दान से धन प्राप्त हुआ माँ की मृत्यु के पश्चात सोसाइटी के कुप्रबन्ध के सम्बन्ध में सरकार को अनेकों शिकायत मिली अतः केन्द्र सरकार ने उक्त अधिनियम पारित करके कुछ समय के लिए सोसाइटी का प्रबन्धन अपने हाथों में ले लिया उच्चतम न्यायालय ने 4:1 के बहुमत ये उक्त प्रकरण पर अपना निर्णय दिया कि श्री अरविन्द और उनकी

माँ का यह कथन की अरोविल एक धार्मिक संस्था नहीं है, सोसाईटी का बंगाल अधिनियम के अधीन पंजीकरण आदि से स्पष्ट है कि न तो सोसाईटी और न ही अरोविले आश्रम संस्थाएं हैं। अरविन्द की शिक्षा धार्मिक शिक्षा नहीं है। अतः सरकार द्वारा सोसाईटी और आश्रम का अधिग्रहण अनु0 25 व 26 द्वारा प्रदत्त अधिकार का उल्लंघन नहीं है। आगे उच्चतम न्यायालय ने कहा अरविन्द की शिक्षा उनका स्वयं का दर्शन है यह धार्मिक शिक्षा नहीं है, धर्मगुरुओं, आचार्यों, उद्धरण ग्रन्थों और समाचार एजेन्सीयों का मत है कि श्री अरविन्द की शिक्षा एक धार्मिक शिक्षा है, परन्तु इसका निर्णायक प्रमाण नहीं है और सोसाईटी की सदस्यता सबके लिए है और वह भी अपने धर्म के अस्तित्व को समाप्त किये बिना। इससे स्पष्ट है कि उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन एक विशिष्ट धर्म नहीं है। परन्तु यदि यह मान भी लिया जाए कि अरोविले आश्रम एक धार्मिक संस्था है तो भी अधिनियम उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता है। और उसके सम्पत्ति के प्रबन्धन को ही अपने हाथों में लेता है जिसे विनयमित करने की सरकार को अनु0 26 (B) में शक्ति प्राप्त है।

गुलाम कादर अहमद भाई मेनन बनाम सूरत नगर निगम (1998) के मामले के तथ्य निम्न हैं— इस वाद में मुम्बई प्रान्तीय नगर निगम अधिनियम 1949 की धारा 212 की विधि मान्यता को चुनौती दी गई थी। इसके अन्तर्गत राज्यों के सड़क चौड़ी करने के प्रयोजन के लिए गुजरात राज्य के सूरत जिले के अन्तर्गत राज्य ने सड़क चौड़ी करने के लिए एक प्रमुख सड़क पर स्थिति दो मस्जिदों के कुछ भाग को गिराने का आदेश दिया। उच्च न्यायालय ने इस्माइल फारुकी बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि संविधान के अनु0 25 व 26 में प्रदत्त धार्मिक स्वाधीनता का अधिकार राज्य को किसी धार्मिक स्थल या उसके किसी भाग को लोक प्रयोजन हेतु अधिग्रहण करने से वर्जित नहीं करता है। और सड़क को चौड़ी करने के उद्देश्य से उक्त मस्जिदों के कुछ भाग को गिराये जाने का आदेश विधि मान्य है।

धर्म निरपेक्षता राज्य की पूजा स्थल के प्रति आदरभाव दिखाने से नहीं रोकता है और विशेष रूप से जब वह अधिग्रहण की शक्ति का प्रयोग करते हैं धर्म निरपेक्षता की यही धारणा भारतीय संविधान में निहित है। धर्म के मामले में राज्य की केवल नकारात्मक भूमिका नहीं बल्कि सकारात्मक भूमिका है। इसी प्रकार का भारत में धर्म के बारे में एक महत्वपूर्ण बाद का निर्वचन इस्माइल फारुकी बनाम भारत संघ (1994)

अयोध्या कर मामला इस वाद में 6 दिसम्बर 1992 को विवादित बाबरी मस्जिद के ढहाये जाने के कारण देश में साम्प्रदायिक सौहार्द तथा लोक व्यवस्था बनाये रखने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार ने एक अध्यादेश जारी करके विवादित ढांचे के पास समस्त भूमि का अधिग्रहण कर लिया और मामले को अनु0 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय की राय के लिए सौंप दिया। यह अध्यादेश बाद में अधिनियम बन गया। पिटशनरों ने इस अधिनियम की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दिया कि वह पक्ष निरपेक्षता के विरुद्ध है और हिन्दू समुदाय को मुस्लिम समुदाय की अपेक्षा अधिक पक्ष लेता है क्योंकि उन्हे विवादित ढांचे में नमाज पढ़ने से वंचित करता है जबकि हिन्दुओं को वहां पूजा करने का अधिकार है। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि राज्य को अपनी संप्रभु शक्ति के प्रयोग में पूजा के स्थान जैसे मस्जिद मन्दिर और गिरजाघर को अधिग्रहण का अधिकार है। पूजा करने के अधिकार के अन्तर्गत किसी या हर स्थान पर पूजा करने का अधिकार शामिल नहीं है। अनु0 25 और 26 केवल उन धार्मिक प्रथाओं की सुरक्षा प्रदान करते हैं जो धर्म के आवश्यक तत्व हैं मस्जिद में नमाज पढ़ना इस्लाम धर्म का आवश्यक तत्व नहीं है। एक मुसलमान किसी भी स्थान पर नमाज पढ़ सकता है। अतः राज्य लोक व्यवस्था प्रेम व सौहार्दे बनाने हेतु मस्जिद का अधिग्रहण कर सकती है। पूजा करना एक धार्मिक कार्य है किन्तु एक विशेष स्थान पर पूजा करना जब तक कि उसका विशिष्ट महत्व न हो धर्म का आवश्यक भाग नहीं है। अतः भारत के संविधान के अनु0 25 व 26 का कोई उल्लंघन नहीं है।

धार्मिक स्वतन्त्रता संबंधी संवैधानिक उपबन्ध :-

भारत के संविधान भाग-3 में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत अनु0 25 एवं 26 धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में हैं।

अनु0 25(1) के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के उपबन्धों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म को अबोध मानने, अचारण करने और प्रचार करने का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु धर्म स्वतन्त्रता का यह अधिकार भी अन्य अधिकारों को भांती आत्यन्तिक अधिकार नहीं है। अनु0 25 (1) में ही सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता पर राज्य विधि बनाकर निर्बन्धन लगा सकते हैं।

संविधान में धर्म शब्द की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। इसके अर्थ को समझने के लिए हमें न्यायिक निर्णयों की सहायता लेनी होगी। उच्चतम न्यायालय द्वारा धर्म को बड़े अच्छे तरीके से परिभाषित किया गया है न्यायालय के अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता सैद्धान्तिक विश्वासों तक ही सीमित नहीं है। इसके अन्तर्गत धर्म के अनुसरण में किये गये कार्य भी है और इसमें कर्मकाण्डों धार्मिक कार्यों, संस्कृति और उपासनाओं की पद्धतियों की गारन्टी है। जो धर्म के अभिन्न है धर्म या धार्मिक परिपाटी का आवश्यक भाग क्या है, उसका निर्णय न्यायालयों द्वारा विशिष्ट धर्म के सिद्धान्तों के प्रति निर्देश से किया जायेगा और इसके अन्तर्गत ऐसी परिपारियां आती है जिन्हें समुदाय द्वारा धर्म का भाग समझा जाता है।

अनु0 25 के अधीन व्यक्ति को दो प्रकार के अधिकार प्राप्त है।

1.अन्तःकरण की स्वतन्त्रता

2.धर्म को अबाध मानने आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता

उपरोक्त दोनों बिन्दु धार्मिक स्वतन्त्रता को अनु0 25 के अन्तर्गत स्पष्ट करते हैं। मनुष्य अपने धार्मिक विश्वासों के लिए राज्य के प्रति उत्तरदायि नहीं है। ईश्वर की पूजा कोई जैसे भी चाहे कर सकता है। कानून किसी व्यक्ति को किसी विशेष पूजा पद्धति को अपनाने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है।

1.3पंथ निरपेक्षता एवं धर्म निरपेक्ष राज्य

पंथ निरपेक्ष राज्य की कोई परिभाषा भारतीय संविधान में नहीं दी गयी है। किन्तु साधारणतया पंथ निरपेक्ष राज्य से यह आशय होता है कि उस राज्य का अपना कोई घोषित विशेष धर्म नहीं है और न वह किसी धर्म विशेष को पोषित करता है वह धर्म के मामले में पूर्ण रूप से तटस्थ है। वह किसी भी धर्म का अनादर नहीं करता है और सभी धर्मावलम्बियों को अपने अपने धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता दता है।

एस0 आर0 बोम्मई बनाम भारत संघ (1994)

इस वाद में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि पंथ निरपेक्षता संविधान का आधारभूत ढांचा है राज्य सभी धर्मों और धार्मिक समुदाय के साथ समान व्यवहार करता है। धर्म व्यक्तिगत विश्वास की बात है उसे लौकिक क्रियाओं से नहीं मिलाया जा सकता। पंथ निरपेक्षता ईश्वर विराधी नहीं है।

भारत के सभी व्यक्तियों को समान रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता की गारन्टी प्राप्त है।

भारतीय संविधान भारत में पंथ निरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और सभी व्यक्तियों को समान रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता की गारन्टी करता है।

भारतीय संविधान का 42वां संसोधन अधिनियम 1976 द्वारा संसोधन उद्देशिका की यह पदावली— सम्पूर्ण, प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक पंथ निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य इस बात का स्पष्ट संकेत देती है कि यह संविधान भारत में पंथ निरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है और प्रस्तावना में भारतीय जनता द्वारा प्रकट किया गया। यह संकल्प, विचार, अभिव्यक्ति विश्वास धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता भारत के समस्त नागरिकों प्राप्त करने के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता का द्योतक है।

धर्म की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत अनु0 25 में दो प्रकार के प्राधिकार दिये गये हैं—अन्तःकरण की स्वतन्त्रता और धर्म की अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता।

भूरीनाथ बनाम जम्मू—कश्मीर राज्य AIR 1997 में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि किसी पूजा के स्थल पर प्रचलित प्रथा, रूढ़ि के अनुसार धार्मिक सेवा करना, धार्मिक विश्वास और अस्था का आवश्यक तत्व है जिसका विनिमयन राज्य नहीं कर सकता है किन्तु राज्य को पुजारी की नियुक्ति करने तथा वेतन निर्धारित करने का करने की शक्ति प्राप्त है।

1.4 धार्मिक कार्यों को प्रबन्ध की स्वतन्त्रता (Freedom to manage religious affairs)

सार्वजनिक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को—

1. धार्मिक और पूर्व प्रयोजनों (religious and charitable purposes) के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का ।
2. अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करने का ।
3. जगम व स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का तथा
4. ऐसी सम्पत्ति के विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा ।

इन अधिकारों का प्रयोग संगठित संस्थाओं को ही प्राप्त है। धार्मिक सम्प्रदाय का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो कि एक विशिष्ट नाम के अन्तर्गत संगठित होते हैं।

ब्रह्मचारी सिद्धेश्वर सहाय बनाम पश्चिम बंगाल राज्य 1995 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि रामकृष्ण मिशन एक धार्मिक सम्प्रदाय है अतः अधिकारों का दावा कर सकता है।

किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए कर न देने की स्वतन्त्रता (Freedom from taxes for promotion of any particular religion) :-

कोई भी व्यक्ति ऐसे करो को देने के लिए बाध्य नहीं है और न ही किया जायेगा जिनके आगम (Proceeds) किसी विशेष धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से विनियोजित किये गये हैं। अनु 27

राज्य पोषित शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या उपासना का प्रतिषेध (Prohibition of religious Instruction in state aided Institutions) अनु 28 के प्रावधान उपबन्धित करते हैं

1.राज्य निधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।

2.उपर्युक्त खण्ड 1 कि कोई बात ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू नहीं होगी जिसका प्रशासन राज्य करता हो, किन्तु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास के अधीन स्थापित हुई हो, जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।

संविधान के उपर्युक्त उपबन्धों से भारत के पंथ निरपेक्ष राज्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राज्य प्रत्येक धर्म को समान आदर देता है और प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को मानने या ईश्वर की उपासना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

1.5 धार्मिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध

धार्मिक स्वतन्त्रता पर भारत के संविधान के अन्तर्गत कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं यह प्रतिबन्ध

निम्नलिखित आधारों पर ही लगाये जायेंगे।

1.6 सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और जन स्वास्थ्य

धर्म के नाम पर या धार्मिक स्वतन्त्रता की आड़ में ऐसा कोई काम नहीं किया जा सकता है, जो सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और जन स्वास्थ्य के विरुद्ध हो जैसे जानवारों को काटना, शरीर का अभद्र प्रदर्शन छुआछुत मानव व्यापार आदि।

मेहमूद हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य AIR 1958 S.C. के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा बकरीद के त्यौहार पर गाय काटना धर्म का आवश्यक अंग नहीं है। इसी प्रकार से कलकत्ता उच्च न्यायालय ने मौलाना मुक्ति सईद मोहम्मद बनाम पश्चिम बंगाल राज्य AIR 1999 में अभिनिर्धारित किया है कि मुसलमानों के द्वारा अजान के समय माइक्रोफोन या लाउडस्पीकर के प्रयोग पर रोक लगाना। अनु0 25 का उल्लंघन नहीं है। क्योंकि अजान में लाउडस्पीकर का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है।

लात धर्म परिवर्तन (Forced conversion) धर्म प्रचार करने के अधिकार में किसी व्यक्ति को अपना धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य करने का अधिकार शामिल नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने धार्मिक विचारों को दूसरे विचारों तक पहुंचाने के बजाय उसे धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य करता है तो वह उसके अन्तःकरण की स्वाधीनता पर सीधा आघात करता है जो संविधान द्वारा वर्जित है। यदि विधान मण्डल कोई कानून बनाकर धर्मपरिवर्तन का निषेध करता है तो वह संवैधानिक होगा।

1.7 धर्म से सम्बद्ध आर्थिक वित्तीय राजनैतिक क्रियाओं का विनियमन

अनु0 25(2) के अनुसार लौकिक क्रियाओं क्रियान्वित करने के लिए राज्य नियम बना सकता है। परन्तु यह निर्धारण करना कठिन होता है कि कोर्न्स क्रियायें लौकिक होती हैं और कौन सी नहीं हैं।

पश्चिम बंगाल राज्य बनाम आशुतोष लहिडि AIR 1955 s.s.c.

समाज कल्याण और समाज सुधार के कार्य – समाज कल्याण और समाज सुधार के उद्देश्य से राज्य द्वारा बनाये गये कानून या किये गये कार्य किसी व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है।

स्टेट ऑफ बॉम्बे बनाम नरसू अपामाली ARI 1962- S.C. के मामले में न्यायालय ने बहुविवाह निषिद्ध करने वाले राज्य के अधिनियम को संवैधानिक घोषित किया है।

सैफुद्दिन सहाब बनाम बम्बई राज्य AIR 1962 S.C. के मामले में न्यायालय ने सति और देवदासी जैसी सामाजिक कुरूपियों को निषिद्ध करने वाले कानून को वैध घोषित किया है।

धार्मिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध (Restriction on religious Freedom) धार्मिक स्वतन्त्रता पर इस संविधान के अन्तर्गत निम्नलिखित आधारों पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं।

1.8 साम्प्रदायिक हिंसा (Communal Violence) अवधारणा

अवधारणा के स्तर पर हमें साम्प्रदायिक हिंसा और आंदोलनों (agitations), आतंकवाद (terrorism), राज्य प्रतिरोध और विद्रोह (insurgency) में अन्तर करना चाहिये। यह अन्तर छः स्तरों पर देखा गया है: जन संग्रहण (mass mobilization), हिंसा की मात्रा, सम्बद्धता की मात्रा, आक्रमण का लक्ष्य, दंगों का यकायक भड़क उठना (flare-ups), नेतृत्व और दंगों से पीड़ित व्यक्ति और उसके परिणामों के अनुभव।

आंदोलनों में जनसंग्रह (mass mobilization) जुलूसों, प्रदर्शनों और घेरावों के रूप में विरोध प्रकट करने और शिकायतों एवं मांगों को प्रस्तुत करने के लिये किया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा में व्यक्तियों का संग्रहण दूसरे समुदाय के विरुद्ध किया जाता है। इसमें आन्दोलनों के बारे में पहले से जानकारी नहीं मिलती (unpredictable), वे अनियंत्रित होते हैं और इनमें एक भावनात्मक रोष और हिंसात्मक अभिव्यक्ति होती है, जो दंगों का रूप धारण कर लेती है।

हिंसा की मात्रा (degree of violence) और हिंसा करने के तरीके भी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में भिन्न होते हैं। आतंकवाद में जनसमर्थन निष्क्रिय, अप्रकट और गुप्त होता है। यह मान कर कि राज्य विद्रोह असंभव है, कुछ ही ऐसे सक्रिय सशस्त्र उग्रवादी गुट होते हैं जो योजनाबद्ध तरीके से हिंसा का प्रयोग करते हैं। राज्य विद्रोह में जनसमर्थन राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये संगठित किया जाता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिक हिंसा में जन समर्थन सामाजिक व्यवस्था के प्रति रोष व्यक्त करने के लिये संगठित किया जाता है। राज्य विद्रोह में प्रशिक्षित गुट भाग लेते हैं जब कि साम्प्रदायिक दंगों में अप्रशिक्षित लोग लिप्त होते हैं। राज्य विद्रोह में जनता में प्रचार शासन के विरुद्ध होता है जबकि साम्प्रदायिक दंगों में वह सामाजिक पक्षपात, सामाजिक उपेक्षा और सामाजिक एवं धार्मिक शोषण के विरुद्ध होता है।

सम्बद्धता की मात्रा (degree of cohesion) भी साम्प्रदायिक हिंसा, आन्दोलन, आतंकवाद और राज्य विद्रोह में भिन्न-भिन्न होती है। साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति में सम्बद्धता की ऊंची मात्रा शत्रुता, तनाव

और जनसंख्या के धुवीकरण के कारण होती है। जबकि आन्दोलनों में वह स्वार्थ के युक्तिकरण पर आधारित है। आतंकवाद और राज्य विद्रोह में संबद्धता सक्रिय कार्यकर्ताओं और उनके नेता के बीच होती है; जनता में यह इसकी तुलना में कम होती है।

राज्य विद्रोह और आतंकवाद में आक्रमण का लक्ष्य सरकार होती है। आन्दोलनों में वह सत्ताधारी समूह होती है और साम्प्रदायिक हिंसा में 'शत्रु' समुदाय के सदस्य उसके लक्ष्य होते हैं। कभी-कभी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में हिंसा का प्रयोग सरकारी सम्पत्ति को लूटने और जलाने में किया जाता है। असामाजिक तत्वों को आन्दोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में खुली छूट मिल जाती है, परन्तु आतंकवाद और राज्य विद्रोह में ऐसा नहीं होता। राज्य विद्रोह और आतंकवाद में जिन शस्त्रों का उपयोग किया जाता है, वे आंदोलनों और साम्प्रदायिक झगड़ों में किये जाने वाले शस्त्रों से अधिक आधुनिक और परिष्कृत (sophisticated) होते हैं।

साम्प्रदायिक दंगों का यकायक भड़क उठना (flare-up) विशेष सामाजिक ढांचे तक सीमित रहता है, जबकि राज्य विद्रोह और आतंकवाद में यह अनियत और अनिश्चित होता है। आंदोलनों में उपद्रव किन्हीं विशेष ढांचों को लेकर नहीं होते, अपितु विदित वंचनों और व्यक्तियों के संगठन पर आधारित होते हैं।

आतंकवाद राज्य विद्रोह और आंदोलनों में नेतृत्व आसानी से पहचाना जा सकता है परन्तु साम्प्रदायिक दंगों में सदैव नहीं। साम्प्रदायिक दंगों में ऐसा कोई नेतृत्व नहीं होता जो दंगे की स्थिति को नियन्त्रित कर सके अथवा उसे रोक सके। दूसरी ओर आंदोलनों, आतंकवाद और राज्य विद्रोह में जो कुछ होता है, वे नेताओं के निर्णय के अनुरूप होता है और स्थिति पर उनका प्रभावी नियंत्रण रहता है।

अन्त में, साम्प्रदायिक हिंसा के परिणाम (aftermath) होते हैं: तीव्र शत्रुता, पूर्वाग्रह और एक समुदाय के दूसरे के प्रति पारस्परिक सन्देह। आन्दोलनों में मानव हानि तुलनात्मक दृष्टि से कम होती है यद्यपि सम्पत्ति की कभी-कभी अधिक हानि हो जाती है। जब आंदोलनों में समझौता हो जाता है तो सरकारी एजेन्सियों के विरुद्ध वैरभाव भी समाप्त हो जाता है और बदले की भावना भी कुछ समय पश्चात् चली जाती है। आतंकवाद में पीड़ितों में से अधिकांश निर्दोष होते हैं। वे उग्रवादियों के प्रति निष्क्रिय रहते हैं और निष्क्रिय व्यवहार से वे स्वयं को अधिक सुरक्षित समझते हैं। पीड़ित व्यक्तियों में प्रतिशोध की भावना हो ही नहीं सकती क्योंकि उग्रवादी गुमनाम होते हैं और संगठित रूप से परिष्कृत शस्त्रों से लैस होते हैं। राज्य-विद्रोहों में पीड़ित व्यक्तियों में अधिकांश सुरक्षा बलों के सदस्य या सरकारी कर्मचारी होते हैं जो राज्य विद्रोह के लिये प्रत्युपायों (counter-measures) में सहायता करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक हिंसा प्रमुख रूप से घृणा, द्वेष और प्रतिशोध पर आधारित है। अब हम साम्प्रदायिक हिंसा की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

1.9 साम्प्रदायिक हिंसा के सिद्धान्त (Theories of Communal Violence)

साम्प्रदायिक हिंसा एक सामूहिक हिंसा है। जब समुदाय के लोगों का एक बड़ा भाग अपने सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल हो जाता है या यह महसूस करता है कि उनके विरुद्ध भेदभाव हो रहा है और उन्हें समान अवसरों से वंचित रखा जा रहा है, तो उसमें कुण्डा और मोहभंग की भावनाएं जागृत हो जाती हैं। यह सामूहिक कुण्डा [जिसे फायराबेन्ड्स (Feierabends) और नेसवोल्ड (Nesvold) ने 'नियमित कुण्डा' (Systematic Frustration) कहा है] सामूहिक हिंसा को जन्म देती है। फिर भी समस्त समुदाय हिंसात्मक विरोध प्रदर्शित नहीं करता। दरअसल में असंतुष्ट व्यक्ति जो सत्ता में होने वाले समूह या सत्ता में होने वाले अभिजनों (जिनके आचरण के विरुद्ध वे विरोध करते हैं) के विरुद्ध जो कार्यक्रम आयोजित करते हैं वह प्रायः अहिंसात्मक होता है। वह केवल प्रतिवादियों का एक छोटा सा दल ही होता है जो अहिंसा को अप्रभावी मानता है और संघर्ष की सफलता के लिये हिंसा को अत्यावश्यक समझता है। यही गुट अपनी विचारधारा की शक्ति की पुष्टि करने के लिये प्रत्येक अविचारित (precipitating) अवसर का, हिंसा का प्रयोग करने के लिये उपयोग करता है।

यह उप-समूह, जिसका हिंसात्मक आचरण होता है, समस्त समुदाय या असंतुष्ट व्यक्तियों के समूचे समूह का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इस उप-समूह के आचरण का अधिकांशतया समूह के बाकी व्यक्ति साफ-साफ तरीके के समर्थन नहीं करते।

प्रश्न यह उठता है कि 'कुछ व्यक्तियों का समूह' किस कारणवश हिंसात्मक हो जाता है? सामूहिक हिंसा पर महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रस्तावों (propositions) में से दो ये हैं: (i) यह उत्तेजना के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, और (ii) यह उन नियमाचारों से सामंजस्य रखता है जो इसके उपयोग को समर्थन देते हैं। सिद्धान्तों का दो श्रेणियों में वर्गीकरण हो सकता है: (अ) सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के स्तर पर, और (ब) सामाजिक-सांस्कृतिक या समाज वैज्ञानिक विश्लेषण के स्तर पर। पहली श्रेणी में कुण्डा-आक्रमण (Motive-Attribution) सिद्धान्त, विकृति (Perversion) सिद्धान्त, अभिप्राय आरोपण (Motive-Attribution) सिद्धान्त, और आत्मनोवृत्ति (self-attitude) सिद्धान्त को सम्मिलित किया जा सकता है, जब कि दूसरी श्रेणी में व्यवस्था तनाव (System Tension) सिद्धान्त, व्याधिकी (Anomie) सिद्धान्त, हिंसा की उपसंस्कृति (Sub-culture of violence) का सिद्धान्त और सामाजिक-सीख (Social Learning) सिद्धान्त को सम्मिलित किया जा सकता है। अधिकतर समाजशास्त्री मानते हैं कि उपरोक्त सिद्धान्त साम्प्रदायिक दंगों की सामूहिक हिंसा के तथ्य को समझाने में विफल रहे हैं। दो सिद्धान्त जो अधिक ग्राह्य हैं की विवेचना निम्नलिखित है। यह सिद्धान्त राम आहूजा द्वारा विकसित किए गए हैं तथा सामाजिक संरचनात्मक स्थितियों के समाज वैज्ञानिक विश्लेषण पर केन्द्रित हैं।

1.10 सारांश

जिन परिस्थितियों के कारण सामूहिक साम्प्रदायिक हिंसा होती है वे हैं: तनाव, पद की कुण्ठा (status frustration), और विभिन्न प्रकार की संकट-स्थितियाँ। हिंसा का उपयोग आक्रामक (aggressors) इसलिये करते हैं क्योंकि वे असुरक्षा और चिन्ता से ग्रसित होते हैं। इन भावनाओं और चिन्ताओं की उत्पत्ति उन सामाजिक अवरोधों से होती है जो दमनात्मक सामाजिक व्यवस्थाएँ और सत्ताधारी अभिजनों (power elite) द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इन (भावनाओं) की उत्पत्ति उस व्यक्ति की पृष्ठभूमि और पालन-पोषण से भी होती है जिसने उस (व्यक्ति) के लिये कठिनाईयाँ उत्पन्न की हैं और जो उस (व्यक्ति) के सामाजिक प्रतिमानों और सामाजिक संस्थाओं के प्रति असंगत और अवास्तविक मनोवृत्तियों की प्रवृत्ति को और बिगाड़ देती हैं। यह सिद्धान्त आक्रामक के व्यवहार में तीन कारकों को भी ध्यान में रखता है, अर्थात् समायोजन (adjustment) (पद में), लगाव (attachment) (अपने समुदाय के प्रति) और वचनबद्धता (commitment) (मूल्यों के प्रति) और साथ में सामाजिक वातावरण (जिसमें व्यक्ति/आक्रामक रहते हैं) और व्यक्तियों (आक्रामकों) का समाजीकृत व्यक्तित्व। उनका सैद्धान्तिक मॉडल इस प्रकार महत्व देता है सामाजिक व्यवस्था को, आक्रामकों की व्यक्तिगत व्यक्तित्व संरचना को, और समाज के उप-सांस्कृतिक संरूपों को जिनमें व्यक्ति हिंसा का उपयोग करते हैं। सामाजिक व्यवस्था में, उन तनावों और कुण्ठाओं को सम्मिलित करता है जो समाज में सामाजिक संरचनाओं (परिवार, मित्र-समूह, समुदाय, आदि) के फलस्वरूप होते हैं। व्यक्तित्व संरचना में, व्यक्तित्व आक्रामकों के समायोजन, लगाव और वचनबद्धता को सम्मिलित करता है; और उप-सांस्कृतिक संरूपों में उन मूल्यों को सम्मिलित करता है जो समाज के नियन्त्रण में एक साधन के रूप में काम करते हैं।

उनकी धारणा है कि कुसमायोजन (maladjustment), विरक्ति (non-attachment) और अवचनबद्धता (non-commitment) के कारण एक सापेक्षिक वंचना (relative deprivation) की भावना उत्पन्न हो जाती है। सापेक्षिक वंचन का अर्थ है एक समूह की अपेक्षाओं और उसकी क्षमताओं के बीच अनुभव की गई विसंगति (क्षमताओं का अर्थ है व्यक्तियों/समूहों का यह सोचना कि समान अवसर और न्यायसंगत साधन मिलने की दशा में वे भी अपनी अपेक्षाओं को प्राप्त करने या बनाये रखने में सक्षम हैं)। यहां महत्वपूर्ण शब्द है 'अनुभव की गई' (आक्रामकों के द्वारा); इसलिये आचरण के भिन्न रूपभेद या सापेक्षिक वंचना के कारण सदैव हिंसा नहीं भड़कती।

भारत के अनेकवादी समाज में अनेक धार्मिक समुदाय हैं जैसे— हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध तथा जैन आदि। ईसाइयों, बौद्धों और जैनों के झगड़े अत्यल्प हैं परन्तु हिन्दू तथा मुसलमानों एवं हिन्दू तथा सिक्खों में साम्प्रदायिक तनाव के अनेकों उदाहरण हैं। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के स्रोत धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं सामाजिक अधिक हैं। हिन्दू मुस्लिम विद्वेष अधिक व्याप्त है जिसके अनेक

कारक रहे हैं जैसे— मुस्लिम आक्रमण, हिन्दू मन्दिरों पर मस्जिदों का निर्माण, अंग्रेजी शासन की फूट डालो की नीति, मुस्लिम अलगाववाद की नीति, मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति, मुस्लिम राजनीतिक दलों की आक्रामकता, हिन्दुओं की असहनशीलता आदि। हिन्दू-सिख संबंधों में तनाव खलिस्तान की माँग तथा भारतीय प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की हत्या के सन्दर्भ में अधिक रहा है। वर्तमान में हिन्दू-सिख संबंध सामान्य हैं।

सापेक्षिक वंचन (एक समूह का) तब होता है जब (i) अपेक्षाएं बढ़ती हैं जब कि क्षमतायें वही रहती हैं या उनमें गिरावट आ जाती है या (ii) अपेक्षाएं वही रहती हैं और सक्षमताओं का ह्रास हो जाता है। क्योंकि अपेक्षाएं और सक्षमताएं बोध (perception) पर निर्भर होती हैं इसलिये एक समूह के मूल्यों का महत्वपूर्ण संबंध होता है (अ) कि किस तरीके से वह समूह वंचन का अनुभव करेगा, (ब) वह लक्ष्य जिसको वह (सापेक्षिक वंचन) अपना निशाना बनायेगा, और (स) वह रूप जिसमें वह उसे प्रदर्शित करेगा। चूंकि प्रत्येक समूह/व्यक्ति भिन्न-भिन्न शक्तियों से प्रभावित होता है इसलिये प्रत्येक समूह/व्यक्ति हिंसा के प्रति या सामूहिक साम्प्रदायिक हिंसा के प्रति अपनी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त करेगा।

सामाजिक बन्धन सिद्धान्त आवश्यक रूप से हिंसा का अभिजन-सिद्धान्त नहीं है जहां कि एक छोटा समूह, जो विचारधारा के संदर्भ में बेहतर है, हिंसा को फैलाने में पहल करता है। यह समूह यह निर्णय भी लेता है कि उसका किस प्रकार सम्पूर्ण कुण्ठित समूह (जिसका पक्षधर बनकर वह विरोध को हिंसात्मक रूप से मुखर करता है) की भलाई के लिये काम में लाया जाये। इसके अतिरिक्त यह छोटा समूह कुण्ठित जनता के व्यापक सामूहिक कार्य पर निर्भर नहीं रहता है।

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी— भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. तेजस्कर—ओजस्कर पाण्डेय—समाज कार्य दर्शन (2009)— भारत बुक सेन्टर
3. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)—डा० शैफाली यादव
4. मलिक और रावल—लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)—इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
5. राम आहुजा— सामाजिक समस्यायें (2008)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली

6. राम आहुजा—भारतीय समाज (2007)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
7. डा०गणेश पाण्डे—अपराध शास्त्र (2008)— राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो०इन्द्रजीत सिंह—विधि शास्त्र(2006)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
9. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
10. डा०आर०के०अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा० इकबाल सिंह—मुस्लिम विधि (2001)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.11.1 —सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

12. सी०पी० अरोरा—विधि अपराध अधिनियम (2010)— यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
13. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—श्रमिक विधियां—(2005)—सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।
14. डा० एस०के० कपूर— मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)—सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) भारत में साम्प्रदायिकता पर एक निबन्ध लिखें।
- (3) साम्प्रदायिक हिंसा की अवधारणा अन्य समान अवधारणाओं से किस प्रकार भिन्न है?
- (5) साम्प्रदायिक हिंसा के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

एलएलओएमओ प्रथम वर्ष

भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन (प्रथम प्रश्न पत्र)

खण्ड-2 धर्म एवं विधि

इकाई-2 धार्मिक अल्पसंख्यक एवं विधिक सुधार

इकाई संरचना

- 2.0 प्रस्तावना
- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 भारतीय संविधान के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के अधिकार
 - 2.2.1 ग्यारह न्यायाधीशों की पीठ का निर्णय
 - 2.2.2 सात न्यायाधीशों की पीठ का इनामदार वाद
 - 2.2.3 अनु0 29 तथा 30
 - 2.2.4 उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनर्विचार की आवश्यकता
- 2.3 अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग अधिनियम, 1992
- 2.4 धर्म निरपेक्षता के परिप्रेक्ष्य में विधिक सुधार
- 2.5 वभिन्न आयोगों के प्रयास
- 2.6 सारांश
- 2.7 सन्दर्भ सूची
 - 2.7.1 सहायक सन्दर्भ सूची
- 2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

डॉ० अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था बहुमत के लिए यह उचित नहीं है कि वह अल्पसंख्यकों की विद्यमानता अस्वीकार करें। उतना ही अनुचित यह होगा कि अल्पसंख्यक अलग थलग बने रहें। इसका ऐसा हल निकाला जाना चाहिए जिससे दो प्रयोजन सिद्ध हों। प्रारंभ में तो अल्पसंख्यकों के अस्तित्व को मान्यता दी जानी चाहिए किन्तु हल ऐसा होना चाहिए कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक आगे चलकर एक दिन एक दूसरे में विलीन हो जाएं।

पं० नेहरू के उद्गार भी इसी प्रकृति के थे। मेरे विचार में जैसा हमारा देश भूतकाल में चलता रहा है और संरक्षण के नाम पर अवरोध बनाए जाते रहे हैं वैसा ही चलने देना ठीक नहीं होगा। वस्तुतः किसी अवरोध से जो अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों में अलग करता है किसी अल्पसंख्यक समाज या समूह को कोई संरक्षण नहीं मिलता। इससे वे अस्थायी रूप से पृथक् समूह बन जाते हैं और देश के अन्य समूहों के साथ निकट आने की प्रवृत्ति रूक जाती है। पंडित नेहरू कहते थे कि धर्मनिरपेक्षता की सफलता बहुसंख्यकों की सोच पर नहीं अपितु अल्पसंख्यकों की अनुभूति पर निर्भर करता है।

शिक्षा और नौकरी में भेदभाव के अतिरिक्त इस अनुभव का प्रदर्शन साम्प्रदायिक दंगों के दौरान होता है। इस बात के पर्याप्त उदाहरण हैं कि कई बार साम्प्रदायिक दंगों के दौरान राज्य प्रशासन तंत्र भी निष्पक्ष नहीं रहते हैं। इन्हें कानून एवं व्यवस्था बहाल करने के प्रति धर्मनिरपेक्ष तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश वे अल्पसंख्यकों को पीड़ित करने में तत्पर रहते हैं। भारतीय समुदायों में नफरत और भेदभाव, ब्रितानी शासन तथा पाकिस्तान निर्माण के प्रयास की देन है। अन्यथा इन सबसे जूझते हुए धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास से भारत की जनता क्षुद्र विचारों से ऊपर उठती और भारतीयता के समान सूत्र में आबद्ध हो जाती। राज्य द्वारा एक ओर धर्मनिरपेक्षता को अपनी नीति घोषित करने तथा दूसरी ओर अपनी समस्त गतिविधियों में धर्म की दखलअंदाजी करने से धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की स्थापना का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता है। वस्तुतः धर्म निरपेक्षता की सफलता के लिए व्यापक धर्मनिरपेक्ष विश्वदृष्टि का होना आवश्यक है। पश्चिमी दुनिया में भी धर्मनिरपेक्ष प्रक्रियाओं को अपनाने से ही धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना हो सकी है। भारत में धर्म निरपेक्षता के दृष्टिकोण से कुछ संवैधानिक उपबन्ध किए गए हैं। न्यायिक निर्णयों एवं आयोगों व समितियों ने भी धर्म निरपेक्षता के सुनिश्चितीकरण में योगदान दिया है।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-II की इकाई-4 का उद्देश्य है कि आप धार्मिक अल्पसंख्यकों के संबंध में किए गए ससंवैधानिक प्राविधानों से परिचित हो सकें तथा धर्म निरपेक्षता हेतु किए जाने वाले विधिक सुधारों को भी

समझ सकें। संक्षेप में उपरोक्त इकाई का उद्देश्य है कि आप निम्नलिखित बिन्दुओं को आत्मसात कर सकें।

- भारतीय संविधान के अनु0 29 तथा 30 के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के अधिकार
- अल्पसंख्यकों से संबंधित महत्वपूर्ण न्यायिक निर्णय
- अल्पसंख्यक संस्थाओं का विनियमन
- अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग
- समान नागरिक संहिता

2.2 भारतीय संविधान के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के अधिकार

भारतीय संविधान को अनुच्छेद 20 और 30 अल्पसंख्यकों को कुछ अधिकार प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 30 विशेष रूप से उल्लेख करता है कि अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। ऐसी संस्थाओं को सामान्यतया अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था कहा जाता है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अल्पसंख्यक कौन है और कौन सी संस्था अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था है इन प्रश्नों का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है।

इस विषय पर केरल शिक्षा विधेयक (1957) से लेकर सेंट स्टीफन्स कालेज (1992) तक बहुत से निर्णय हुए जिन पर विधिवेत्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ है। फिर भी इन दो अभिव्यक्तियों की कोई स्पष्ट परिभाषा सामने नहीं आई है। इन विनिश्चयों का एक दुखद प्रभाव यह है कि अल्पसंख्यकों की बहुसंख्यकों की तुलना में अधिक अधिकार दिए जा रहे हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक जार्ज ओरविल के मुहावरे में कहें तो अल्पसंख्यकों को अधिक समान बना दिया गया है। इससे अल्पसंख्यकवाद का जन्म हुआ। यही नहीं हिन्दू समाज के कुछ संप्रदायों ने भी विवश होकर यह मांग की कि उन्हें अल्पसंख्यक का दर्जा दिए जाए। उच्चतम न्यायालय ने रामकृष्ण मिशन के अल्पसंख्यक होने के दावे को अस्वीकार करते हुए यह कहा कि स्वामी रामकृष्ण और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने जो उपदेश दिया था वह हिन्दू धर्म से भिन्न कोई धर्म नहीं था। वह हिन्दू धर्म ही था। उद्देशिका में राष्ट्र की एकता और अखंडता का उद्घोष है। अनुच्छेद 14 में समता की प्रत्याभूति है। अनुच्छेद 15 धर्म के आधार पर विभेद को प्रतिषिद्ध करता है। फिर भी हमारे देश में यह स्थिति है कि अल्पसंख्यकों का अलग बने रहने और राष्ट्र की मुख्यधारा में न जुड़ने में निहित स्वार्थ है। अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार हैं जो बहुमत वाले हिन्दू समाज को नहीं। विभाजन के मार्ग से एकता की प्राप्ति नहीं होती। अल्पसंख्यकों के प्रति न्याय करने का अर्थ बहुसंख्यकों के प्रति अन्याय करना नहीं है।

उच्चतम न्यायालय ने (5 न्यायाधीशों की पीठ) 1993 में निम्नलिखित प्रश्न विशालतर न्यायपीठ को निर्दिष्ट किए:

1. अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यक अभिव्यक्ति से क्या अभिप्रेत है और उसकी अंतर्वस्तु क्या है?
2. अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था से क्या अभिप्रेत है और कोई संस्था अल्पसंख्यक है या नहीं इसको जांचने की कसौटी क्या है?
3. क्या सेंट स्टीफन्स का निर्णय सही है?

सेंट स्टीफन्स में यह अभिनिर्धारित हुआ कि राज्य या विश्वविद्यालय यह उपबंध नहीं कर सकता कि अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था में प्रवेश गुणागुण के आधार पर दिया जाएगा। न्यायपीठ को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह निर्णय गलत था। न्यायपीठ को यह निदेश उचित नहीं जान पड़ा कि अल्पसंख्यक संस्थाएं कुल स्थानों के 50 प्रतिशत तक अपने समुदाय के व्यक्तियों को प्रवेश दे सकती हैं।

तदनुसार मार्च 1994 में 7 न्यायाधीशों की एक पीठ गठित की गई थी। इस पीठ ने 7 प्रश्न बनाए। 1997 में कुछ अन्य पक्षकार भी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुए। उस न्यायापीठ ने मामले को 11 न्यायाधीशों को विशालतर पीठ को निर्दिष्ट किया। 1995 में वह मामला 11 न्यायाधीशों की पीठ के समक्ष रखा गया। किन्तु कुछ सप्ताह बाद न्यायपीठ विघटित कर दी गई।

2.2.1 ग्यारह न्यायाधीशों की पीठ का निर्णय

लंबी प्रतीक्षा के बाद उच्चतम न्यायालय की 11 न्यायाधीशों की पीठ ने इस विषय की सुनवाई करके सन् 2002 में टी0एम0ए0 पाई बनाम कर्नाटक राज्य में अभिनिर्धारित किया: शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करने और उन्हें प्रशासित करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक का है

1-[अनु019(1)(छ) और 26]। यह अधिकार अल्पसंख्यकों को विनिर्दिष्ट रूप से अनुच्छेद 30 के अधीन दिया गया है। ये अधिकार केवल अल्पसंख्यकों के नहीं हैं। ये सबको उपलब्ध हैं।

2. "भाषिक अल्पसंख्यक" और "धार्मिक अल्पसंख्यक" कौन हैं इसकी अवधारणा करने के लिए राज्य को इकाई मानना होगा।

3. न्यायपीठ ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि जहां किसी धर्म के मानने वाले बहुसंख्यक हैं वहां क्या उस धर्म की कोई शाखा या संप्रदाय अल्पसंख्यक की प्रास्थिति का दावा कर सकता है।

4. इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया गया कि वह कसौटी क्या हो जिस पर परीक्षा करके यह जांचा जा सके कि कोई शिक्षा संस्था अल्पसंख्यक संस्था है या नहीं।

5. अनु 30 के अधीन अल्पसंख्यकों के अधिकार में वृत्तिक संस्थाएं (इंजीनियरी, आयुर्विज्ञान आदि) भी आती हैं।

6. जिन अल्पसंख्यक संस्थाओं को राज्य से वित्तीय सहायता नहीं मिलती है उनमें छात्रों के प्रवेश को राज्य या विश्वविद्यालय विनियमित नहीं कर सकता है किंतु यह अर्हताएं और पात्रता की न्यूनतम शर्तें विहित कर सकता है क्योंकि यह विद्या के स्तर के हित में है।

7. राज्य से सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था को अल्पसंख्यक वर्ग के छात्रों को प्रवेश देने का

अधिकार है किन्तु राज्य सरकार उससे यह अपेक्षा कर सकती है कि युक्तियुक्त संख्या में अन्य छात्रों को

भी प्रवेश दिया जाए। युक्तियुक्त संख्या क्या होगी यह संस्था किस प्रकार की है, क्या पाठ्यक्रम है, और

अल्पसंख्यकों की क्या आवश्यकता है, यह ध्यान में रखकर तय किया जाएगा।

8. अल्पसंख्यक वर्ग के बीच प्रवेश गुणागुण के आधार पर ही किया जाएगा।

9. सहायता प्राप्त व्यावसायिक संस्थाओं की दशा में राज्य यह विहित कर सकता है कि उन्हीं व्यक्तियों को प्रवेश दिया जाएगा जो सामान्य प्रवेश परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं।

10. अल्पसंख्यक संस्था प्रवेश के लिए अपनी स्वयं की प्रक्रिया या पद्धति अपना सकती है किन्तु यह प्रक्रिया ऋजु और पारदर्शी होनी चाहिए। व्यावसायिक और उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश गुणागुण के आधार पर ही होना चाहिए।

11. राज्य यह उपबन्ध कर सकता है कि सहायता प्राप्त संस्थाओं में समाज के दुर्बल वर्गों का ध्यान रखा जाए।

12. जिन संस्थाओं को सहायता नहीं दी जाती है उन पर नियंत्रण न्यूनतम होना चाहिए। बोर्ड या विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता के लिए या संबद्ध करने के लिए जो शर्तें रखी जाती हैं उनका अनिवार्यतः पालन होना चाहिए। किन्तु शिक्षकों और अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति प्रबंधन कर सकेगा और वही उन पर नियंत्रण रख सकेगा। राज्य विनियम बनाकर शिक्षकों और प्रधानाचार्यों को न्यूनतम अर्हताएं और उनकी सेवा की शर्तें विहित कर सकता है।

13. बिना सहायता वाली संस्थाएं कुछ भी फीस प्रभारित कर सकती हैं किन्तु कोई भी संस्था प्रतिव्यक्ति (केपिटेशन) फीस नहीं ले सकती।

14. सेंट स्टीफन महाविद्यालय, के निर्णय का आधार सही है किन्तु प्रवेश के लिए कठोर प्रतिशत संख्या नहीं तय की जा सकती। (इसमें 50% स्थान अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित रखने की छूट दी गई थी। इसे अब समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार इसे भागतः उलट दिया गया)।

15. उन्नीकृष्णन (1992) में जो स्कीम बनाई गई वह संविधान विरुद्ध थी। किन्तु यह सिद्धांत उचित है कि प्रतिव्यक्ति फीस नहीं हो और शिक्षा का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं हो। (इस निर्णय को भी भागतः उलट दिया गया)।

टी0एम0ए0 पाई और इस्लामिक एकेडमी (2003) के पश्चात् भी यह प्रश्न कि क्या अल्पसंख्यक संस्था प्रवेश के लिए परीक्षा ले सकती है या नहीं और कुछ अन्य प्रश्नों का उत्तर भी स्पष्ट नहीं थे। 2004 में ये प्रश्न एक वृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट किए गए हैं।

2.2.2 सात न्यायाधीशों को पीठ का इनामदार का वाद

पाई फाउंडेशन, इस्लामिक एकेडमी और अन्य निर्णयों में जो अभिनिर्धारित किया गया था उसमें स्पष्टता नहीं थी। उनसे उत्पन्न संदेहों का निराकरण करते हुए मु0 न्या0 श्री लाहोटी ने पी0ए0 इनामदार (2005) के वाद में 7 न्यायाधीशों की पीठ की ओर से अनेक बिंदुओं को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किए:

1. भाषाई या धार्मिक अल्पसंख्यक कौन हैं यह राज्य की जनसंख्या के आधार पर तय होगा।

2. अल्पसंख्यक संस्थाओं को 3 प्रवर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) वे संस्थाएं जिन्हें सहायता या मान्यता नहीं चाहिए

(ii) वे संस्थाएं जिन्हें सहायता चाहिए

(iii) वे संस्थाएं जिन्हें केवल मान्यता चाहिए सहायता नहीं

प्रवर्ग (i) की संस्थाएं बिना किसी हस्तक्षेप के अपने अधिकार का प्रयोग कर सकती हैं। प्रवर्ग (ii) और

(iii) पर शर्तें और निर्बंधन लगाए जा सकते हैं।

3. राज्य, पारदर्शिता और गुणागुण के आधार पर प्रवेश सुनिश्चित करने के लिए हस्तक्षेप कर सकता है।

4. प्रशासन के अधिकार में कुप्रशासन का अधिकार सम्मिलित नहीं है।
5. उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले, विशेषकर तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा देने वाले संस्थान, एक भिन्न वर्ग में आते हैं।
6. शिक्षा संस्था स्थापित करने का अधिकार उपजीविका का अधिकार है। इसे अनुच्छेद 19(1)(छ) का संरक्षण है।
7. अनिवासी भारतीयों के लिए सीमित संख्या में स्थान, 15% से अनधिक, उपलब्ध कराए जा सकते हैं।
8. यदि संस्था सहायता—प्राप्त नहीं है तो वह अल्पसंख्यक हो या गैर अल्पसंख्यक, राज्य उस पर आरक्षण की नीति लागू नहीं कर सकता है।
9. संस्थाओं के समूह के लिए एक ही प्रवेश परीक्षा लेना अनुचित नहीं है।
10. व्यावसायिक संस्थाओं में प्रतिमुंड (कैपिटेशन) फीस नहीं ली जा सकती। सभी संस्थाओं में प्रवेश के लिए एक ही द्वार तय किया जा सकता है।
11. फीस की संरचना युक्तियुक्त होना चाहिए। लाभखोरी पर अंकुश होना चाहिए।

न्यायपीठ को ऐसा प्रतीत हुआ कि अब भी पाई फाउंडेशन से उठे कुछ प्रश्न अनुत्तरित हैं और उनका उत्तर पाई फाउंडेशन से अधिक संख्या वाली पीठ द्वारा दिया जाना चाहिए। किंतु यह कार्य भावी पीढ़ी पर छोड़ दिया गया।

2.2.3 अनु0 29 तथा 30

अनुच्छेद 29(1) अल्पसंख्यकों के संस्कृति संबंधी अधिकारों की रक्षा के लिए है। यदि नागरिकों के किसी भाग की कोई विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है तो उन्हें उसे बनाए रखने का अधिकार है। भाषा, लिपि और संस्कृति को प्रभावी रूप से संरक्षित रखने में शिक्षा संस्थाओं का योगदान महत्वपूर्ण होता है। इसलिए इस अनुच्छेद से शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार निःसृत होता है। यह अधिकार अनु0 30(1) द्वारा अभिव्यक्त रूप से दिया गया है। किन्तु यह अधिकार अनु0 29 के खंड (2) में उल्लिखित मर्यादाओं के अधीन है। यह खंड, (क) राज्य द्वारा पोषित या (ख) राज्य—निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी आधार पर वंचित करने का प्रतिषेध करता है।

अपनी भाषा का संरक्षण करना सांविधानिक अधिकार है। नागरिकों के एक अनुभाग की भाषा के संरक्षण के लिए राजनीतिक आंदोलन को निर्वाचन विधि के अधीन भ्रष्ट आचरण नहीं बनाया जा सकता।

अनुच्छेद 29 का खंड (1) एक समूह के अधिकार की रक्षा करता है किन्तु खंड (2) प्रत्येक नागरिक को अधिकार देता है। यह आवश्यक नहीं है कि नागरिक समूह में हो।

अनुच्छेद 29(2) वहां लागू नहीं होता जहां किसी व्यक्ति को इस आधार पर प्रवेश देने से इंकार किया जाता है कि उसके पास अपेक्षित अर्हताएं नहीं हैं या उसने विहित मात्रा में अंक प्राप्त नहीं किए हैं या उसने विहित समय के भीतर आवेदन नहीं किया था।

अल्पसंख्यकों को शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार अनु0 30(1) से प्राप्त होता है। अल्पसंख्यक (क) धार्मिक हो सकते हैं या (ख) भाषिक। अल्पसंख्यक किस प्रकार की संस्था की स्थापना करना चाहते हैं यह विकल्प उन्हीं का है। राज्य को शिक्षा का माध्यम अवधारित करने की शक्ति है किन्तु इस शक्ति का प्रयोग करके अल्पसंख्यकों के अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने के अधिकार को छीना नहीं जा सकता।

जहां कोई राज्य प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाता है और उच्च स्तर पर त्रिभाषा सूत्र को लागू करते हुए राज्य की भाषा को अनिवार्य बनाता है तो वह अनु0 29 और अनु0 30 का उल्लंघन नहीं करता। राज्य अल्पसंख्यक संस्था से यह अपेक्षा कर सकता है कि वह राज्य की राजभाषा पढ़ाए। ऐसी विधि युक्तियुक्त है और इससे अल्पसंख्यकों के अधिकार का उल्लंघन नहीं होता है। यदि किसी शिक्षा संस्था की स्थापना किसी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय ने नहीं की है तो वह समुदाय उसके प्रशासन के अधिकार का दावा नहीं कर सकता।

यह आवश्यक नहीं है कि वह संस्था अनन्य रूप से अल्पसंख्यकों के फायदे के लिए हो। उस संस्था में ऐसे व्यक्तियों को भी प्रवेश दिया जा सकता है जो अल्पसंख्यक समुदाय के नहीं हैं।

अल्पसंख्यक संस्थाओं का विनियमन

अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकार अमर्यादित नहीं हैं। राज्य शिक्षा के स्तर को बनाए रखने के लिए हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य, शिक्षक और अन्य कर्मचारियों को सुरक्षा और संरक्षण दे सकता है। अनुशासन, स्वास्थ्य, स्वच्छता, नैतिकता, लोक व्यवस्था आदि के हित में विनियम बनाए जा सकते हैं। विनियमित करने के लिए जो कदम उठाए जाते हैं उनसे प्रशासन का अधिकार क्षीण नहीं होना चाहिए। विनियम युक्तियुक्त होने चाहिए और उनके द्वारा संस्था के शिक्षा वाले पक्ष का विनियमन होना चाहिए।

यदि सरकार के आदेशों का क्रियान्वयन करने में कोई संस्था असफल रहती है और सरकार उसका प्रबंध अपने हाथ में ले लेती है तो यह कार्य अविधिमान्य होगा। क्योंकि ऐसी संस्था को अपने हाथ में लेकर सरकार ने अल्पसंख्यकों को अपने अधिकार से वंचित कर दिया है। अल्पसंख्यकों को शासी परिषद् के सदस्य और शिक्षकों को चुनने का अधिकार है। किन्तु अल्पसंख्यकों को विश्वविद्यालय ने सहबद्ध होने का मूल अधिकार नहीं है। सहबद्धता की अर्हताएं और शर्तों का उद्देश्य शिक्षा को उत्कृष्ट बनाना और एकरूपता लाना है। मार्क नेटो बनाम केरल राज्य (1979) के वाद में एक राज्य ने एक विद्यमान ईसाई लड़कों के स्कूल में बालिकाओं को प्रवेश देने के लिए इस आधार पर अनुमति देने से इंकार किया कि उसके निकट एक मुस्लिम बालिकाओं का स्कूल था जहां पर अन्य बालिकाएं प्रवेश ले सकती थीं। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अल्पसंख्यकों को यह अधिकार है कि वे छात्रों को प्रवेश दें। न्यायालय ने यह घोषित किया कि अनुमति देने से इंकार करने से अल्पसंख्यकों के अधिकार का उल्लंघन हुआ है।

जिस संस्था की स्थापना वाणिज्यिक प्रयोजन से की गई है वह अनु0 30(1) के संरक्षण के लिए दावा नहीं कर सकती। राज्य को यह अधिकार है कि वह शिक्षकों और अन्य कर्मचारियों की सेवाओं के निर्बंधन और शर्तें अधिकथित करें। राज्य वेतनमान विनियमित कर सकता है और यह निदेश दे सकता है कि वेतन और भत्ते उससे कम नहीं होंगे जो सरकारी विद्यालयों के कर्मचारियों को दिए जाते हैं।

अल्पसंख्यकों को यह छूट नहीं दी जा सकती कि वे अपने कर्मचारियों पर अत्याचार करें या उनका शोषण करें। उनके कर्मचारियों को भी सुरक्षा और अच्छे जीवन स्तर पर उतना ही अधिकार है जितना कि अन्य लोगों को।

औद्योगिक विवाद अधिनियम श्रमिकों के कल्याण के लिए बनाया गया है। यह सभी संस्थाओं को लागू होता है। अल्पसंख्यक संस्थाएं इसका अपवाद नहीं हैं। औद्योगिक विवाद अधिनियम और अन्य श्रमिक कल्याण विधियां अल्पसंख्यक संस्थाओं को भी लागू होती हैं। अनुच्छेद 30(1) कुप्रशासन करने की अनुज्ञा नहीं है।

सेंट स्टीफन्स कालेज (1992) में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कालेज अल्पसंख्यक संस्थान है इसलिए विश्वविद्यालय के निदेशों का पालन करना उसके लिए आवश्यक नहीं है। वह साक्षात्कार लेकर प्रवेश के लिए विद्यार्थियों का चयन कर सकता है और लिखित परीक्षा में प्राप्त अंकों के आधार पर विद्यार्थियों का चयन करने के विश्वविद्यालय के नियम की उपेक्षा कर सकता है। न्यायालय ने यह भी अधिकथित किया कि ईसाई छात्रों के लिए 50 प्रतिशत तक स्थान आरक्षित किए जा सकते हैं। शेष छात्र केवल गुणागुण के आधार पर प्रवेश पाएंगे। इस निर्णय को उच्चतम न्यायालय ने पाइ फाउंडेशन में उलट दिया।

फ्रेंक एंथनी (1986) और क्रिश्चियन मेडिकल कालेज (1988) के विनिश्चय ध्यान देने योग्य और प्रशंसनीय है क्योंकि उनके कारण शिक्षकों और अन्य कर्मचारियों का शोषण रूक गया। जिन संस्थाओं में लौकिक शिक्षा दी जा रही है, उनका विनियमन उन शिक्षा संस्थाओं की अपेक्षा जो शुद्ध रूप से धर्म या संस्कृति संबंधी शिक्षा दे रही हैं अधिक हो सकता है। लौकिक शिक्षा वाली संस्थाओं में विद्यार्थी केवल अल्पसंख्यक नहीं होते। वे राष्ट्र के होते हैं, उन्हीं से राष्ट्र गठित होता है।

अनुच्छेद 29 और 30 से संबंधित जो विनिश्चय हुए हैं उन पर पुनर्विचार करने की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि टी0एम0ए0 पाई अनेक बिंदुओं पर अस्पष्ट है उसके एक से अधिक अर्थ किए जा सकते हैं। यह बात उच्चतम न्यायालय ने इनामदार में स्वीकार की है।

2.2.5 उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनर्विचार की आवश्यकता

बहुल समाज में सभी संस्कृतियों और भाषाओं को प्रस्फुटित होने का अवसर मिलना चाहिए। आयुर्विज्ञान या इंजीनियरी के महाविद्यालय का संस्कृति के संरक्षण से कोई संबंध नहीं होता। जिस शिक्षा का धर्म या संस्कृति से कोई संबंध नहीं है उसे अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक के घेरों में बांटा नहीं जा सकता है। इस प्रकार का विभाजन पंथनिरपेक्ष और एकात्मक समाज के विकास में बाधा है। अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं के नाम का पर्दा उठाकर देखा जाए तो उसके पीछे ऐसे तत्वों का संसार है जो प्रति व्यक्ति फीस और अन्य अनैतिक संदाय वसूल करके धन एकत्र करने में लगा हुआ है। जो शिक्षा उद्योग के रूप में चलाई जा रही है और जिसका एकमात्र उद्देश्य लाभ कमाना है वह अल्पसंख्यकों को दिए जाने वाले संरक्षण की पात्र नहीं है। अब समय आ गया है कि इस पर्दे को उठाया जाए और देश को विभाजित करने वाली राष्ट्रविरोधी गतिविधियों को रोका जाए। अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का विभाजन केवल धर्म, संस्कृति और भाषा के क्षेत्र में ही अनुमत हो। शेष क्षेत्रों में विधि समान होनी चाहिए। अनुच्छेद 30 की उद्देशिका का अनु0 14, 15, 51(क) आदि के साथ समन्वय करते हुए अर्थान्वयन किया जाना चाहिए और इस तथ्य के प्रकाश में निर्वचन होना चाहिए कि शिक्षा एक मूल अधिकार और आधारभूत लक्षण है। अनुच्छेद 30 को अधिनियमित करने का उद्देश्य यह था कि अल्पसंख्यकों के अधिकार पर विधान-मंडल आक्रमण न कर पाए। इसके द्वारा यह आशंका दूर की जानी थी कि बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों को अपनी संस्कृति और भाषा बनाए रखने के अधिकार से वंचित न करें। अभी तक के निर्णयों से यह निष्कर्ष निकलता था कि बहुमत को समान अधिकार नहीं है। किन्तु पाइ फाउंडेशन से यह स्पष्ट हो गया कि बहुसंख्यकों को भी समान अधिकार है। बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। अल्पसंख्यकों की सभी संस्थाएँ अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा प्रदान कर रही हैं। भारत के मुसलमानों या ईसाइयों में से किसी की भी मातृभाषा अंग्रेजी नहीं है। ऐसी संस्थाओं का भारतीय भाषाओं पर अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है। आज भारत हिन्दुओं के विरुद्ध इस अवांछित और निराधार विभेद को रोकने के लिए और अखंड, एकात्म और सबल भारत के निर्माण के लिए उच्चतम न्यायालय की सहायता की प्रतीक्षा कर रहा है। विडंबना यह है

कि भारत में निवास करने वाले जो व्यक्ति नागरिक नहीं हैं वह भी अनु0 30 का फायदा उठाने के हकदार हैं। संविधान निर्माताओं का यह आशय कदापि नहीं था।

2.3 अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग अधिनियम 1992

भारतीय संविधान के अनु0 29 तथा 30 के मौलिक अधिकार, संविधान निर्माताओं ने संविधान के पूर्व की स्थिति तथा विशेषकर भारत उपद्वीप के भारत तथा पाकिस्तान में विभाजन को ध्यान में रखकर रखे थे। कदाचित इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर भारतीय संसद ने अल्पसंख्यकों के लिये राष्ट्रीय आयोग अधिनियम, 1992 पारित किया। इस अधिनियम को राष्ट्रपति की सम्मति 17-5-1992 को प्राप्त हुई। इस अधिनियम का प्रसार जम्मू एवं कश्मीर राज्य के सिवाय सम्पूर्ण भारत में है।

अधिनियम के अनुसार, केन्द्र सरकार अल्पसंख्यकों के लिये राष्ट्रीय आयोग स्थापित करेगी। इस आयोग में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा पाँच सदस्य होंगे। अध्यक्ष समेत पाँच सदस्य अल्पसंख्यक समुदायों के होंगे। अध्यक्ष तथा प्रत्येक सदस्य की पदावधि 3 वर्ष उस तिथि से होगी जब वह पद ग्रहण करता है। आयोग के लिए एक सचिव तथा अन्य आवश्यक कर्मचारी सरकार उपलब्ध करायेगी।

आयोग के कार्य निम्नलिखित होंगे-

- (क)संघ तथा राज्यों के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना;
- (ख)संविधान तथा केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा निर्मित विधियों में उपबन्धित सुरक्षाओं के कार्यों की निगरानी करना;
- (ग)अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण के लिये सुरक्षाओं के प्रभावशाली कार्यान्वयन के लिये केन्द्र तथा राज्य सरकार को संस्तुतियाँ देना;
- (घ)अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं सुरक्षाओं के वंचित होने की विनिर्दिष्ट शिकायतों को उपयुक्त प्राधिकारियों के पास ले जाना;
- (ङ)अल्पसंख्यकों के साथ किसी प्रकार के भेदभाव होने से उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन करना तथा उन्हें हटाने के लिये संस्तुति देना;
- (च)अल्पसंख्यकों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक विकास से संबंधित मसलों पर अध्ययन, खोज एवं विश्लेषण करवाना;

(छ)केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों द्वारा अल्पसंख्यकों के संबंध में उपायों का सुझाव देना;

(ज)अल्पसंख्यकों से संबंधित तथा विशेषकर उनके आगे आने वाली कठिनाइयों के बारे में आविधिक या विशेष रिपोर्ट केन्द्र सरकार को भेजना;

(झ)कोई अन्य मामला जो केन्द्र सरकार इसे निर्देशित करें।

आयोग प्रत्येक वित्तीय वर्ष के लिए अपने पूर्ण कार्यकलापों की रिपोर्ट तैयार करेगी तथा उसकी एक प्रतिलिपि केन्द्र सरकार को भेजेगी। केन्द्र सरकार वार्षिक रिपोर्ट को तथा संस्तुतियों पर की गई कार्यवाही के ज्ञापन समेत तथा लेखा रिपोर्ट को संसद के प्रत्येक सदन में रखवायेगी।

आयोग के अध्यक्ष, सदस्यों एवं कर्मचारियों को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 के भीतर लोक सेवक माना जायेगा।

2.4 धर्मनिरपेक्षता के परिप्रेक्ष्य में विधिक सुधार

परंपरागत समाजों में सामाजिक नियंत्रण के उपकरण के रूप में विधि से अधिक धर्म प्रभावी रहा है। धर्म का प्रभाव समस्त कार्यव्यापारों, राजनीतिक एवं पारिवारिक जीवन पर पड़ा, जिससे नैतिक मानकों को अधिक स्वीकार्यता मिली। हिन्दू एवं इस्लाम धर्म, दोनों ही व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले आचरण को वृहदता से नियंत्रित करते हैं। भारतीय समाज में धर्म का समग्र प्रभाव देखते हुए धर्म निरपेक्ष विधि शनैः शनैः ही विकसित हो पायी तथा धर्म निरपेक्ष विधिक सुधारों की गति भी धीमी ही रही है। भारत में अपकृत्य, अपराध, संविदा, भागीदारी आदि विषयों पर तो सभी व्यक्तियों पर बाध्यकर, धर्म निरपेक्ष विधियों ने आकार ले लिया परन्तु पारिवारिक विधि के क्षेत्र में ऐसा नहीं हो पाया है। आज भी हिन्दू विधि एवं मुस्लिम विधि का अस्तित्व विद्यमान है। केवल हिन्दू विधि अधिनियमित हो पाई है। एक समान सिविल संहिता का आदर्श भारतीय संविधान के अनु0 44 में मिलता है परन्तु इसके निर्माण एवं प्रवर्तन में अनेकों बाधाएँ हैं। तथापि धर्म निरपेक्षता को बढ़ावा देने के लिए इस प्रकार का विधिक सुधार आवश्यक है।

समान नागरिक संहिता

संविधान निर्माताओं की इच्छा थी कि भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए समान नागरिक संहिता हो। किन्तु इसे लागू करना एक विकट समस्या है। यह महसूस किया गया कि समान नागरिक संहिता से एक राष्ट्रीय पहचान बनेगी और सभी धर्म के लोग नागरिकता के समान सूत्र में आबद्ध होंगे। इसके अभाव में इस देश के नागरिक हमेशा आपस में बंटे रहेंगे, क्योंकि विभिन्न धर्मों द्वारा दिशा-निर्देशित विभिन्न प्रकार

के पर्सनल लॉ का वे अनुसरण करेंगे। स्वतन्त्रता के पश्चात् यह माना जाता था कि समान नागरिक संहिता लागू करने से एक धर्मनिरपेक्ष समाज के निर्माण में सहायता मिलेगी।

किन्तु विगत 60 वर्षों में एक समान नागरिक संहिता के निर्माण में कोई प्रगति नहीं हुई अपितु संविधान के निर्माण के समय में यह काम जितना सहज था, उसकी तुलना आज उतना ही अधिक दुरुह है। अतएव, सन् 1986 में मुसलिम समाज के लोगों ने तलाकशुदा मुसलिम महिलाओं के रखरखाव के संबंध में अधिनियम लाने के लिए बाध्य किया जो उसके पर्सनल लॉ के अनुरूप था। आधुनिक धर्मनिरपेक्ष विचार तथा मुस्लिम धर्म निरपेक्षवादी लोगों के विचार का सरकार द्वारा सम्मान नहीं किया गया।

इसी प्रकार की मांग ईसाई और सिख समुदाय के लोगों द्वारा की जा रही है। जिससे समान नागरिक संहिता का निर्माण दुष्कर प्रतीत हो रहा है।

यद्यपि, इस तथ्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत उदार प्रजातंत्र का अनुसरण कर रहा है जिसमें प्रभावित लोगों की चिन्ता किए बगैर किसी कानून का निर्माण संभव नहीं है। यह बंधन धार्मिक कानून के मामले में और भी जटिल है। इन सीमाओं से स्पष्ट होता है कि सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष समाज की स्थापना में कई बाधाएं हैं।

उच्चतम न्यायालय ने अपने एक ऐतिहासिक महत्व के निर्णय सरला मुदगल बनात भारत संघ (1995) में प्रधानमंत्री से यह निवेदन किया कि वे संविधान के अनु0 44 पर नया दृष्टिकोण अपनाएं जिसमें सभी नागरिकों के लिए एक 'समान सिविल संहिता' के बनाने का निदेश दिया गया है और कहा कि ऐसा करना पीड़ित व्यक्ति की रक्षा तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की अभिवृद्धि दोनों दृष्टि से आवश्यक है।

उच्चतम न्यायालय ने भारत सरकार को, विधि एवं न्याय मंत्रालय के सचिव के माध्यम से अगस्त 1995 तक एक शपथपत्र फाइल करने का निर्देश दिया जिसमें इस बात का उल्लेख किया जाए कि सभी नागरिकों के लिए समान सिविल संहिता बनाने के लिए क्या कदम उठाए गए हैं तथा क्या प्रयास किए गए हैं। न्यायालय का निर्णय 11 मई 1995 को सुनाया गया था।

प्रस्तुत मामले में अनु0 32 के अन्तर्गत चार पिटीशन फाइल किए गए। पहला पिटीशन महिलाओं के कल्याण के लिए बनी रजिस्टर्ड सोसाइटी द्वारा लोकहित वाद के रूप में प्रस्तुत किया गया था। अन्य पिटीशनर मीना माथुर का अभिकथन था कि उनका विवाह 1978 में एक व्यक्ति जितेन्द्र माथुर से हुआ था और उनके 3 बच्चे थे। 1988 में उनके पति ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और धर्म परिवर्तन के बाद सुनीता उर्फ फातिमा के साथ दूसरा विवाह कर लिया। उससे उसे एक सन्तान भी पैदा हुई थी। दूसरा पिटीशन फातिमा द्वारा किया गया था जिसका यह अभिकथन था कि श्री जितेन्द्र माथुर ने पुनः हिन्दू धर्म

स्वीकार कर लिया और अपनी पूर्व पत्नी के साथ रहने लगे। उसकी शिकायत थी कि वह अभी भी एक मुस्लिम है और उसका भरण-पोषण उसका पति नहीं कर रहा है और किसी भी वैयक्तिक विधि के अधीन उसे कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है। तीसरे पिटीशन में गीता रानी का कथन था कि 1988 में उसका विवाह हिन्दू रीति से प्रदीप कुकार से हुआ था। वह उसके साथ प्रायः दुर्व्यवहार किया करता था और 1991 में एक लड़की दीपा के साथ भाग गया और इस्लाम धर्म स्वीकार करके उससे विवाह कर लिया। चौथे पिटीशन में सुष्मिता घोष ने यह शिकायत की कि उसका विवाह जी०सी० घोष से हिन्दू संस्कारों के अनुसार सन् 1984 में हुआ था। किन्तु बाद में उसके पति ने उससे कहा कि वह उसके साथ नहीं रहना चाहता था” अतः उसे आपसी सहमति से विवाह विच्छेद कर लेना चाहिए। सन् 1992 में उसके पति ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और विनीता गुप्ता नामक लड़की से विवाह कर लिया। उसने न्यायालय से प्रार्थना की कि वह उसके पति को विनीता गुप्ता से विवाह करने से रोक दे।

उपर्युक्त परिस्थितियों में न्यायमूर्ति श्री कुलदीप सिंह तथा श्री आर०एम० सहाय ने यह निर्णय दिया कि एक हिन्दू पति का अपना पहला विवाह विच्छेद किए बिना इस्लाम धर्म स्वीकार करके दूसरा विवाह हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के उपबन्धों के अधीन अवैध है और पति बहु-विवाह के अपराध के लिए भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 के अधीन दण्डनीय भी है। हिन्दू वैयक्तिक विधि के अनुसार पति या पत्नी में एक के इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पश्चात् भी हिन्दू विवाह अस्तित्व में बना रहता है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 द्वारा इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। हिन्दू विवाह का स्वतः विच्छेद नहीं होता है। एक हिन्दू के विवाह का विघटन हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 13 के अन्तर्गत वर्णित किन्हीं आधारों पर विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा ही किया जाता है। केवल इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने से ही उनका विवाह-विच्छेद नहीं हो जाता है।

समान सिविल संहिता की आवश्यकता पर बल देते हुए न्यायमूर्तियों ने कहा कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि संविधान को लागू हुए 45 वर्ष बीत चुके हैं और इस बीच अनेक सरकारें आईं और गईं किन्तु अनु० 44 में निहित संविधान के उक्त निदेश को कार्यान्वित करने के कर्तव्य का पालन किसी के द्वारा नहीं किया गया। अनु० 44 इस धारणा पर आधारित है कि सभ्य समाज में ‘धर्म और वैयक्तिक विधि’ में कोई संबंध नहीं होता है। अतः समान सिविल संहिता बनाने से किसी समुदाय के सदस्यों के अनु० 25, 26 तथा 27 के अधीन प्रतिभूत मूल अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। विवाह, उत्तराधिकार और इस प्रकार के सामाजिक प्रकृति की बातें धार्मिक स्वतन्त्रता से बाहर हैं और उन्हें विधि बनाकर विनियमित किया जा सकता है। विवाह, उत्तराधिकार संबंधी हिन्दू विधि, इस्लाम और ईसाइयों की भाँति ही संस्कारजन्य है। हिन्दुओं ने देश की एकता एवं अखण्डता के लिए अपनी धार्मिक भावनाओं को त्याग दिया और उनका संहिताकरण किया गया, जबकि संविधान सभी समुदायों के लिए समान सिविल संहिता बनाने का निदेश देता है। बहुविवाह की प्रथा को अमेरिका के न्यायालयों ने भी ‘लोक आचरण’ (Public Moral) के

विरुद्ध घोषित किया है। जैसे मानव बलि या सती प्रथा को लोकहित में राज्य प्रतिषिद्ध कर सकता है वैसे ही इसको भी विधि द्वारा विनियमित किया जा सकता है। बहुत से हिन्दू हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के उपबन्धों जिसमें पति-पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह वर्जित है, से बचने के प्रयोजन से ही इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेते हैं और दूसरा विवाह कर लेते हैं। न्यायमूर्ति श्री सहाय ने यह कहा कि कोई भी धर्म जानबूझकर विकृति की अनुमति नहीं देता है। इस्लाम धर्म में भी इसके प्रति कोई लगाव नहीं है और आज अनेक मुस्लिम देशों सीरिया, ट्यूनिशिया, मोरक्को, पाकिस्तान, ईरान, सोवियत संघ के इस्लामिक गणतंत्र में इसके दुरुपयोग को रोकने के लिए वैयक्तिक विधि का संहिताकरण किया जा चुका है।

न्यायमूर्ति श्री सहाय ने यह कहा कि समान सिविल संहिता बनाने के लिए सबसे पहला कदम यह होना चाहिए कि अल्पसंख्यकों की वैयक्तिक विधियों को तर्कसंगत बनाया जाए।

उच्चतम न्यायालय का प्रस्तुत निर्णय कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और सभी समुदाय के लोगों को इसका स्वागत करना चाहिए। पहला लाभ यह है कि यह धर्म का दुरुपयोग करके बहु-विवाह की बुराई को रोकता है। दूसरा यह कि न्यायालय ने सरकार से निवेदन किया कि वह अगस्त 1995 तक एक शपथपत्र दाखिल करके यह बताए कि उसने समान सिविल संहिता बनाने की दिशा में क्या कदम उठाया है। तीसरा यह कि इससे अन्य समुदायों में विवाहों की दशा में सुधार होगा। चौथा यह कि इससे सभी समुदायों में समानता होगी और देश की एकता और अखण्डता भी सशक्त होगी। न्यायालय का उक्त निर्णय एक अत्यन्त साहसिक कदम है। आज हमारे राजनेता वोट की राजनीति में फंस कर मुस्लिम तुष्टीकरण में लगे हुए हैं और उनमें यह साहस नहीं है कि वे उन्हें समझायें कि उससे उनका कितना लाभ होगा। अतः समान सिविल संहिता का बनाना आवश्यक है। सभी दल संविधान के पालन की दुहाई देते हैं किन्तु मुस्लिम समुदाय में स्त्रियों की अवहेलना कर रहे हैं। हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री राव ने तो संसदीय चुनाव के दौरान अपने भाषण में उत्तर प्रदेश के बरेली शहर में मुस्लिम समुदाय के उलेमाओं की सभा में यह घोषणा भी कर दी थी कि वे इसे नहीं बनायेंगे। उच्चतम न्यायालय ने जब समान सिविल संहिता बनाने के लिए आदेश किया तो इसके पालन न करने की घोषणा करके क्या उन्होंने न्यायपालिका और संविधान दोनों की अवहेलना नहीं की? किन्तु आश्चर्य की बात है कि 11 अगस्त 1995 को उच्चतम न्यायालय ने एक अभियुक्त द्वारा फाइल की गई रिट याचिका की सुनवाई के दौरान स्वयं यह स्पष्ट किया कि 'समान सिविल संहिता' लागू करने के लिए सरकार बाध्य नहीं है। न्यायमूर्ति श्री कुलदीप सिंह और एस० सगीर अहमद की खण्डपीठ ने यह कहा कि उपर्युक्त निर्णय में किया गया अवलोकन केवल इतरोक्ति (obiter) थी, न कि आदेश। उक्त याचिका मोहम्मद करीम काजी उर्फ डी०पी० घोष ने जो धर्म परिवर्तन के बाद मुसलमान बन गया था अपने विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 के अधीन बहुविवाह के लिए अभियोग चलाने के विरुद्ध फाइल की थी। करीम ने जो पहले हिन्दू था अपनी पहली पत्नी से तलाक लिए बिना दूसरा विवाह कर लिया था। न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह और न्यायमूर्ति आर०एम०

सहाय को खण्ड पीठ ने 10 मई 1995 को यह निर्णय दिया था कि सरकार समान सिविल संहिता बनाने के लिए आवश्यक कदम उठावे। न्यायालय का उक्त स्पष्टीकरण संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है। नीति निदेशकों को लागू करना सरकारों का कर्तव्य है। न्यायालय ने सरकार के इसके पालन करने का आदेश देकर उचित कार्य किया था और आशा बँधी थी कि देश की एक बुराई तो दूर होगी।

हाल के कतिपय साहसिक निर्णयों द्वारा उच्चतम न्यायालय तथा विभिन्न उच्च न्यायालयों ने समान सिविल संहिता के बनाये जाने के लिए मार्ग को प्रशस्त किया है।

1997 में प्रगति वर्गीज बनाम सिरील जार्ज वर्गीज के मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने भारतीय तलाक अधिनियम, 1869 की धारा 10 को अवैध घोषित कर दिया है। इसके अन्तर्गत एक ईसाई महिला को पति से तलाक लेने के लिए जारकर्म के साथ-साथ क्रूरता और अधित्यजन (desertion) को साबित करना एक शर्त है। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि यह धारा महिला के अनु0 21 में प्रदत्त मानव गरिमा से जीने के मूल अधिकार का उल्लंघन करती है अतः अवैध और असंवैधानिक है। न्यायालय ने उक्त अधिनियम की धारा 17 और 18 को भी अवैध घोषित कर दिया जिसके अन्तर्गत यह जिला न्यायालय द्वारा पारित तलाक की डिक्री को उच्च न्यायालय के 3 न्यायाधीशों की पीठ द्वारा पुष्टि का उपबन्ध था जो प्रायः संभव नहीं था। न्यायालय ने कहा कि धारा 10 एक महिला को उस व्यक्ति के साथ रहने के लिए विवश करती है जिससे वह घृणा करती है जिसने उसे त्याग दिया है या उसके साथ क्रूरता का व्यवहार किया है। ऐसा जीवन पशुवत जीवन है। उस विवाह का विच्छेद करने से जो टूट चुका है, इंकार करना अनु0 21 का उल्लंघन है।

उसी वर्ष नूर शाबा खातून बनाम मोहम्मद कासिम के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि एक तलाकशुदा मुस्लिम महिला को अपने बच्चों के लिए जब तक कि वे बालिग नहीं हो जाते हैं, पति से भरण-पोषण पाने का अधिकार है। न्यायालय ने कहा कि मुस्लिम वैयक्तिक विधि और भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 दोनों के अधीन पति का दायित्व पूर्ण है जब कि बच्चे तलाक शुदा पत्नी के साथ रहते हैं। इस मामले में अपीलार्थी नूर शाबा खातून का विवाह प्रत्यर्थी से मुस्लिम विधि के अनुसार 27 अक्टूबर 1980 को हुआ था। उनके कुल तीन बच्चे पैदा हुए जिनमें से दो लड़कियाँ और एक लड़का था। बाद में पति ने उसे तलाक दे दिया। परीक्षण न्यायालय ने पत्नी को 200 रुपये प्रति मास और बच्चों को 50 रुपये प्रति मास भरण-पोषण प्रदान किया। अपील न्यायालय ने निर्णय दिया कि मुस्लिम वुमन एक्ट 1986 के तहत वह केवल 2 वर्ष तक भरण-पोषण पाने की हकदार थी। पटना उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि केवल एक बच्चा 3 वर्ष तक भरण-पोषण पाने का हकदार था।

उच्चतम न्यायालय ने पटना उच्च न्यायालय के निर्णय को उलट दिया और यह निर्णय दिया कि उच्च न्यायालय ने यह समझने में भूल किया कि मुस्लिम वुमन एक्ट 1986 के द्वारा दण्ड प्रक्रिया संहिता की

धारा 125 के अधीन भरण-पोषण का अधिकार को समाप्त कर दिया गया था। न्यायालय ने पति को निर्देश दिया कि भरण-पोषण की रकम चार बराबर किस्तों में एक वर्ष में भुगतान करे और यदि इसमें कोई एक भी व्यतिक्रम होता है तो अपीलार्थिनी पूरी रकम एक साथ 12 प्रतिशत ब्याज के साथ वसूल कर सकेगी।

20 जून, 2000 को कलकत्ता उच्च न्यायालय ने पुनः शाहबानों को जीवित कर दिया है और यह अभिनिर्धारित किया है कि एक मुस्लिम महिला को जिसे उसके पति ने तलाक दे दिया था, पति से इदत के समय के पश्चात् जब तक वह पुनर्विवाह नहीं कर लेती है भरण-पोषण पाने की हकदार है। उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय के इस निर्णय को कि मुस्लिम महिला इदत के पश्चात् भरण-पोषण पाने की हकदार नहीं है, को उलट दिया और कहा कि इदत का समय उसके पुनर्विवाह करने तक बढ़ जाता है।

2002 में एक अन्य महत्वपूर्ण मामले **डैनियल लतीफी** बनाम **भारत संघ** में यह अभिनिर्धारित किया है कि मुस्लिम महिला (तलाक के अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 1986 की धाराएँ (3) और (4) जिसके अधीन एक मुस्लिम पति को अपनी तलाकशुदा पत्नी को इदत के बाद भी भरण-पोषण के लिए युक्तियुक्त और उचित व्यवस्था करना एक विधिक दायित्व है, संवैधानिक है और विधिमान्य है। धारा 3 के अधीन भरण-पोषण का दायित्व इदत की अवधि तक सीमित नहीं है। यदि तलाकशुदा पत्नी अविवाहिता रहती है और अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है तो धारा 4 के अधीन अपने पति के संबंधियों के विरुद्ध जो उसकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं कार्यवाही कर सकती है। यदि कोई संबंधी भरण-पोषण देने में असमर्थ है तो मजिस्ट्रेट राज्य द्वारा स्थापित वक्फ बोर्ड को भरण-पोषण देने का निर्देश दे सकता है।

2003 के निर्णय जान वलामटोम बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की पीठ ने एक बार पुनः समान सिविल संहिता के न बनाने के लिए दुख प्रकट किया है और इसके बनाने के लिए जोरदार संस्तुति की है। इस मामले में पिटीशनरों द्वारा उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 118 की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि वह अनु0 14 का उल्लंघन करता है और विभेदकारी है और असंवैधानिक है। धारा 118 एक व्यक्ति को जिसके कोई भतीजा या भतीजी या नजदीकी संबंधी है उसे अपनी सम्पत्ति को धार्मिक उद्देश्यों के लिए वसीयत द्वारा दान करने से रोकता था। धारा 28 के अनुसार पत्नी नजदीकी संबंधी में नहीं सम्मिलित की गई थी। यद्यपि गोद लिया हुआ बच्चा नजदीकी संबंधी में आता था किन्तु पत्नी नहीं आती थी। इस प्रकार ऐसा इसाई जिसके भतीजा या भतीजी है वह धार्मिक उद्देश्यों के लिए अपनी सम्पत्ति का वसीयत द्वारा दान नहीं कर सकता था किन्तु ऐसा इसाई जिसके पत्नी है वह वसीयत नहीं कर सकता है। दूसरी शर्त यह थी कि वसीयतकर्ता मृत्यु के 12 माह पूर्व ही वसीयत कर सकता था। उच्चतम न्यायालय ने इस शर्त को अनु0 14 का उल्लंघन करने वाला घोषित किया और अविधिमान्य घोषित कर दिया। इसी संदर्भ में मुख्य न्यायमूर्ति श्री वी0एन0 खरे ने

समान सिविल संहिता बनाने के लिए जोरदार सिफारिश की। उन्होंने कहा कि अनु0 44 इस धारणा पर आधारित है कि एक सभ्य समाज में धर्म और व्यक्तित्व विधि में कोई संबंध नहीं है। अनु0 25 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु अनु0 44 धर्म को सामाजिक और व्यक्तिगत विधि से पृथक करता है। यह स्पष्ट है कि विवाह, उत्तराधिकार और इस प्रकार की पंथ निरपेक्ष बातें अनु0 25 के अन्तर्गत नहीं आती हैं। 'सरला मुदगल' के मामले में न्यायालय ने यह निर्णय दिया है। यह दुख की बात है कि संसद ने समान सिविल संहिता को अभी तक लागू करने का कोई प्रयास नहीं किया। एक समान सिविल संहिता विचारों के आधार पर मत भिन्नता को समाप्त कर राष्ट्रीय एकता को सशक्त करने में सहायता करेगी।

मुख्य न्यायमूर्ति के इस सुझाव पर पूरे देश में वोट की राजनीति करने वालों के द्वारा गम्भीर प्रतिक्रिया व्यक्त की गई। यह सर्वथा अनुचित है। सभी राजनीतिक दलों को समान सिविल संहिता के बनाने लिए देश में वातावरण को इसके पक्ष में करने के लिए गम्भीर प्रयास करना चाहिए।

2.5 विभिन्न आयोगों के प्रयास

वर्ष 2005 में सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंगनाथ मिश्र की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया गया था। इस आयोग के समक्ष निम्न विषय थे।

- धार्मिक व भाषाई अल्पसंख्यकों में सामाजिक—आर्थिक दृष्टि से पिछड़ों की पहचान
- इन पिछड़ों के लिए आरक्षण के प्रावधान सुझाना
- आरक्षण को लागू करने के लिए कानून व प्रशासनिक उपाय का निर्धारण।

इस आयोग ने वर्ष 2007 में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की। हाल ही में औपचारिक रूप से प्रस्ताव को सार्वजनिक किया गया है। अनौपचारिक तौर पर इसकी मुख्य सिफारिशें व तथ्य निम्नलिखित हैं।

- भारत में जाति व्यवस्था सभी धर्मों में है।
- हिन्दुओं व अन्य धर्मों में के जो वर्ग अनुसूचित जाति की सूची में शामिल हैं, इसाईयों व मुसलमानों आदि के उन वर्गों को भी उपरोक्त सूची में शामिल किया जाना चाहिए। अनु0 जाति के व्यक्ति को धर्म परिवर्तन कर लेने पर भी उसे अनु0 जाति के स्तर का मानना चाहिए।
- सरकारी नौकरियों में अल्पसंख्यकों के लिए 15% स्थान चिन्हित किया जाए। आरक्षण की कठिनाइयों के मद्देनजर आयोग ने विकल्प के तौर पर अन्य पिछड़े वर्गों के 27% कोटे में अल्पसंख्यकों के लिए 8.4% सब कोटा का सुझाव दिया है।

- पिछड़े वर्गों की पहचान में धार्मिक आधार पर कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए।
- भाषाई अल्पसंख्यकों को सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग में नहीं बांटा जाना चाहिए।

समान अवसर आयोग: सच्चर समिति की रिपोर्ट पर कारवाई के उद्देश्य से दो विशेष दल गठित किये गये हैं एक है समान अवसर आयोग, दूसरा विविधता सूचकांक निर्माण दल।

प्रो० अमिताभ कुंडू की अध्यक्षता में गठित विशेष दल समान, अवसर आयोग के कार्यों एवं ढांचों का अध्ययन करेगा। डॉ० एन०आर० माधव मेनन की अध्यक्षता में गठित द्वितीय विशेष दल विविधता सूचकांक के तहत अल्पसंख्यक समुदायों के रहन-सहन शिक्षा आदि की विविधता का अध्ययन करेगा।

अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण

भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंगनाथ मिश्र की अध्यक्षता वाले धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट अल्पसंख्यक मामलों में मंत्री सलमान खुरशीद ने 18 दिसम्बर, 2009 को संसद में पेश की। चूँकि इस आयोग का गठन जाँच आयोग कानून के तहत नहीं किया गया था, इसीलिए इसकी रिपोर्ट के साथ कार्रवाई रिपोर्ट (ATR) प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं था। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में आरक्षण नीति में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता बताते हुए आय को ही इसके लिए एकमात्र आधार बनाने का सुझाव दिया है। आयोग ने सुझाव दिया है कि अनुसूचित जनजाति के समान ही अनुसूचित जाति के दर्जे को भी धर्म से असम्बद्ध किया जाना चाहिए। इसके लिए कॉस्टीट्यूशन (शेड्यूल्ड कास्ट-SC) ऑर्डर, 1950 के पैरा 3, को पूरी तरह समाप्त करने की संस्तुति आयोग ने की है। इस आदेश के तहत अब भी मुस्लिम, ईसाई, जैन और पारसी अनुसूचित जाति के दर्जे से अलग हैं। शुरु में इस आदेश के तहत अनुसूचित जाति का दर्जा सिर्फ हिन्दुओं तक सीमित था, बाद में बौद्ध और सिक्खों को इसमें शामिल किया गया। आयोग के अनुसार उपर्युक्त पैरा-3 समाप्त करने से अनुसूचित जाति का दर्जा धर्म आधारित नहीं रहेगा तथा किसी भी धर्म के पिछड़ों को इसका लाभ प्राप्त हो सकेगा। आयोग का मानना है कि एक बार अनुसूचित जाति का दर्जा मिलने के बाद धर्म परिवर्तन करने से उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। आयोग ने सरकारी नौकरियों में अल्पसंख्यकों के लिए 15% आरक्षण की सिफारिश की है। इसमें सर्वाधिक 10% कोटा मुसलमानों के लिए तथा शेष 5% कोटा अन्य अल्पसंख्यकों को दिए जाने की सिफारिश की गई है। आयोग का कहना है कि यदि 10% सीटें मुसलमानों से न भर पाएं तो ये सीटें दूसरे अल्पसंख्यकों की दी जाएं। लेकिन किसी भी परिस्थिति में ये 15% सीटें बहुसंख्यक समुदाय से किसी को न मिल पाएं। आयोग ने सलाह दी है कि यदि 15% आरक्षण की सिफारिशों को लागू करने में रुकावट आती है तो आरक्षण का अल्टरनेट रूट अपनाया जा सकता है। चूँकि मंडल आयोग की रिपोर्ट के

अनुसार अल्पसंख्यक ओबीसी आबादी का 8.4% हैं। अतः 27% ओबीसी कोटा में 8.4% कोटा अल्पसंख्यकों के लिए रखा जा सकता है। इसमें 6% मुसलमानों के लिए हो, क्योंकि कुल अल्पसंख्यकों की आबादी में मुसलमानों 73% हैं। शेष 2.4 कोटा अन्य अल्पसंख्यकों के लिए हो। हालांकि अनुसूचित जनजाति ऐसा वर्ग है, जिससे धर्म नहीं जुड़ा है। लेकिन यह देखा जाना चाहिए कि इसके आरक्षण में अल्पसंख्यकों की मौजूदगी किस हद तक है और इसके लिए उपाय किए जाने चाहिए।

2.6 सारांश

अनु0 29 द्वारा अल्पसंख्यकों के संस्कृति संबंधी अधिकारों की रक्षा की गई है। यदि नागरिकों के किसी भाग की कोई विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है तो उन्हें उसे बनाए रखने का अधिकार है। भाषा, लिपि एवं संस्कृति को प्रभावी रूप से संरक्षित रखने में शिक्षा संस्थाओं का योगदान महत्वपूर्ण होता है अतः इस अनुच्छेद से भी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना एवं प्रशासन का अधिकार निःसृत होता है।

अल्पसंख्यकों के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई है। इसका मुख्य कार्य—अल्पसंख्यकों के विकास की प्रगति का मूल्यांकन, निर्मित विधियों की निगरानी, हित संरक्षण के लिए संस्तुतियों देना, विनिर्दिष्ट शिकायतों को प्राधिकारियों तक ले जाना, अल्पसंख्यकों के सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक विकास के मामलों का अध्ययन, खोज एवं विश्लेषण करवाना आदि है।

भारतीय समाज एक परंपरागत समाज है जहाँ प्राचीन काल से विधि से अधिक धर्म प्रभावी रहा है। इस कारण भारत में अपराध, अपकृत्य आदि पर धर्म निरपेक्ष विधि धीरे-धीरे से विकसित हो पायी परन्तु पारिवारिक विधि में धर्म हावी रहा है। एक समान सिविल संहिता का निर्देश भारतीय संविधान के अनु0 44 में दिया गया है परन्तु इस प्रकार के धर्म निरपेक्ष विधिक सुधार में अनेकों बाधाएँ हैं। उच्चतम न्यायालय ने सरला मुद्गल (1995) के निर्णय में समान सिविल संहिता को लोगों की रक्षा एवं राष्ट्रीय एकता व अखण्डता की अभिवृद्धि हेतु आवश्यक माना था। आगे प्रगति वर्गीज, (1997) शाबा खातून (1997), डैनियल लतीफी (2002) तथा जान वलामटोम (2003) के न्यायिक निर्णयों में न्यायालय ने समान सिविल संहिता को आवश्यक माना तथा उनकी संस्तुति की।

पूर्व मुख्य न्यायाधीश रंगनाथ मिश्र की अध्यक्षता में 2005 में धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए, एक राष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया गया था। इसने अपनी रिपोर्ट 2009 में प्रस्तुत की। इसकी एक अत्यधिक महत्वपूर्ण सिफारिश अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण से संबंधित थी। कहा गया था कि सरकारी नौकरियों में अल्पसंख्यकों के लिए 15% स्थान चिन्हित किए जायें। हिन्दुओं व अन्य धर्मों के जो वर्ग अनुसूचित जाति की सूची में शामिल हैं, इसाईयों व मुसलमानों आदि के उन वर्गों को भी उपरोक्त सूची में शामिल किया जाना चाहिए।

2.7 सन्दर्भ सूची

15. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
16. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
17. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
18. राम आहुजा- सामाजिक समस्याय (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
19. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
20. डा० अवतार सिंह-भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
21. डा०गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
22. प्रो०इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
23. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)-डा० शैफाली यादव
24. डा० कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
25. डा०अभय सिंह-सूचना का अधिकार अधिनियम2005, (2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
26. डा०आर०के०अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
27. डा० इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.7.1 -सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

28. सी०पी० अरोरा-विविध अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
29. डा० टी०पी० त्रीपाठी-सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)- इलाहाबाद लॉ एजेन्सी।
30. प्रो० इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
31. डा० एस०के० कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) अल्पसंख्यक कौन हैं? अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था से आप क्या समझते हैं?
- (2) भारतीय संविधान के अनु0 29 व 30 के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के अधिकारों की विवेचना कीजिए।
- (3) अल्पसंख्यकों से संबंधित महत्वपूर्ण न्यायिक निर्णयों की व्याख्या कीजिए।
- (4) अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग कब स्थापित किया गया? इसके मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए।
- (5) समान नागरिक संहिता के निर्माण की क्या आवश्यकता है? इस विषय में न्यायालयों के दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।

एलएलओएमओ प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-2.धर्म और विधि

इकाई-3.जाति व्यवस्था

इकाई संरचना

- 3.0 प्रस्तावना
- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणायें
- 3.3 जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति
 - 3.3.1 जाति और वर्ण
 - 3.3.2 जाति एवं उपजाति
 - 3.3.3 जाति एवं जनजाति
 - 3.3.4 जाति और वर्ग
- 3.4 जाति की विशेषतायें
 - 3.4.1 व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषतायें
 - 3.4.2 इकाई के रूप में जाति की विशेषतायें
- 3.5 जाति की उत्पत्ति
 - 3.5.1 परम्परागत सिद्धान्त
 - 3.5.2 ब्रह्मणीय सिद्धान्त
 - 3.5.3 प्रजातीय सिद्धान्त
 - 3.5.4 व्यावसायिक सिद्धान्त
 - 3.5.5 केतकर का सिद्धान्त
 - 3.5.6 सेनार्ट का सिद्धान्त
 - 3.5.7 हट्टन का माना सिद्धान्त
- 3.6 सारांश
- 3.7 सन्दर्भ सूची
 - 3.7.1 सहायक सन्दर्भ सूची
- 3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

जाति को एक इकाई (Unit) एवं व्यवस्था एवं उसके संचालन की दृष्टि से देखा जा सकता है और यही इकाई व्यवस्था संचालन से ही सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक घटनाएं धिरे² उत्पन्न होती है। जाति व्यवस्था के रूप में दृष्टिगत रखने के पीछे एक पूर्व मान्यता (Presupposition) यह है कि कोई भी जाति एकाकी रहकर अस्तित्व में नहीं रह सकती तथा प्रत्येक जाति दुसरी जातियों तक आर्थिक राणैतिक एवं संस्कारों के सम्बन्धित जाल में निकट से सम्बद्ध रहती है।

अधिकतर विद्वानों ने जाति को एक संगठन के रूप में माना है, न कि मूल्यों एवं प्रवृत्तियों के समूहन के रूप में। वूगल ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जाति वंशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रूप से गठित समूह है। उन्होंने जाति को तीन श्रेणीयां बताई है :-

पैतृक विशिष्टता श्रेणी बद्धता तथा तिरस्कार

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत समाज में काफी विखराव रहा है जिसके कारण व्यक्ति अपने को समाज में उच्च निम्नता के भाव में संचरण करता है। तिरस्कार के भाव के अन्तर्गत समाज में असमानताएं उत्पन्न होती है।

जाति व्यवस्था समेकताओं से संरचित (Composed of solidarities) व्यवस्था मानते है। जाति एक बन्द सामाजिक स्तुत है जिससे उसके सदस्यों का सम्मान व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्ध निश्चित होते है। प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के सदस्यों के साथ सम्बन्ध सीमित होते है और निश्चित प्रकार ये बने होते है।

जाति व्यवस्था के कारण समाज में सामाजिक चिन्तन गौण होता जा रहा है। समाज की परम्परा के अनुसार प्रत्येक जाति के सदस्यों का व्यवसाय वंश परम्परा के आधार पर अलग अलग होता रहा हे जिसके कारण जाति आधार पर समाज में असमानता उत्पन्न होती जा रही है जो कि समाज के लिए कष्टप्रद होगा।

भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतशास्त्रियों ने जाति प्रथा की उत्पत्ति उद्देश्य एवं इसके भविष्य के विषय में धर्मग्रन्थों का सहारा लिया है। उनका मानना है कि "वर्ण" की उत्पत्ति विराट पुरुष-ब्रह्मा से हुई है तथा

जातियाँ इसी वर्ण व्यवस्था के भीतर खण्डित ;पिपवदमकद्ध इकाइयां हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाह प्रथाओं के परिणामस्वरूप हुआ। इन इकाइयों या जातियों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत एक दूसरे के संबंध में अपना-अपना दर्ज ;तदाद्ध प्राप्त हुआ। चारों वर्णों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कृत्य व संस्कार ,तपजनसेद्ध स्तरीकृत ;जंजने.इवनदकद्ध हैं। कालान्तर में जाति संबंधों को क्षेत्र, भाषा तथा मतों में अन्तर ने भी प्रभावित किया है। भारतशास्त्रियों के अनुसार जाति की उत्पत्ति का उद्देश्य श्रम का विभाजन करना था। जैसे-जैसे लोगों ने समाज में चार समूहों अथवा क्रमों व वर्गों में विभाजन स्वीकार करना प्रारम्भ किया, वे अधिक कठोर होते गए और जाति की सदस्यता तथा व्यवसाय वंशानुगत होते गए।

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के माध्यम से जाति व्यवस्था का आप अध्ययन कर सकेंगे किस प्रकार जाति व्यवस्था के आधार पर समाज में विभाजन उत्पन्न हो रहा है साथ ही जाति व्यवस्था का विभाजन किस कारण से हो रहा है इसके साथ ही आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ सकेंगे जिसके कारण जाति व्यवस्था का पदार्पण हुआ है।

1. प्राचीन युग में जाति प्रथा
2. जाति की परिभाषा
3. जाति की विशेषताएं एवं विभाजनकारी कारक।
4. जाति की उत्पत्ति व के सिद्धान्त
5. भारतीय समाज का जाति माडल
6. जाति के सांस्कृतिक और संरचनात्मक पहलु

परिभाषा

जाति की विशेषताएं :-

जाति की विशेषताओं के बारे में अनेकों विद्वानों के भिन्न2 प्रकार के मत हैं। ब्रूगल ने जाति के तीन तत्व बताये हैं वंशानुगत विशेषता, श्रेणीबद्धता एवं आकर्षण व विरोध जबकि रिजले ने अन्तर्विवाह तथा वंशानुगत

पेशे पर बल दिया है। अन्य विद्वानों ने भी इसी विशेषता पर अधिक बल दिया है। इस प्रकार से हम जाति व्यवस्था के अनेक प्रारूपों का अध्ययन करेंगे जो निम्न है।

व्यवस्था के रूप में जाति

व्यवस्था के आधार पर जाति का सृजन अनेकों प्रकार से हो सकता है व्याख्या का निरूपण समाज के लोगों द्वारा या तो उत्पन्न किया जाता है अथवा समाज में वह तत्व पहले से ही उत्पन्न होता है।

A - जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम

श्रेणीक्रम के निर्धारण में दो व्यवस्थायें समाज द्वारा अपनायी गयी है जिसे हम अवलोकन विधि और मत मूल्यांकन विधि कहते हैं। अवलोकन विधि में जाति की प्रास्थिति निर्धारण के लिए या तो संकेतनात्मक विधि या अन्तः क्रियात्मक विधि प्रयोग की गयी है। संकेतनात्मक विधि जाति की प्रास्थिति का निर्धारण उसके व्यवहार से करती है जिसका अच्छा उदाहरण अपमानजनक व्यवसाय करना है। कभी भी किन्हीं दो जातियों की एक समान प्रास्थिति नहीं होती है। एक जाति का दुसरी जाति से संबन्ध का स्तर ऊंचा या नीचा होता है।

मत मूल्यांकन विधि में सामुहिक श्रेणीक्रम में विभिन्न जातियों की प्रास्थिति के निर्धारण में विविध जातियों के उत्तरदाताओं के मत पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम दो तरीकों से जाति के क्रम को निश्चित करता है।

B- सामाजिक भागीदारी और धार्मिक मान्यता :-

धार्मिक मान्यताएं अधिकाधिक रूप में समाज के उस वर्ग को अपने से दूर रखते हैं जिनके द्वारा धर्म के अनुसरण में किसी चीज की मान्यता है किन्तु उससे दुसरा समाज वर्ग एक विघटनकारी परिवेश उत्पन्न हो जाता है धर्म के आधार पर एक वर्ग दुसरे वर्ग से जाति विभेद कर अपने को बचाता है जिसे छुआछूत पूजा स्थलों में जाने से एक वर्ग उस वर्ग को रोकता है और वहीं से जाति के विभाजन की नींव मजबूत होती है जिसे हम समाज की भागीदारी के और धार्मिक मान्यता के आधार पर उत्पन्न जाति विभेद कहते हैं।

C – सहभोज पर प्रतिबन्ध

जब किसी जाति के विभेद से समाज में जाति का विभेद उत्पन्न होता है। तो एक वर्ग दुसरे वर्ग के साथ अपना खान पान भोजन आदि धार्मिक कार्यों से विरत रहता है उसको उस निम्न वर्ग से निषेध करता है। समाज में अभी भी ऐसे जातिवाद की उत्कृष्टा से इस प्रकार का समाज है जो जाति के इस महान जाल में इस प्रकार फंसे है कि वह कभी भी उससे उभर नहीं सकते है।

3.3 जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति (Caste, Varna, Sub-Caste and Tribe)

तर्कपूर्वक आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति, "वर्ण" का विकसित रूप है। जो प्राचीन भारत के वर्ग के रूप में प्रारम्भ हुए थे और धीरे-धीरे इन्हें धार्मिक मान्यता प्राप्त हो गई। जाति व्यवस्था का समर्थन करते हुए यही धार्मिक सिद्धान्त जाति व्यवस्था और स्तरीकरण में भेद करता है जो कि अमेरिका व अन्य देशों में प्रदत्त प्रस्थिति, अन्तर्विवाह, तथा निम्न स्थिति के रूप में पाया जाता है (जैसे नीग्रो में)।

3.3.1 जाति और वर्ण (Caste and Vorna)

जाति और वर्ण दोनों भिन्न धारणाएं हैं। सेनार्ट प्रथम व्यक्ति था जिसने यह बताया कि जाति व वर्ण समान नहीं है। हिन्दू सामाजिक संगठन की विशिष्टता यह है कि यह "वर्णाश्रम" व्यवस्था पर आधारित है। यद्यपि "वर्ण" व्यवस्था तथा "आश्रम" व्यवस्था दो अलग-अलग संगठन हैं फिर भी वे एक साथ हैं, क्योंकि वे मनुष्य की प्रकृति व पालन पोषण की समस्याओं के विषय में बताते हैं। आश्रम व्यवस्था मनुष्य के जीवन के विविध अवस्थाओं में व्यक्ति के सांसारिक व्यवहार के विषय में मार्गदर्शक है और वर्ण-व्यवस्था के स्वभाव के अनुसार काम करने की स्थिति का निर्देश देती है। इन दोनों व्यवस्थाओं के अध्ययन की धारणा भिन्न है। आश्रम व्यवस्था में जीवन में चार अवस्थाओं के अन्तर्गत व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा अथवा पालन-पोषण का संबंध है: ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यास। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की उसके निजी स्वभाव एवं प्रवृत्तियों के संदर्भ में अपने समूह में स्थिति पर विचार किया जाता है।

"वर्ण" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में (4000 बी0सी0 में लिखा गया) सबसे पहले प्रयोग किया गया है और प्रारम्भ में केवल "आर्य" और "दास" दो वर्णों का ही वर्णन है। इसी वेद में समाज के तीन व्यवस्थाओं (order) में विभाजन का भी वर्णन है: ब्रह्म (पण्डित), क्षात्र (योद्धा), और विस (सामान्य जन)। चौथी व्यवस्था "शूद्र" का वर्णन नहीं है, यद्यपि आर्यों के द्वारा घृणा किए जाने वाले समूहों—"अयोग्य", "चाण्डाल", तथा "निषाद" शब्दों- का वर्णन मिलता है।

यही चार व्यवस्थाएं आगे चलकर चार "वर्ण" हो गए। प्रारम्भ में "शूद्रों" को अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। श्रीनिवास ने भी माना है कि चौथी व्यवस्था के "शूद्र" अस्पृश्य नहीं थे, बल्कि इस समूह में किसान,

श्रमिक एवं सेवक थे। “शूद्रों” को घरेलू नौकरों के रूप में ही नहीं बल्कि रसोइए के रूप में भी लगाया जाता था। इस प्रकार वैदिक काल में उच्च या निम्न “वर्ण” जैसा कुछ भी नहीं था। समाज का इन चार वर्णों या व्यवस्थाओं में विभाजन श्रम विभाजन पर आधारित था। ब्राह्मण पुजारी के रूप में, क्षत्रिय शासक व योद्धा के रूप में, वैश्य व्यापारी के रूप में, तथा शूद्र “सेवक” के रूप में कार्य करते थे।

वर्णों में विवाह संबंधों में प्रतिबन्ध नहीं थे और न ही खानपान में व सामाजिक संबंधों में थे। यहाँ तक कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण में सदस्यता परिवर्तन के लिए भी कोई प्रतिबन्ध नहीं था। बाद में जैसे हम वैदिक काल से ब्राह्मण काल में आते हैं, इन चारों वर्णों में श्रेणीक्रम प्रारम्भ हो गया और इसमें ब्राह्मण सर्वोच्च स्थिति में तथा “शूद्र” निम्नतम स्थिति में हो गए।

एक और विचारधारा के अनुसार “वर्णों” में अन्तर व श्रेणीक्रम का संबंध रंग भेद से था। इसके अनुसार “वर्ण” का अर्थ “रंग” है और इसी रंग के आधार पर “आर्य” और “दास” में अन्तर किया गया होगा क्योंकि आर्यों का रंग “साफ” (fair) और दासों का रंग काला माना गया है। “रंग” की धारणा इतनी बलवती हो गई कि कालान्तर में जब “वर्गों” को नियमित रूप से “वर्ण” माना गया, चार वर्णों के सदस्यों की चार रंगों से ही पहचान होने लगी। ब्राह्मणों को गौर या सफेद रंग, क्षत्रियों को लाल रंग, वैश्यों को पीला रंग तथा शूद्रों को काला रंग दिया गया।

जातियों की उत्पत्ति का संबंध “वर्णों” से नहीं है, यद्यपि जातियों के विकास की प्रक्रिया में उन्हें “वर्णों” से सम्बद्ध किया गया और जाति श्रेणीक्रम (hierarchy) और जाति गतिशीलता को “वर्ण” से जोड़ कर बताया गया। श्रीनिवास की भी यह मान्यता है कि “वर्ण” ने एक सामान्य सामाजिक भाषा प्रदान की है जो समूचे भारत के लिए एक जैसा है, अर्थात् वर्ण ने सामान्य व्यक्तियों को जाति व्यवस्था को समझने की एक सरल व स्पष्ट योजना दी है जो सारे भारत में लागू है। ह्यू (Hsu) की मान्यता है कि वर्ण तो समूचे हिन्दू समाज के लिए मात्र विचारात्मक योजना (conceptual scheme) है, जबकि जाति हिन्दू समाज की यथार्थ स्थिति को दर्शाती है।

3.3.2 जाति एवं उपजाति (Caste and Subcaste)

जाति एवं उपजाति में स्पष्ट अन्तर बताना आसान नहीं है क्योंकि दोनों की प्रवृत्तियाँ समान ही हैं। तथापि उपजाति जाति का उपविभाजन है। उदाहरणार्थ, कायस्थ एक जाति है और इसे अनेक उपजातियों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे, सक्सेना, श्रीवास्तव, निगम एवं भटनागर आदि। इसी प्रकार अग्रवाल जाति का उप विभाजन “दसा” व “बीसा” उपजातियों में है। ब्रह्मण एक “वर्ण” है तथा अनेक जातियों का एक मण्डल है। इस प्रकार कान्यकुब्ज, सरयूपारी तथा गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण हैं और भारद्वाज,

गौतम, कश्यप आदि ब्राह्मण गोत्र के उदाहरण हैं। जाति और उपजाति दोनों ही अन्तर्विवाही (endogamous) समूह हैं, किन्तु गोत्र बहिर्विवाही (exogamous) समूह है।

उपजातियों की उत्पत्ति कैसे हुई? इस पर दो दृष्टिकोण हैं: एक तो यह कि इनका उद्गम माता-पिता के समूह के विखण्डन (fission) से है; दूसरा यह कि इनकी उत्पत्ति स्वतंत्र समूहों से हुई है। धुर्ये के अनुसार उपजाति जाति से इन कारणों की वजह से भिन्न मानी जाने लगी: (1) अलगाव के कारण (जैसे, गुजराती और मालवी जुलाहे मध्य प्रदेश में, मेवाड़ी और मारवाड़ी नाई राजस्थान में); (2) मिश्रित उत्पत्ति के कारण (जैसे, मध्य प्रदेश के 'मिलाला' जिनकी उत्पत्ति भील व राजपूत माता-पिता से मानी जाती है); (3) पेशों में अन्तर के कारण (जैसे, कुम्हार जो कि बर्तन का काम करते हैं 'गधेड़े' कहलाते हैं तथा खेत में काम करने वाले 'खेतड़' कहलाते हैं); (4) धन्धे के तकनीकी विशिष्टताओं के कारण (जैसे, चमड़े का काम करने वालों में मोची उपजाति जो नये जूते बनाते हैं); (5) रिवाजों की असमानता के कारण (जैसे, विधवा पुनर्विवाह से संबंधित हो, और) (6) उपनाम के कारण।

इरावती कर्वे ने यह दृष्टिकोण स्वीकार किया है कि उपजातियाँ या तो जातियों के विखण्डित भाग हैं या वे स्वतन्त्र उत्पत्ति के हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है 'धार्मिक चलनों व तरीकों से यह प्रदर्शित होता है कि इन इकाइयों का अलग अस्तित्व व इतिहास ही इनकी बड़ी इकाइयों से अलग होने का कारण हो सकता है। रिज़ले, हट्टन व मजूमदार ने कहा है कि उपजातियाँ टूटकर मुख्य जातियों के बराबर अपनी स्थिति को उठाने के प्रयत्नस्वरूप अस्तित्व में आईं।

3.3.3 जाति एवं जनजाति (Caste and Tribe)

जाति तथा जनजाति में अन्तर करने का कोई मान्य आधार नहीं है। आन्द्रे बेतेइ (Andre Betails) का विचार है कि 'जनजाति' की धारणा को मौजूदा परिभाषाओं के आधार पर नहीं समझना चाहिए, अपितु भारत में परम्परागत रूप से मानी जाने वाली जनजातियों की विशेषताओं एवं उनके विश्लेषण के द्वारा समझना चाहिए। नाडेल (Nadel) जैसे सामाजिक मानवशास्त्रियों जनजाति को 'एक राजनैतिक, भाषाई एवं सांस्कृतिक सीमाओं वाला समाज' कहा है। इसका यह अर्थ हुआ कि जनजाति एक ऐसा 'समाज' है जिसके सदस्य सामान्य सरकार चलाते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति, विश्वास एवं प्रथाओं का अनुपालन करते हैं। यद्यपि कई जनजातियों की स्पष्ट सांस्कृतिक एवं भाषा संबंधी सीमाएं होती हैं, भले ही राजनैतिक न हों ऐसे अनेक जनजातीय समूह हैं जिनमें सरकार नहीं होती और न ही कोई केन्द्रीय अधिकार रखने वाला व्यक्ति समूह ही होता है। इसी प्रकार एक जनजाति में सांस्कृतिक समरूप (homogeneity) भी भ्रामक होती है क्योंकि इस युग में ऐसी कोई सीमा रेखा नहीं है जहां एक 'संस्कृति' समाप्त होती है और दूसरी प्रारम्भ। परन्तु जनजाति की अपनी एक बोली (dialect) अवश्य होती है। अतः जनजाति की मौजूदा परिभाषा अपर्याप्त है। धुर्ये, नाइक, बेली तथा वैरियर एलविन जैसे

विद्वानों ने जाति एवं जनजाति में भेद करने के लिए विभिन्न आधार प्रयोग किए हैं। कुछ आधार इस प्रकार हैं: धर्म, भौगोलिक पृथक्करण, भाषा, आर्थिक, पिछड़ापन तथा राजनैतिक संगठन।

बेली ने कहा है कि "जाति तथा जनजाति में भेद करने के लिए एक मात्र हल यह है कि ऐसी निरन्तरता (continuum) की कल्पना करें जिसके एक ओर तो समाज है जिसकी राजनैतिक व्यवस्था पूरी तरह खण्डात्मक और समानता पर आधारित (egalitarian) प्रकार की है और जिसमें निर्भर रहने वाले लोग नहीं होते, और दूसरी ओर वह समाज है जिसमें खण्डात्मक राजनैतिक संबंध बहुत कम लोगों में होते हैं और अधिकतर लोग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। ऐसे समाज की राजनैतिक व्यवस्था की तुलना एक जैविकीय व्यवस्था से की जा सकती है।"। लेकिन बेली का कहना है कि निरन्तरता के उस बिन्दु को पहचानना कठिन है जहां जनजाति समाप्त होकर जाति प्रारम्भ होती हो।

भारत में यह स्थिति और भी जटिल है क्योंकि ऐसी शायद ही कोई जनजाति हो जो अलग समाज के रूप में अपना अस्तित्व रखती हो। किसी भी जनजाति की भारत में अलग से कोई राजनैतिक सीमा नहीं है। बड़ी जनजातियां, जैसे भील, सन्थाल, ओराँव आदि क्षेत्रीय आधार पर बिखरी हुई हैं। फिर लगभग सभी जनजातियां विविध सीमाओं तक बड़े समाज में समा भी गई हैं। आर्थिक दृष्टि से भी जनजातीय अर्थव्यवस्था क्षेत्रीय व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार वे जनजातियां जो मानवशास्त्रियों द्वारा "आदर्श रूप" (ideal type) मानी गई हैं, मुश्किल से ही पाई जाती हैं। आन्द्रे बेतेइ (1969) की मान्यता है कि भारत में सभी जनजातियां परिवर्तन के दौर से गुजर रहीं हैं। लेकिन कुछ समुदायों को जनजाति की मान्यता दी गई है और उन्हें अनुसूचित जनजाति की सूची में सम्मिलित किया गया है।

3.3.4 जाति और वर्ग (Caste and Class)

जाति और वर्ग दोनों ही प्रस्थिति (status) समूह हैं। एक प्रस्थिति समूह व्यक्तियों का एक संकलन है जिन (व्यक्तियों) की एक विशिष्ट जीवन शैली होती है और एक प्रकार की चेतना रखते हैं। जाति एक वंशानुगत समूह होता है जिसकी एक निश्चित कर्मकांडी (ritual) प्रस्थिति होती है, जबकि वर्ग उत्पादन के संबंधों के आधार पर परिभाषित होता है। एक वर्ग के सदस्यों की दूसरे वर्ग के सदस्यों के साथ एक ही सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति होती है, जबकि एक जाति के सदस्यों की दूसरी जातियों के सदस्यों की तुलना में उच्च या निम्न प्रस्थिति होती है। एक सामाजिक वर्ग संगठित नहीं होता, किन्तु व्यक्ति और परिवार जो उसके सदस्य हैं अपेक्षाकृत समान शैक्षिक, आर्थिक व सामाजिक स्तर के होते हैं। जो लोग एक ही सामाजिक वर्ग के वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं उनके जीवन-अवसर (life chances) भी समान होते हैं। कुछ समाजशास्त्री सामाजिक वर्ग को मूलतः स्वभावतः आर्थिक (economic in nature) मानते हैं, जबकि दूसरे जीवन शैली, सम्मान तथा प्रवृत्ति जैसे कारकों पर बल देते हैं।

वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति निश्चित करने के तीन आधार आमतौर पर प्रयोग किए जाते हैं: वस्तुपरक (objective), व्यक्तिपरक (subjective) तथा प्रसिद्धिपरक (reputational)। वस्तुपरक आधार हैं: आय, शिक्षा और व्यवसाय प्रसिद्धिपरक आधार है: समुदाय के सदस्यों की मनोवृत्तियां (attitudes) और निर्णय (judement); और व्यक्तिपरक आधार है व्यक्तियों की समाज में अपनी स्थिति बनाना।

जाति एक बन्द सामाजिक स्तुत (stratum) है जिससे उसके सदस्यों का सम्मान व्यवसाय और सामाजिक संबंध निश्चित होते हैं। प्रत्येक जाति में दूसरी जाति के सदस्यों के साथ संबंध सीमित होते हैं और निश्चित प्रकार से बने होते हैं। दूसरी ओर वर्ग में एक वर्ग के सदस्यों के दूसरे वर्ग के सदस्यों के साथ संबंध परिस्थितिवश बंधे होते हैं। जाति और वर्ग का समाज में सह अस्तित्व होता है। कई अवसरों पर जातियां, वर्ग का कार्य भी कर सकती हैं।

3.4 जाति की विशेषताएं (Characteristics of Caste)

बूगल (Bougle) ने जाति के तीन तत्व बताये हैं— वंशानुगत विशेषज्ञता, श्रेणीबद्धता, एवं आकर्षण व विरोध। होकार्ट ने धार्मिक क्रिया-कलापों की पवित्रता और अपवित्रता पर बल दिया है। जबकि रिज़ले ने अन्तर्विवाह (endogamy) तथा वंशानुगत पेशे (occupation) पर बल दिया है। धुर्ये, केतकर, एन0के0 दत्त, आदि ने भी इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत किया है। यह माना जा सकता है कि एक इकाई के रूप में जाति की ये विशेषताएं हैं: वंशानुगत सदस्यता, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय, तथा जाति समितियां, जबकि व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषताएं हैं: श्रेणीक्रम, खानपान पर प्रतिबन्ध तथा शारीरिक व सामाजिक दूरियों पर प्रतिबन्ध।

3.4.1 व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषताएं

(क) जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम (Hierarchy basea on birth)

किन्हीं भी दो जातियों की एक समान प्रस्थिति नहीं होती। एक जाति का दूसरी जाति से संबंध का स्तर ऊँचा या नीचा होता है। जाति श्रेणीक्रम व्यवस्था में प्रत्येक जाति का निश्चित या अनुमानित स्तर या प्रस्थिति का निर्धारण करना यदि असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। श्रेणीक्रम के निर्धारण में दो तरीके अपनाये गये हैं, अवलोकन विधि और मत-मूल्यांकन विधि। अवलोकन विधि में जाति की प्रस्थिति निर्धारण के लिए या तो संकेतनात्मक (attributonal) विधि या अन्तःक्रियात्मक (interactional) विधि प्रयोग की गयी है। संकेतनात्मक विधि जाति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके व्यवहार से करती है; उदाहरणार्थ,

अपमानजनक व्यवसाय करना, इसकी प्रथाएं, शाकाहारी होना, तथा मद्यपान आदि आदतें। अन्तःक्रियात्मक विधि दो जातियों के एक दूसरे के संबंध में प्रस्थिति का मूल्यांकन उनके खान-पान की अन्तःक्रियाओं तथा विवाह संबंधों का अवलोकन द्वारा करती है। यदि “अ” जाति “ब” जाति की लड़की से विवाह करना स्वीकार कर लेती है, लेकिन उस जाति में अपनी लड़की नहीं देती तो “अ” का स्तर “ब” के स्तर से ऊँचा होगा।

मत-मूल्यांकन (opinion-assessing) विधि में सामूहिक श्रेणीक्रम में विभिन्न जातियों की प्रस्थिति के निर्धारण में विविध जातियों के उत्तरदाताओं के मत पर ध्यान दिया जाता है। ए०सी० मेयर, एम०एन० श्रीनिवास, डी०एन० मजूमदार, एस०सी० दुबे, पालिन महार, आदि विद्वानों ने जाति श्रेणीक्रम में जाति की स्थिति के विश्लेषण में अवलोकन विधि का प्रयोग किया था, जबकि मैकिम मेरियट व स्टैनले फ्रीड ने मत-मूल्यांकन विधि का प्रयोग किया है। एस०सी० दुबे ने जाति श्रेणीक्रम व्यवस्था में तेलंगाना में तीन गांवों में जाति प्रस्थिति निर्धारण के लिए एक ही आधार प्रयोग किया, जिसमें उन्होंने बताया कि कौन-कौन सी जातियां किन-किन जातियों के साथ भोजन कर सकती हैं। मेयर ने दूसरी ओर सहभोज के आधार को प्रयोग किया, जिसके अन्तर्गत खाना-पानी तथा विभिन्न जातियों के बीच “हुक्का” प्रयोग का आदान-प्रदान सम्मिलित है। पालिन महार ने बहु-अनुमाप (multiple-scaling) प्रविधि द्वारा जातियों की स्थिति निर्धारण उनकी धार्मिक (कर्मकांड) पवित्रता तथा अपवित्रता के आधार पर किया।

(ख) सहभोज पर प्रतिबन्ध (Commensal restriction)

एक व्यक्ति के विभिन्न जातियों के सदस्यों के साथ खान-पान संबंधी अनेक व विस्तृत नियम प्रचलन में हैं। इस विषय पर ब्लन्ट (Blunt) के अनुसार सात महत्वपूर्ण निषेध (taboos) प्रचलित हैं: (i) सहभोज निषेध, जो व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ भोजन खाने के नियम निर्धारित करता है; (ii) रसोई निषेध, जिसमें रसोई बनाने संबंधी नियम हैं कि कौन-कौन व्यक्ति किन-किन व्यक्तियों के खाने योग्य भोजन बना सकते हैं; (iii) खाने के निषेध, जिसमें भोजन के समय अपनाए जाने वाले धार्मिक कृत्यों के विवरण एवं नियम हैं; (iv) पीने के निषेध, जो दूसरे व्यक्तियों के हाथ से पीने का पानी लेने के नियम बताते हैं; (v) भोजन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार का भोजन (कच्चा, पक्का, हरी सब्जी, आदि) एक जाति का सदस्य दूसरी जाति के सदस्यों के साथ खा सकता है; (vi) तम्बाकू या धूम्रपान संबंधी निषेध, जो यह बताता है कि किस व्यक्ति का हुक्का किस जाति का व्यक्ति प्रयोग कर सकता है; (vii) बर्तन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार के बर्तन व्यक्ति को अपवित्रता से बचने के लिए प्रयोग करना या बचना चाहिए।

(ग) सामाजिक भागीदारी पर धार्मिक मान्यताओं की बाध्यता (Compelling religious sanctions on social participation)

सामाजिक अन्तर्क्रिया कलापों पर प्रतिबन्ध लगाने का कारण यह विश्वास है कि शारीरिक सम्पर्क से अपवित्रता (pollution) का सम्प्रेक्षण होता है। इसी प्रकार के विश्वासों के कारण ही जो निम्न जाति के लोग निकृष्ट धर्मों में लगे होते हैं, उन्हें उच्च जाति के लोग अपने से दूर ही रखते हैं। इसी प्रकार गोमांस खाने वाले अनेक निम्न जाति के लोग तथा चमार, धोबी, डोम, आदि सामान्यतया अस्पृश्य माने जाते हैं, और उन्हें हिन्दू लोगों द्वारा पृथक ही रखा जाता है। इसी प्रकार उच्च जाति तथा मध्य जाति के लोगों के साथ अन्तःक्रिया के लिए, आदर-सत्कार के लिए, दैनिक व्यवहार के लिए तथा धार्मिक क्रिया-कलापों से संबंधित निश्चित व भिन्न-भिन्न नियम बने हुए हैं।

(घ) जातिबाह्य अथवा अस्पृश्य उपस्तर (The Out Caste substratum)

जो जातियां निकृष्ट व मलिनता फैलाने वाले पेशों में लगी होती हैं, उन्हें अस्पृश्य माना जाता है। उन्हें बाह्य जातियां (दलित वर्ग), या अनुसूचित जातियां भी कहा जाता है। इन जातियों के विषय में माना जाता है कि वे आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में रहने वाली प्रजातियों से अवतीर्ण हुईं। बाद में उन्होंने हिन्दू समाज के निम्नतम स्थितियों को स्वीकार कर लिया। इन जातियों के सदस्य आमतौर पर गाँव या बस्ती के बाहर की ओर रहते हैं और मैला साफ करने, जूता बनाने, चमड़ा शोधन, आदि कार्यों से जीविका चलाते हैं। उन्हें उन कुओं से पानी लेने की अनुमति नहीं होती जिनसे उच्च जातियों के लोग पानी लेते हैं। उन्हें जन-सड़कों, स्कूलों, मन्दिरों, शवदाह स्थलों, होटलों तथा चाय की दुकानों आदि के प्रयोग से भी वंचित रखा जाता है। वे उन दैत्यों को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि भी देते हैं जो उनके जीवन पर अधिकार रखते हैं। उनकी उपस्थिति व स्पर्श भी दूसरों को दूषित/अपवित्र कर देंगे, ऐसा माना जाता है।

वर्तमान में जातिवादी लोगों द्वारा थोपे गए निषेध काफी कम हो गए हैं। यद्यपि ये निषेध वैधानिक रूप से हटा दिए गये हैं और अधिकतर उच्च जातियों के हिन्दुओं द्वारा अपवित्रता के डर को भी सामाजिक रूप से नहीं माना जा रहा है, फिर भी कुछ धार्मिक क्रिया-कलापों में प्रतिबन्ध जारी हैं, यद्यपि लौकिक दैनिक जीवन में इन्हें लागू नहीं किया जाता है।

1.4.2 इकाई के रूप में जाति की विशेषताएँ (Characteristics of Caste as a unit)

(क) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)

जाति में व्यक्ति की सदस्यता उसके जन्म से निर्धारित होती है। प्रत्येक जाति का अन्य जातियों की तुलना में क्योंकि एक निश्चित दर्जा (rank) होता है, अतः व्यक्ति की उच्च व निम्न प्रस्थिति इस पर निर्भर करती है कि जिस जाति में उसका जन्म हुआ है उसकी कर्मकांडीय प्रस्थिति क्या है। वास्तव में, एक परम्परानिष्ठ हिन्दू के जीवन का प्रत्येक पहलू उसके जन्म पर अटका होता है। उसके घरेलू संस्कार व रीति-रिवाज, उसकी मन्दिर आदि में पूजा, उसकी मित्र मण्डली, और उसका व्यवसाय, सभी कुछ उस जाति के स्तर पर आधारित होते हैं जिसमें उसने जन्म लिया है।

(ख) अन्तर्विवाह (Endogamy)

प्रत्येक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना होता है। इस प्रकार अन्तर्विवाह जाति समूहों के बीच एक स्थायी बाध्य स्थिति है।

(ग) निश्चित व्यवसाय (Fixed Occupation)

प्रत्येक जाति का निश्चित वंशानुगत पेशा होता है। एक पुरानी कहावत है कि एक ब्राह्मण सदैव ब्राह्मण होता है और चमार सदैव चमार होता है। कुछ व्यवसाय गन्दे (unclean) समझे जाते हैं जिस कारण जो व्यक्ति इनमें लगे होते हैं वे अस्पृश्य हो जाते हैं और यदि कोई अन्य इन व्यवसायों को अपनाता है, तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है ताकि वह जाति को दूषित न कर सके। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि ब्राह्मण जाति में सभी ब्राह्मणों को पंडिताई व्यवसाय में ही सदैव लगा रहना है या फिर सभी राजपूतों को रक्षा कार्य में लगने के कारण सेना में ही शामिल होना है। कुछ परिस्थितियों वश एक जाति के सदस्य को दूसरा व्यवसाय करने की अनुमति मिल जाती थी। इसी प्रकार एक ही जाति की विभिन्न उपजातियाँ विविध व्यवसाय अपना लेती हैं। उदाहरणार्थ, खटिक (कसाई) जाति की चार उप-जातियाँ उत्तर प्रदेश में कसाई, (बेलनवाला), राजगीर (राजगर), रस्सी बनाने वाले (सोमबट्टा) तथा फल बेचने के व्यवसाय में (मेवाफरोष) लगे हैं। व्यवसाय परिवर्तन से जाति परिवर्तन आवश्यक नहीं होता था जब तक कि स्थिति में परिवर्तन न हो। ब्लन्ट के अनुसार जब प्रस्थिति में इस प्रकार का परिवर्तन होता है तब वह तीन रूप धारण कर लेती है : (i) एक नई जाति में पृथक होना (ii) नये समूह का पहले से अस्तित्व वाली जाति में विलय (iii) मौलिक जाति के भीतर ही एक अन्तर्विवाही उपजाति की रचना।

जाति द्वारा थोपे गए व्यवसायिक प्रतिबन्धों के पीछे सामान्यतः धार्मिक उद्देश्य होता है, लेकिन कभी-कभी उनका विशुद्ध आर्थिक उद्देश्य भी होता है। उदाहरण के लिए, ओमैले ने मध्यप्रदेश के एक जिले के सुनारों के सन्दर्भ में कहा है कि वे लोग एक दावत का आयोजन करते हैं जिसमें वे कसम खाते हैं कि वे उन लोगों को जाति से बाहर निकालने का डर दिखाते हैं जो यह रहस्य खोलेंगे कि सोने में कितनी अन्य धातुएं किस मात्रा में मिलाई जाती हैं।

(घ) जाति पंचायत (Caste Panchayats)

प्रत्येक जाति की अपनी समिति होती है जिसे जाति पंचायत कहते हैं। लम्बे समय तक इन पंचायतों का अपने सदस्यों पर काफी प्रभाव था। यद्यपि आज कुछ जाति पंचायतों की समूचे देश में शाखाएं भी हैं क्योंकि संचार माध्यमों का समुचित विकास हुआ है, परन्तु कुछ दशाब्दियों पूर्व तक इन (शाखाओं) का कार्यक्षेत्र इतना सीमित था कि सदस्य आसानी से इकट्ठे हो सकें और एक दूसरे के प्रति जानकारी रख सकें। संचार सुविधा तथा अन्य स्थानीय दशाएं इन पंचायतों का कार्य क्षेत्र निर्धारित करती हैं। इस प्रकार क्योंकि समूची जाति या उप-जाति के लिए एक ही पंचायत होने के आदर्श को प्राप्त करना असम्भव है, अतः एक जाति या उप-जाति के सदस्य एक संबंधित समूह का निर्माण करते हैं जिसे "बिरादरी" (नातेदारों की समिति) कहा जाता है। यह बिरादरी एक बहिर्विवाही (exogamous) इकाई के रूप में अन्तर्विवाही जाति या उप-जाति की तरह कार्य करती हैं। वह समूह (बिरादरी) जाति या उपजाति के लिए कार्य करता है तथा अपने सदस्यों को अपनी कार्य परिधि के भीतर ही मान्यताओं को मनवाने के लिए बाध्य करता है। इन पंचायतों ने जो अपराध के मामले अपने कार्य क्षेत्र में लिए थे उनमें से प्रमुख थे—दूसरी जाति व उपजाति में भोजन के मामले, जिनके साथ भोजन निषेध था, दूसरी जाति की स्त्री को रखेल के रूप में रखना, विवाहित महिला के साथ अवैध संबंध रखना, विवाह के वायदे को तोड़ना, अदायगी से इनकार करना, छोटे-मोटे झगड़े रीति-रिवाजों का उल्लंघन, आदि। ऐसा करने पर जो दण्ड का विधान अपनाया जाता था उसमें जाति से निकालना, अर्थदण्ड, जाति के लोगों को दावत देना, या शारीरिक दण्ड आदि प्रमुख थे। जाति के सभी सदस्य पंचायत के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होते थे। ब्रिटिश काल में भी ये पंचायतें इतनी शक्तिशाली होती थीं कि न्यायालय द्वारा निर्णय किए गए मामलों को भी पुनर्विचार के लिए ले लेती थीं। इस प्रकार जाति पंचायत एक अर्ध-प्रभुता सम्पन्न (semi sovereign) संस्था थी।

वर्तमान में इन पंचायतों का अस्तित्व क्षीण हो गया है परन्तु अपवादस्वरूप ये काम कर रही हैं।

3.5 जाति की उत्पत्ति (Origin of Caste)

भारत में जाति की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं लेकिन कोई भी सिद्धान्त सही व्याख्या नहीं करता। रिज़ले ने जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भिन्नताओं (racial differences) के कारण बताई, नेसफील्ड तथा इबेट्सन ने पेशे को इसका कारण बताया, अबे डुबॉयस ने ब्राह्मणों की भूमिका को इसका कारण बताया, और हट्टन ने "माना" (Mana) को।

3.5.1 परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)

कुछ पश्चिमी एवं गैर-भारतीय विद्वानों जैसे ह्यू (Hsu) ने हिन्दू समाज को अन्ध विश्वासों पर केन्द्रित समाज बताया है, जिसमें लोग भावमय (abstract) सत्य से प्रलोभित होते हैं तथा इस सत्य को रहस्यवाद द्वारा ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं न कि विज्ञान द्वारा। ये विद्वान मानते हैं कि हिन्दू लोग चरम सत्य (ultimate reality) से निकटता ढूँढ़ते हैं और प्रत्येक वस्तु एवं घटना की व्याख्या ईश्वर तथा धर्म में ढूँढ़ते हैं। जाति जैसी संस्था की उत्पत्ति को ये "ब्रह्मा" के शरीर में खोजते हैं। परम्परात्मक सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रणाली दैवी विधान (divine ordinance) द्वारा स्थापित की गई है या फिर कम से कम ईश्वर के अनुमोदन (divine approval) से तो अवश्य ही। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की मान्यता है कि जाति प्रणाली मानव निर्मित (man-made) है या फिर कृत्रिम रूप से रचित (artificially-created) है और यह स्तरीकरण की प्रदत्त (ascriptive) प्रणाली है जिसमें प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण जन्म से होता है। परम्परागत सिद्धान्त जाति प्रणाली को एक स्वाभाविक (normal) व प्राकृतिक प्रणाली मानता है। इस सिद्धान्त के दो रूप हैं: मिथकीय (mythical) और आध्यात्मिक (metaphysical)।

मिथकीय कथन एवं पुराण-कथा के अनुसार चार वर्ण ही चार जातियाँ हैं और ये चारों जातियाँ ब्रह्म के शरीर के चार अंगों से निकली हैं। इसके अनुसार जाति सामाजिक कार्यों का प्राकृतिक रूप से निर्धारित एक संगठन है तथा एक विशेष जाति में व्यक्ति की सदस्यता धर्म और कर्म संबंधी सिद्धान्तों के आधार पर समझाई जा सकती है।

जाति का आध्यात्मिक (metaphysical) रूप जाति के लक्षणों, कार्यों तथा संस्तरण पर बल देता है। प्रत्येक जाति का अलग कार्य (function) होता है और यह कार्य उस (जाति) के सदस्यों के "स्वभाव" तथा "गुणों" पर आधारित होता है। हिन्दू दृष्टिकोण से व्यक्ति का स्वभाव दो गुणों में निहित है: गोत्रिका और नामिका। "गोत्रिका" का अर्थ वंशानुगत गुणों से है जो व्यक्ति अपनी वंश परम्परा अथवा गोत्र से प्राप्त करता है, और जिसकी वह अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ भागीदारी करता है। "नामिका" व्यक्ति के गुणों से संबंध रखती है जो कि विशेष रूप से व्यक्ति के अपने होते हैं तथा वह व्यक्ति उन गुणों की परिवार के सदस्यों के साथ भागीदारी नहीं करता है।

"स्वभाव" तथा "कार्य" (व्यवसाय) को परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। यह जाति के दूसरे लक्षण की व्याख्या करता है; वह है: "निश्चित व्यवसाय"। प्रकार्य (functions) दो प्रकार के होते हैं: सामान्य (ordinary) तथा असामान्य/असाधारण (extraordinary)। सामान्य प्रकार्य वे हैं जिनमें किसी विशेष दक्षता या कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है, जबकि असाधारण प्रकार्य वे हैं जिनको करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। असाधारण प्रकार्य फिर तीन प्रकार के होते हैं: तकनीकी-आर्थिक प्रकार्य (techno-economic) राजनैतिक वैधानिक प्रकार्य (politico-legal) सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकार्य

(cultural-religious)। ब्राह्मण सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकार्यों में लगे हैं, क्षत्रिय राजनैतिक-वैधानिक प्रकार्यों में, वैश्य तकनीकी-आर्थिक प्रकार्यों में, और शूद्र सामान्य प्रकार्यों में। प्रथम तीन “द्विज” श्रेणी में आते हैं, क्योंकि उनको पूर्व जन्म में प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था। उपरोक्त तथ्य चार वर्णों की संस्तरणात्मक व्यवस्था की व्याख्या करते हैं, जिन्हें परम्परात्मक सिद्धान्त में चार जातियाँ मानी गयी है। प्रकार्यों में अन्तर के आधार पर संस्तरणात्मक संगठन में खानपान संबंधी बन्धनों का अस्तित्व स्वाभाविक ही है। इन प्रतिबन्धों के अभाव में प्रकार्य विभाजन का उद्देश्य ही पीछे रह जायेगा। अतः समूहों के विभिन्न धार्मिक क्रियाकलापों एवं विवाह प्रतिबन्धों की व्याख्या स्वयं ही हो जाती है। यही परम्परात्मक सिद्धान्त का आध्यात्मिक पक्ष है।

जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में परम्परात्मक सिद्धान्त विद्वानों द्वारा विशेष रूप से दो कारणों से अस्वीकार किया गया है— प्रथम, यह सिद्धान्त जाति को स्वाभाविक घटना मानता है; द्वितीय, यह चार वर्णों को ही चार जातियाँ बताता है। इस सन्दर्भ में एम0एन0 श्रीनिवास ने भी लिखा है कि जाति के आधार पर समाज का चार भागों में विभाजन तथ्यों का एक विशुद्ध सरलीकरण मात्र है। जाति व्यवस्था की वास्तविक इकाई “वर्ण” नहीं अपितु “जाति” है, जो एक छोटा अन्तर्विवाही समूह है, जो परम्परागत व्यवसाय अपनाता है तथा जिसे कुछ सांस्कृतिक, धार्मिक व न्यायिक स्वायत्तता प्राप्त है।

3.5.2 ब्राह्मणीय सिद्धान्त (Brahminical Theory)

फ्रांसीसी विद्वान अबे डुबॉयस (Abe Dubois) का मानना है कि भारत में जाति प्रथा का उद्भव और विकास ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई एक चतुर योजना है जो कि ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता चिरस्थायी रखने के लिए रची थी। ब्राह्मणों ने गैर-ब्राह्मणों के साथ खाने-पीने, विवाह तथा सामाजिक संबंधों में प्रतिबन्ध लगा दिए जिससे उनकी धार्मिक पवित्रता बनी रहे जो कि उनके द्वारा किए जाने वाले पुरोहिती कृत्य करने के लिए आवश्यक है। साथ ही उन्होंने स्वयं को “ब्राह्मण” और अन्य ग्रन्थों में ऊँचा पद दिया और अपने लिए विशेषाधिकार और परमाधिकार बना लिए और अन्य सभी लोगों को निम्न पद प्रदान किये।

धुर्ये का भी विश्वास है कि जाति की उत्पत्ति में ब्राह्मणों की प्रमुख भूमिका है। अतः वे ब्राह्मण सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनकी मान्यता है कि वे सभी विविध कारक जो जाति-समाज की विशेषता बताते हैं, ब्राह्मणों के उन प्रयत्नों का फल हैं जो उन्होंने स्वयं को आदिवासियों तथा शूद्रों के धार्मिक व सामाजिक सम्पर्क से पृथक रखने तथा ब्राह्मण सभ्यता को ऊँचा बनाए रखने के लिए किए थे।

समाज में जो सामाजिक प्रतिमान इस सर्वसम्माननीय वर्ग (यानि कि ब्राह्मणों) ने स्थापित किया, वह अन्य समूहों ने सम्मान प्राप्त करने के लिए नकल करना शुरू किया। इस प्रकार विवाह संबंधी तथा खान-पान संबंधी मौलिक प्रतिबन्ध, जो समाज में केवल चार वर्गों के विचार पर आधारित थे, प्रत्येक समूह की

विशेषताएं बन गए। अतः धुर्ये ने स्पष्टतः लिखा है कि “भारत में जाति इण्डोआर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो कि गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है”।

हट्टन बहरहाल अनुभव करते हैं कि जाति की उत्पत्ति के विषय में ब्राह्मणीय सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन है। उन्होंने इसके विपक्ष में दो तर्क दिए हैं:

(i) यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो इसका अर्थ होगा कि जाति का उद्भव तब हुआ होगा जब ब्राह्मणों ने राजनैतिक शक्ति प्राप्त की होगी। लेकिन हट्टन का मानना है कि जाति का उद्भव इतनी विलम्ब से नहीं हुआ होगा।

(ii) जाति के समान गहरी जड़ों वाली संस्था किसी प्रशासनिक उपाय के द्वारा थोपी नहीं जा सकती है।

3.5.3 प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)

हरबर्ट रिज़ले इस सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रतिपादक रहे हैं, यद्यपि इनके इस सिद्धान्त का अनुमोदन धुर्ये, मजूमदार, वैस्टरमार्क और अन्य विद्वानों ने भी किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृतियों के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति के निर्माण की प्रक्रिया सम्भव हुई। विश्व इतिहास में जब कभी किन्हीं लोगों ने दूसरे लोगों को अपने आधीन किया, विजेताओं ने पराजित लोगों की स्त्रियों को न केवल अपनी रखैल या पत्नी बनाया, अपितु अपनी लड़कियाँ उन्हें देने से मना कर दिया। जब ये दो समूह (पराजित व विजेता) एक ही प्रजाति के तथा एक ही रंग आदि के होते हैं, तो इनमें पूर्ण सम्मिश्रण (amalgamation) हो जाता है। लेकिन यदि वे अलग-अलग प्रजाति या रंग के हों तो विकास की दिशा अलग रास्तों पर चलती है। इस प्रकार उच्च समूह की स्त्रियाँ और निम्न समूहों के पुरुषों के अनियमित मेल-जोल के कारण एक अर्द्ध-नस्ल (half-breed) का वर्ग बन जाता है जिसके सदस्य केवल आपस में ही विवाह करते हैं तथा हर दृष्टि से एक जाति के रूप में कार्य करते हैं।

भारत में भी प्रवासी आर्यों के संस्कारों के बारे में अपने ही विचार थे। वे मूल निवासियों को अपने से निकृष्ट समझते थे। इसके अतिरिक्त, आर्य लोग पितृवंशीय थे जबकि पराजित मूल निवासी मातृवंशीय थे। उन्होंने आदिवासियों की लड़कियों से विवाह तो किया किन्तु अपनी लड़कियों को उन्हें नहीं दिया। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को समाज में निम्नतम स्थान प्रदान किया गया और उन्हें “चाण्डाल” कहा गया। अतः अर्द्ध-नस्ल समूह की उत्पत्ति तथा प्रजाति श्रेष्ठता की भावना परिणामतः जाति व्यवस्था के उत्पत्ति का कारण बन गये।

रिज़ले के प्रजातीय सिद्धान्त का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है। धुर्ये के अनुसार मूल निवासियों की तुलना में अधिक सभ्य एवं गौर वर्ण (fair) होने के नाते आर्यों ने अपना अलगपन दर्शाने की चेष्टा की है। सामाजिक व्यवहार में एकांतिक तथा संस्कारों की पवित्रता में उनका विश्वास मूल निवासियों से भिन्न था। वे मूल निवासियों के बारे में कठोर शब्द प्रयोग करते थे और उनके साथ सामाजिक क्रियाओं में अनेक प्रतिबन्ध लगाते थे।

एन०के० दत्त, डी०एन० मजूमदार और वेस्टरमार्क ने भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी प्रजातीय सिद्धान्त का समर्थन किया है। वेस्टरमार्क का कहना है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में श्याम वर्ण के लोग रहते थे। मूल निवासियों की आर्यों के प्रति विद्वेष की भावना तथा आर्यों की उदासीनता जो मूल निवासियों के प्रति उनमें थी, दोनों ही तथ्यों ने आर्यों और अनार्यों में तीव्र भेद विकसित किये। इन्हीं भेदों के कारण जाति व्यवस्था का जन्म हुआ। हट्टन के विचार से भी प्रजाति जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में एक आवश्यक कारक है।

यदि रिज़ले के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाये तब तो जाति व्यवस्था ने केवल भारत में होनी चाहिए बल्कि उन सभी समाजों में भी होनी चाहिए जिन पर अन्य प्रजातीय समूहों ने विजय प्राप्त की। रिज़ले का स्वयं का मत भी यही है कि जाति प्रथा भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह तो स्पष्ट रूप से दक्षिण अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको आदि में भी विद्यमान है।

क्या जाति व्यवस्था भारत की एक अद्वितीय घटना है? (Is Caste System Unique Indian Phenomenon?)

लीच, ड्यूमान्ट, पोकाक, बूगल, होकार्ट, हट्टन, सेनार्ट, हैरोल्ड गूल्ड और श्रीनिवास आदि विद्वानों की मान्यता है कि जाति एक ऐसी घटना है जो कि केवल भारत की ही विशेषता है, जबकि रिज़ले, विलियम क्रुक, आदि की मान्यता है कि जाति एक सार्वभौमिक घटना है। ऐसे विद्वान भी हैं जिन्होंने जाति को नृशास्त्रीय श्रेणी (ethnographic category) में रखा है और इस रूप में जाति भारत में ही हिन्दू सामाजिक संगठन की विशेषता है। लेकिन जो लोग जाति को समाजशास्त्रीय श्रेणी में रखते हैं, वे मानते हैं कि यह (जाति) एक असाधारण कठोरता (exceptional rigidity) वाली वर्ग संरचना है। फ्रेडरिक नार्थ जिन्होंने मुस्लिम समाज की स्तरीकरण प्रणाली का उत्तरी पाकिस्तान में स्वात में अध्ययन किया, यह पाया कि यद्यपि संकीर्ण सांस्कृतिक संदर्भ में वहाँ का प्रतिमान हिन्दू समाज से काफी भिन्न है, फिर भी जाति व्यवस्था वहाँ भी इस रूप में मौजूद है कि सामाजिक समूह व्यवसाय से जुड़े हैं और श्रेणीबद्ध स्थितियाँ (hierarchical ranking) व श्रम संगठन की व्यवस्था हिन्दू जजमानी व्यवस्था के समान है। अतः उसने माना कि सांस्कृतिक घटना के रूप में नहीं परन्तु संरचनात्मक घटना के रूप में जाति व्यवस्था

उत्तरी पाकिस्तान में मिलती है। लीच और ड्यूमान्ट तथापि मानते हैं कि सरचनात्मक दृष्टि से भी जाति केवल भारत में ही सीमित है। वे कहते हैं कि जाति सरचनात्मक संगठन की एक विशेष किस्म (species) का संकेत करती है जो सर्व-भारतीय सभ्यता के चिरस्थायित्व रूप से जुड़ी हुई है। यलमैन ने बौद्ध सिंहलियों के अध्ययन में पाया कि वहाँ जाति का सैद्धान्तिक रूप तो है किन्तु व्यवहार में वह नहीं है और यह सिद्धान्त या विचार अन्तर्विवाह, अपवित्रता और पद स्थिति में वहाँ मौजूद हैं। तथापि ये विचार स्वेच्छा से स्वीकार कर लिए जाते हैं क्योंकि वे धार्मिक आधार पर नहीं बल्कि निकट संबंधी समूह की वरीयता पर आधारित है।

3.5.4 व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)

जाति प्रणाली की उत्पत्ति के विषय में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ने सफील्ड व उसके समर्थक डेन्जिल इब्बेटसन विश्वास करते हैं कि जाति की उत्पत्ति को प्रजाति या धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है, बल्कि पेशा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। नेसफील्ड मानते हैं कि एक पेशा की तकनीकी दक्षता वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दे दी जाती थी तथा लोग एक ही पेशे को लम्बे समय तक अपनाते रहते थे और इस प्रकार “व्यावसायिक संघों” (occupational guilds) का अस्तित्व प्रारम्भ हुआ जिनको बाद में “जाति” कहा जाने लगा। उनके अनुसार, जाति प्रथा में संस्तरण (hierarchy) व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता व हीनता की भावना का नतीजा है। उनका मानना है कि किसी भी जाति का उच्च या निम्न दर्जा इस बात पर निर्भर करता है कि तत्संबंधी उद्योग जिसका जाति प्रतिनिधित्व करती है, वह संस्कृति के विकसित या पिछड़ेपन की अवस्था से संबद्ध है। वे धातु शिल्पियों (artisans) का उदाहरण देते हैं जो टोकरी बनाने वालों और धातु का प्रयोग न करने वाले पेशों में लगे लोगों से स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं। यह समझाते हुए कि ब्राह्मणों ने जातीय संस्तरण व्यवस्था में किस प्रकार श्रेष्ठ पद बना लिया, वे कहते हैं कि ब्राह्मण भी “पेशा” की दृष्टि से संस्कारों, बलि देने, यज्ञ, व जप में विशिष्टता लिए हुए थे। क्योंकि उस समाज में सामाजिक जीवन में यज्ञ और बलि का बड़ा महत्व था, इसलिये ब्राह्मण समाज में महत्वपूर्ण और सम्माननीय बन गए। इस प्रकार ब्राह्मण जाति व्यवस्था में प्रथम थे और इसी मॉडल पर अन्य शेष जातियाँ बनीं। नेसफील्ड ने जाति उत्पत्ति के दो कारण दिए हैं: पेशा या व्यवसाय, और जनजाति का संगठन।

नेसफील्ड का समर्थन करते हुए डेन्जिल इब्बेटसन ने भी जाति की उत्पत्ति को तीन कारकों का परिणाम माना है: (i) जनजाति (ii) संघ (guilds) (iii) धर्म। वह कहते हैं कि जनजातियाँ पेशेवर संघों के रूप में विकसित हुईं और वे (संघ) धार्मिक रूप से कार्य करने लगे और इस प्रकार सामाजिक विकास की प्रक्रिया में उनका जातियों के रूप में विकास हुआ।

अनेक विद्वानों ने नेसफील्ड और इब्बेटसन के सिद्धान्तों की आलोचना की है। सेनार्ट (Senart) ने एक प्रश्न रखा है कि चूंकि अनेक जातियां एक से अधिक पेशों में लगी हैं, वे अपने नाम किस प्रकार रखती हैं? क्या वे अपने प्रमुख (dominant) व्यवसाय पर नाम रखती हैं? सेनार्ट दावा करते हैं कि रूस में अनेक गाँव ऐसे हैं जहां समूची जनसंख्या एक ही पेशे में लगी होती है; जैसे, जूते बनाने में या वर्तन बनाने, आदि में। ये गाँव केवल समूहों का एकत्रीकरण नहीं हैं जो कि एक ही समुदाय के रूप में उदित हुए बल्कि ऐसे समुदाय के रूप में हैं जो केवल एक ही उद्योग में लगे हैं। व्यवसाय समूहीकरण का कारण ही है, अपितु समूहीकरण ही पेशेवर समुदाय के लिए उत्तरदायी होता है। तब फिर भारत में ऐसा क्यों नहीं है?

डी०एन० मजूमदार (1952:292) ने भी नेसफील्ड के विचारों की आलोचना की है, विशेषकर जातीय संस्तरण की, जिसमें पेशों के आधार पर श्रेष्ठता व हीनता की भावना का विकास बताया गया है। उनकी मान्यता है कि जातियों की प्रस्थिति पेशे की श्रेष्ठता व हीनता पर निर्भर नहीं करती है, बल्कि रक्त की शुद्धता की मात्रा और समूहों के एकाकीपन की सीमा पर निर्भर करती है। हट्टन भी विश्वास करते हैं कि नेसफील्ड का व्यावसायिक सिद्धान्त विभिन्न कृषक जातियों के सामाजिक स्तर की व्याख्या नहीं करता है।

3.5.5. केतकर का सिद्धान्त (Ketskars' Theory)

केतकर ने जाति की उत्पत्ति प्रारम्भिक जनजातियों से तथा मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक पक्षपाती प्रवृत्तियों (prejudicial tendencies) से मानी है। उनका विश्वास है कि जातियां विकसित जनजातियां या परिवर्तित (converted) वर्ग हैं। अनेक जनजातियां जो भारत के विभिन्न भागों में रहती थीं, विभिन्न इकाईयों के रूप में मौजूद थीं और अन्तर्विवाह प्रथा के चलन में आने के बाद वे सब यूरोपियन जनजातियों की तरह एक दूसरे से नहीं मिलीं। इनमें से अनेक जनजातियां आपस में संघर्षरत रहीं क्योंकि उनके सरदारों ने या तो सीमा के प्रश्न पर संघर्ष किया था या फिर एक कबीले के किसी व्यक्ति ने दूसरे कबीले की किसी लड़की का अपहरण कर लिया था। इन संघर्षों के कारण लोग दूसरी जनजातियों में विवाह की अवहेलना करते रहे और हर प्रकार से अपनी ही जनजाति के सदस्यों के बीच अन्तर्क्रिया करते रहे। केतकर आगे और मानते हैं कि "जाति व्यवस्था की उत्पत्ति" के विषय में बात करने की अपेक्षा, हमें "जाति के विविध लक्षणों की उत्पत्ति" के विषय में बात करनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक लक्षण के पीछे उसकी उत्पत्ति का एक इतिहास है न कि पूरी जाति व्यवस्था का, क्योंकि जाति व्यवस्था के विभिन्न लक्षणों के विकास की प्रक्रिया में 3000 वर्ष का समय लगा। इस प्रकार केतकर के अनुसार "जाति की उत्पत्ति" कथन का कोई अर्थ नहीं है, यद्यपि अन्तर्विवाह की अपनी उत्पत्ति है, वंशानुगत पेशे और खानपान के प्रतिबन्धों की अपनी उत्पत्ति का इतिहास है, पुरोहितों की प्रभुता (ascendency) और उनकी प्रथाभाव की अपनी उत्पत्ति है, तथा पवित्रता और अपवित्रता की भी अपनी उत्पत्ति है। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक

घटना (लक्षण) की उत्पत्ति हो सकती है, लेकिन जब तक “जातियाँ” जैसे शब्द सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में रहेंगे तब तक “जाति व्यवस्था” की उत्पत्ति के विषय में विचार भी नहीं किया जा सकता।

केतकर के सिद्धान्त की आलोचनात्मक मूल्यांकन की आवश्यकता है। उनका मुख्य विचार कि जातियों की उत्पत्ति जनजातियों से हुई, राइस के टोटमवाद सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम मालूम पड़ता है जिसके अनुसार जाति की उत्पत्ति टोटम तथा निषेधों (taboos) में विश्वास के कारण हुई। बी०एस० गुहा ने भी राइस के सिद्धान्त के समान ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बनर्जी ने भी बताया है कि जाति की उत्पत्ति आदिकाल के जादू-टोनों में विश्वास के कारण हुई। जनजातियों से जातियों की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ होगा उस तथ्य को स्वीकार करना कि जाति व्यवस्था का विकास आर्यों द्वारा न होकर मूल निवासी द्रविड़ों द्वारा हुआ।

3.5.6 सेनार्ट का सिद्धान्त (Senarts' Theory)

सेनार्ट ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का स्रोत आर्यों को माना है। उनकी मान्यता है कि जाति व्यवस्था के लक्षण आर्य प्रजाति की सभी शाखाओं में समान रूप से उपयोग और परम्पराओं का अंग हैं और ये समान लक्षण हैं: व्यक्तिगत जीवन, विवाह-भोजन, तथा संस्कारों को नियमित करने का क्षेत्राधिकार, कुछ आराधना के व्यवहार तथा निगमित संगठन आदि। भारतीय, यूनानी और रोमवासी सभी तो आर्य हैं और उनकी सभ्यताएं प्राचीनतम हैं। सेनार्ट इन तीनों में कुछ समानताएं पाते हैं। जिस प्रकार भारत में तीन प्रमुख समूह हैं परिवार, गोत्र और जाति उसी प्रकार जेन (gen), क्यूरिया (Curia) और जनजाति (tribe) रोम में, तथा परिवार, फ्रत्रिय (Pharatria) और फाइल (Phyle) यूनान में हैं। जिस प्रकार गोत्र भारत में बहिर्विवाही समूह है उसी प्रकार रोम में जेन तथा यूनान में फ्रत्रिय भी अपने ही समूह में विवाह संबंध सीमित रखते हैं। भारतीय ब्राह्मण और रोमन पादरी दोनों ही को अनुलोम (Hypergamous) विवाह के अधिकार हैं। उसी प्रकार, जिस तरह भारत में विवाह के बाद स्त्री के गोत्र का परिवर्तन उसके पति के गोत्र में हो जाता है उसी तरह का रिवाज रोम में भी प्रचलित है। भारत के “हुक्का पानी बन्द” (बहिष्कार) रिवाज की तुलना रोम में एक रिवाज (Interdict aquae igni) से की जा सकती है। जैसे भारत में जाति पंचायतें हैं और सरपंच उसका मुखिया और सबसे अधिक शक्तिमान नेता होता है, उसी प्रकार रोम और यूनान में भी इसी प्रकार की शक्तिवान समितियां होती हैं। इस तुलना के आधार पर सेनार्ट मानते हैं कि जाति, प्राचीन आर्यों की संस्थाओं की सामान्य विकसित रूप है। भारत में, तथापि विशेष दशाओं के कारण, जाति ने विशेष रूप धारण किया है।

लेकिन दैहलमन तथा नरमदेश्वर प्रसाद जैसे विद्वानों ने सेनार्ट के सिद्धान्त की आलोचना की है। नरमदेश्वर प्रसाद की मान्यता है कि सेनार्ट से सहमति कठिन है क्योंकि उनके द्वारा दिए गए ऐतिहासिक

समानान्तर साक्ष्य उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था ही नहीं जैसा कि सेनार्ट ने बताया, बल्कि यह तो ब्राह्मण युग में विकसित हुई।

3.5.7 हट्टन का “माना” सिद्धान्त (Hutton's Theory of Mana)

हट्टन ने आदिम अवधारणा (conception) “माना” पर जातियों की उत्पत्ति के लिए जोर डाला है, जिसका समर्थन शरद चन्द्र राय, राइस तथा स्मार्ट जैसे विद्वानों ने किया है। हट्टन के अनुसार “माना” एक अवैयक्तिक, अलौकिक तथा अदृश्य शक्ति है जो व्यक्तियों, वस्तुओं व स्थानों में मिलती है। यह विश्वास किया जाता है कि “माना” को व्यक्तियों को हानि पहुंचाने की शक्ति है। जहां पर भी “माना” में विश्वास प्रचलित है वहाँ एक संरक्षक (protective) उपाय के रूप में “निषेध” में भी विश्वास मिलता है। अतः एक जनजाति के सदस्यों को दूसरी जनजातियों के “माना” से बचाने के लिए उन पर खान-पान, अन्तर्विवाह और पारस्परिक अन्तःक्रिया संबंधी निषेध लगाये गये थे। हट्टन का कहना है कि जनजातियां अपरिचितों के खाने को खतरनाक मानती हैं। अतः दूसरों के साथ सहभोज पर प्रतिबन्ध तथा सम्पर्क रखने पर रोक इस विश्वास पर आधारित है कि ये (सहभोज और सम्पर्क) अपरिचितों के खतरनाक “आत्मा-पदार्थ” (soul-matter) से संदूषित (infected) हो सकते हैं।

सहभोज के निषेधों की तरह ही अन्य निषेध भी लोगों को “माना” से बचाने के लिए लगाए गए। हट्टन मानना है कि “माना” सिद्धान्त अन्य धर्मों में भी माना जाता है। बौद्धों में यह “इधि” (Iddhi), मुसलमानों में “कुदरत” और हिन्दुओं में “शक्ति” नाम से यह परिचित है। तथापि ऐसा लगता है कि ऋग्वैदिक आक्रमणकारियों के रूप में जब आर्य भारत में आये तो उनमें जो श्रेणीकृत (graded) सामाजिक वर्ग थे उनके सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव के कारण ही हमारे उस समाज में सामाजिक प्राथमिकता का सिद्धान्त स्थापित हुआ जो पहले से ही निषेधों के कारण पृथक्कृत (isolated) समूहों में विभाजित था।

डी०एन० मजूमदार ने हट्टन की “माना” के आधार पर जाति की व्याख्या की आलोचना की है। वे मानते हैं कि दूसरे समाजों में भी जनजातियां “माना” में विश्वास करती हैं, लेकिन हमें वहाँ जाति व्यवस्था नहीं मिलती। भारत में यह (जाति व्यवस्था) प्रजातीय संघर्षों एवं भेदों का फल है।

अन्त में जाति की उत्पत्ति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि “विविध कारकों” वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह मानना अनुचित नहीं होगा कि भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कारकों में प्रमुख इस प्रकार हैं प्रजातीय-भिन्नताओं के कारण आर्यों की मूल निवासियों से श्रेष्ठता की भावना, ब्राह्मणों का एकाधिकार पूर्ण पुरोहितपन, पेशों की भिन्नता, और संस्कारों की पवित्रता और अपवित्रता से सम्बद्ध धार्मिक विचार जो कि आरम्भ में शूद्रों (मूल निवासियों) पर लागू किये गये थे और बाद में कुछ पेशों के

प्रति वैचारिक अपवित्रता संबंधी विचार के कारण अन्य समूहों पर भी लागू किये गये। इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि जाति व्यवस्था के विकास में अनेक कारकों का योग रहा है। समूहों की विखण्डन की प्रवृत्ति, एवं एकता की भावना तथा प्रत्येक जाति में “हम भाव” को कुछ निम्न सामाजिक-राजनैतिक कारकों द्वारा प्रश्रय मिला; जैसे, राज्य द्वारा कठोर सैनिक नियंत्रण का अभाव, कानून और प्रथा संबंधी समान स्तर को लागू करने के लिए शासकों की अनिच्छा, विविध समूहों की भिन्न प्रथाओं को वैध मानने के लिए उन (शासकों) की तत्परता, तथा घटनाओं को अपने आप समायोजन करने के लिए समय देने की उनकी प्रवृत्ति। इन सभी कारकों ने कुछ भिन्नताओं पर आधारित जाति के निर्माण को प्रोत्साहित किया।

3.6 सारांश

उपरोक्त इकाई-1 के अध्ययन के उपरान्त आपने उन उद्देश्यों को प्राप्त कर लिया होगा जिनका संदर्भ पूर्व में दिया जा चुका है। अब तक हमने जिस विषयवस्तु की चर्चा की है आइए उसका पुनः स्मरण करें।

जाति एवं वर्ण भिन्न धारणायें हैं। उपजाति, जाति का विभाजन है। जनजाति जाति से धर्म, भौगोलिक पृथक्करण, भाषा, आर्थिक पिछड़ेपन एवं राजनैतिक संगठन के आधार पर भिन्न है। जाति और वर्ग दोनों ही प्रस्थिति समूह हैं। जाति एक वंशानुगत समूह होता है जिसकी एक निश्चित कर्मकाण्डी प्रस्थिति होती है। जबकि वर्ग सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर परिभाषित होता है। व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषतायें हैं— जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम, सहभोज पर प्रतिबन्ध, धार्मिक मान्यताओं की बाध्यता, जाति वाह्य अथवा अस्पृश्य उपस्तर आदि। इकाई के रूप में जाति की विशेषतायें हैं— प्रदत्त प्रस्थिति, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय, जाति पंचायत आदि।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार से समाज में जाति व्यवस्था की उत्तपत्ति हुयी है और समाज में किन-किन कारणों से जातियों में विभेद उत्पन्न हुआ है साथ ही जाति के उत्पत्ति के सिद्धान्त के अन्तर्गत विद्वानों ने जाति व्यवस्था के प्रति अपना दृष्टिकोण रखा है। अतः हम अपने अध्ययन से स्पष्ट कर सकते हैं कि इकाई के रूप में जाति एक बन्द कोटि वाला स्थित समूह है अथवा एक ऐसा समूह है जिसमें सदस्यों की प्रास्थिति उनका व्यवसाय, जीवन साथी को चुनने का क्षेत्र तथा दुसरे सदस्यों के साथ अन्तक्रिया सभी कुछ निश्चित होता है। व्यवस्था के रूप में जाति का सम्बन्ध अन्तसम्बन्ध प्रास्थितियों और जातियों के बीच उस प्रतिमानित अन्तक्रिया से है जो विभिन्न प्रतिबन्धों के संग्रह पर आधारित है।

3.7 सन्दर्भ सूची

1. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा- सामाजिक समस्याय (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा० अवतार सिंह-भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा०गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो०इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)-डा० शैफाली यादव
10. डा० कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा०अभय सिंह-सूचना का अधिकार अधिनियम2005, (2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा०आर०के०अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा० इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

3.7.1 -सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

14. सी०पी० अरोरा-विविध अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
15. डा० टी०पी० त्रीपाठी-सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)- इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
16. प्रो० इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
17. डा० एस०के० कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) जाति की उत्पत्ति संबंधी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
- (2) जाति की सरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणा के विषय में आप क्या जानते हैं?
- (3) जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति किस प्रकार भिन्न हैं?
- (4) जाति की विशेषताओं की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

एल-एल.एम. प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-3, धर्म और विधि
इकाई-4 विधि का सामाजिक परिवर्तन: कारक एवं सिद्धान्त

इकाई की संरचना

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक
 - 4.3.1 प्रौद्योगिकीय कारक
 - 4.3.2 आर्थिक कारक
 - 4.3.3 सांस्कृतिक कारक
 - 4.3.4 कानूनी कारक
 - 4.3.5 राजनैतिक कारक
- 4.4 विश्लेषण
- 4.5 निष्कर्ष
- 4.6 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा
 - 4.6.1 मानव का परिवर्तनशील स्वभाव
- 4.7 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा
- 4.8 सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धान्त
 - 4.8.1 सामाजिक परिवर्तन : चक्रीय सिद्धान्त
 - 4.8.2 सामाजिक परिवर्तन : रेखीय सिद्धान्त
 - 4.8.3 सामाजिक परिवर्तन : कार्ल मार्क्स का आर्थिक सिद्धान्त
 - 4.8.4 सामाजिक परिवर्तन : प्रौद्योगिकीय सिद्धान्त
 - 4.8.5 सामाजिक परिवर्तन : सांस्कृतिक सिद्धान्त
- 4.9 सारांश
- 4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.12 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

समाज की संरचना और संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात आंतरिक और बाह्य स्रोतों द्वारा होता है। समाज की संरचना से हमारा संदर्भ अधिसंरचनात्मक सुविधाओं, लोगों में इसके वितरण और उनकी सुविधाओं तक पहुँच से है जबकि समाज की संस्कृति में परम्पराओं, धर्म, जीवन के मानक और पारस्परिक व्यवहार शामिल है। समाज की संरचना और संस्कृति स्थिर नहीं रही है। सामाजिक परिवर्तन इस प्रकार एक अपरिहार्य प्रक्रिया हो जाती है।

इसके पूर्व के अध्याय में यह कहा गया था कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा ऊर्ध्वमुखी या अधोमुखी, एकरेखीय, बहुरेखीय या चक्रीय हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन उन्नति या अवनति के रूप में उभर सकता है। अतः सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एक विशिष्ट समाज की संरचना और संस्कृति में बदलाव से है। सामान्यतया, सामाजिक परिवर्तन मूल्य तटस्थ है। कभी कभी सामाजिक परिवर्तन रूढ़िवादी या अतिरिक्त, परिवर्तन चक्रीय और वक्र की तरह भी होता है।

4.2 उद्देश्य

सामाजिक परिवर्तन समाज के साथ-साथ चलने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कराने वाला एक कठिन विषय है। इसका मुख्य उद्देश्य है कि आप सामाजिक परिवर्तन को उत्पन्न करने वाले कारक एवं उन परिवर्तनशील उद्देश्यों को पूर्ण करने वाले विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकेंगे। और साथ ही निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ सकेंगे—

1. सामाजिक परिवर्तन के कारक
2. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा
3. सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा
4. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धान्त

4.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक

सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन का कोई एक कारक नहीं है। फिर भी निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया गया है। (1) जनांकिकीय, (2) प्रौद्योगिकीय, (3) आर्थिक, (4) सांस्कृतिक, (5) कानूनी और प्रशासनिक, और (6) राजनैतिक।

4.3.1 प्रौद्योगिकीय कारक

भारतीय समाज में अन्यत्र दूसरे समाजों में प्रौद्योगिकी द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में नए आविष्कारों की उत्पत्ति ही औद्योगिक क्रान्ति थी। वैज्ञानिक कार्यक्षेत्र में नए कदमों के आधार पर थर्सटीन वेब्लेन ने फुरसत(विलास) और फुरसती (विलास) वर्ग के सिद्धान्त की रचना की। यह वर्ग है जो तकनीकी कार्यक्षेत्र में अधिकतम बचत निचोड़ता है, और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की दृष्टि से खुलेआम उपभोग की वस्तुओं पर अत्यधिक व्यय है। डब्ल्यू. एफ. ओगबर्न ने तकनीकी प्रगति और सामाजिक परिवर्तन के बीच अनुरूपता के अभाव को समझने के लिए सांस्कृतिक पिछड़ेपन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। संस्कृति के बजाय प्रौद्योगिकी ज्यादा तेजी से परिवर्तित होती है। इसलिए संस्कृति पिछड़ जाती है। इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि इस प्रकार की पिछड़ भारत में नहीं पाई जाती है। भारत में संस्कृति में अधिक तेजी से परिवर्तन होता है क्योंकि नई प्रौद्योगिकी आसानी से उपलब्ध नहीं है। उद्योग और कृषि के क्षेत्रों में परिवर्तन की दो प्रमुख प्रक्रियाएँ औद्योगिकरण और हरित क्रान्ति हैं। इन परिवर्तनों के साथ यातायात और संचार व्यवस्था में भी परिवर्तन हुए हैं। विद्युतीकरण और सिंचाई के कारण ग्रामीण दृश्य पटल बहुत सीमा तक परिवर्तित हुआ है। ग्रामीण भारत में नए वर्ग और असामाजिक संबंध उभरे हैं। नए औद्योगिक शहरों के कारण वर्ग संबंधों का एक नया प्रतिमान सामने आया है। जमशेदपुर, भिलाई, राऊकेला और बोकारो सरीखे शहर स्वतन्त्र भारत औद्योगिकरण की प्रक्रिया के उदाहरण हैं।

4.3.2 आर्थिक कारक

कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की प्रविधि द्वारा सामाजिक जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक पहलू निर्धारित होते हैं। सामंतवाद, पूँजीवाद और समाजवाद के अनुरूप परिवर्तन के संदर्भ में अभिधारणा, प्रतिअभिधारणा और इनके संश्लेषण को सामाजिक संरचना के परिवर्तन चरणों की संज्ञा दी। सामंतवाद के अन्तर्विरोधों से पूँजीवाद का जन्म हुआ है। वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप पूँजीवाद से समाजवाद उभरेगा। पूँजीवादी व्यवस्था में दो वर्ग पाये जाते हैं: बुर्जुआ सर्वहारा। सर्वहारा लोग वेतन भोगी हैं और गुर्जुआ बचत के शोषक हैं। जब सर्वहारा पूँजीवादी व्यवस्था की निरन्तरता को चुनौती देंगे तब इस व्यवस्था में तनाव उत्पन्न होगा। पूँजीवाद की बुराइयों का हल केवल क्रान्तिकारी परिवर्तन में है।

4.3.3 सांस्कृतिक कारक

भारत की सांस्कृतिक संरचना में सांस्कृतिक और स्थानीय परम्पराओं का समावेश है। रोबर्ट रेडफील्ड, मिल्टन सिंगर और मैक्सिम मैरियट सरीखे अनेक विद्वानों ने परम्परा को अध्ययन का मुख्य बिन्दु माना है। मुख्य दलील यह है कि विचारों, मानकों, मूल्यों, धार्मिक कृत्यों और अनुपालनों में परिवर्तन द्वारा ही आर्थिक और राजनैतिक संबंधों में आधारभूत परिवर्तन आ सकते हैं। मैक्स वेबर के अनुसार, प्रोटेस्टेंट धर्म में ऐसे तत्व हैं जिनके कारण आर्थिक विकास को बढ़ावा मिला है। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म में तपश्चर्या पर बल देने के कारण, पँजीवादी आर्थिक विकास को निरुत्साहित किया गया है। परन्तु जाति और परिवार के कुछ तत्कालीन अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि हिन्दू धर्म में किसी भी तरह के नकारात्मक और अधोगामी तत्व नहीं हैं जिनके कारण आर्थिक विकास में कमी आए या बाधा पड़े।

4.3.4 कानूनी कारक

भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने में कानून की बड़ी भूमिका रही है। भारतीय समाज जटिल और विषम है और कानून द्वारा विभिन्न वर्गों में समरूपता और आत्मसातीकरण लाया जा सकता है। कानून द्वारा मूलभूत परिवर्तन विशेषतः निम्न वर्गों के हित में हो सकते हैं। राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन और सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने और शैक्षिक व्यवस्था को सुधारने में कानून को एक साधन के रूप में काम में लिया जा सकता है। कानून के ज्ञान द्वारा मतान्धता और अंधविश्वासों के अविवेक का पर्दाफाश करके मनुष्य को विवेकपूर्ण और सहृदय बनाया जा सकता है। सदियों पुरानी अप्रकार्यात्मक संस्थाओं पर कानून द्वारा प्रहार किया जा सकता है। कानून द्वारा सामाजिक रूपान्तरण, अनुशासन, वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण मनोवृत्तियाँ ला सकते हैं, लेकिन मात्र कानून द्वारा ही बहुत परिवर्तन नहीं लाए जा सकते। समाज की संरचना और लोगों की नैतिक प्रकृति में कानून के अनुरूप परिवर्तन लाना आवश्यक है। जनमत परिवर्तन का अधिक दृढ़ साधन है। केवल कानून से मूल्यों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यदि कानून परिवर्तन और नियंत्रण का एक अप्रभावी साधन बन जाता है।

योगेन्द्र सिंह ने कानून के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है (1) परिवर्तन के सूचक के रूप में, (2) परिवर्तन के प्रवर्तक के रूप में, और (3) परिवर्तन के समन्वय के रूप में कानून समन्वयक तथा समीकरण

का कार्य भी करता है। भारत में कानूनी व्यवस्था ऐतिहासिक देन है। इसकी औपनिवेशिक और सामंतवादी विरासत है। कानून अभिजात प्रवर्तित था और इसके द्वारा अभिजात सतर और नगरीय मध्यम वर्गों को लाभ पहुँचा।

4.3.5 राजनैतिक कारक

स्वतंत्रता के बाद ग्राम पंचायत से लेकर संसद तक चुनावों में मताधिकार प्राप्त होने के कारण बहुत अधिक सामाजिक और राजनैतिक चेतना उत्पन्न हुई है। भारतीय समाज के एक बड़े अनुभाग में पुरुषों और महिलाओं दोनों ने आम चुनावों, ग्राम पंचायतों और नागरिक इकाईयों के चुनावों में भाग लिया है। इन चुनावों के परिणामस्वरूप ग्राम, खण्ड, जिला, राज्य और उनके नेतृत्व के संदर्भ में भी है। राजनैतिक दल न केवल चुनाव जीतने के लिए ही कार्यरत है, उन्होंने राष्ट्रीय हितों और सैद्धांतिक प्रकृति के मुद्दों को भी उठाया है।

कभी कभी हमें आभास होता है कि गाँवों और शहरों में प्रत्येक कार्य दलगत आधार पर प्रतिमानित है। जातियों, समुदायों, विशिष्ट मुद्दों और समस्याओं को एक राजनैतिक दल विशेष के दृष्टिकोण से देखा जाता है। गुट और दरारें दलगत आधार पर पाई जाती हैं राजनैतिक दलों के भीतर सैद्धांतिक मतभेद भी पाए जाते हैं और ये मतभेद जातियों, उपजातियों और वर्गों, धार्मिक तथा नृजातीय भागों के साथ जुड़े हुए हैं। जातियों और अन्य सामाजिक इकाईयों के राजनीतिकरण के परिणामस्वरूप चुनावों में सामाजिक जुटाव हुआ है।

4.4. विश्लेषण

परिवर्तन के स्रोत आंतरिक और बाह्य दोनों हैं। परिवर्तन सूक्ष्म और वृहद दोनों स्तरों पर होता है। कानून, सुधार आन्दोलन, शिक्षा और वर्तमान व्यवस्थाओं में विरोधाभासों को हम आंतरिक कारकों में शामिल करते हैं। सांस्कृतिक सम्पर्क, विदेशी शक्तियों द्वारा आक्रमण, अन्य देशों से वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक उपायों का हस्तान्तरण और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य और व्यापार आदि बाह्य कारक हैं। वृहद परिवर्तनों में कानून और नवाचारों आदि का समावेश किया जा सकता है जबकि नई भूमिकाएँ और प्रवसन आदि द्वारा संदर्भात्मक

या सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं। एक कार्यक्षेत्र का परिवर्तन सामाजिक जीवन के अन्य कार्यक्षेत्रों को प्रभावित करता है। इसलिए एक एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न स्रोतों

और कारकों को समझा जा सके।

4.5. निष्कर्ष

भारत में सामाजिक परिवर्तन को परम्परा, आधुनिकता और निरन्तरता और परिवर्तन के सह अस्तित्व के संदर्भ में समझा जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन के कारक जनांकिकीय, प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, सांस्कृतिक, कानूनी और राजनैतिक हैं। अधिक जनसंख्या की समस्या के कारण आर्थिक विकास में बाधा पहुँची है ब्रिटिश शासन द्वारा औद्योगिक विकास को हुई हानि के कारण औद्योगिकरण को उचित दिशा नहीं मिल पाई। सांस्कृतिक परिवर्तन आर्थिक परिवर्तनों से अधिक तेज है। दोनों प्रकार के परिवर्तन कभी कभी एक दूसरे से स्वतंत्र भी रहे हैं। भारत जैसे विकासशील देश समाज के कमजोर वर्गों को सुरक्षा प्रदान करने और आर्थिक तथा राजनैतिक शक्ति के उपयोगी परम्परागत समूहों की सत्ता के अवैधीकरण में कानून और न्यायपालिका की भूमिका बहुत रही है। स्वतंत्रता के बाद परम्परागत आधारों पर अल्प अधिकार प्राप्त लोगों की प्रस्थिति और पद ऊपर उठे हैं।

4.6. समाजिक परिवर्तन की अवधारणा (The Concept of Social Change) %&

4.6.1. मानव का परिवर्तनशील स्वभाव

मानव स्वभाव से ही एक गतिशील प्राणी है। अतः मानव समाज कभी भी स्थिर नहीं रहता। उसमें सदैव परिवर्तन हुआ करता है। डासन और गेटिस ने ठीक ही लिखा है, "क्रिया और परिवर्तन सदैव उपस्थित सार्वभौम तथ्य है। एक से जीवन से मानव ऊब जाता है। घनिष्ट प्रेममय सम्बन्धों में कुछ न कुछ परिवर्तन की इच्छा मानव स्वभाव है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी फ्रॉयड के अनुसार मनुष्य में परस्पर विरोधी भाव सदैव उपस्थित रहते हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ घृणा भी है। इसी कारण बारबार प्रेम बनाये रखने के लिए घनिष्ट प्रेमियों और पति पत्नी को भी जीवन में नये नये परिवर्तन करते रहने की आवश्यकता पड़ती है।

सफल पत्नी नित नये हाव भाव तथा परिवर्तन करते रहने की रुचि बनाये रखती है। यही सभी मानव सम्बन्धों का हाल है। ग्रीन के शब्दों में परिवर्तन का उत्साहपूर्ण स्वागत प्रायः जीवन का एक ढग हो गया है”।

4.7.सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा

फेयरचाईल्ड :- “ सामाजिक परिवर्तन सामाजिक प्रक्रिया, प्रतिमान अथवा स्वरूप के किसी भी पहलू में होने वाला अन्तर या संशोधन है। यह एक व्यापक शब्द है जिससे सामाजिक आन्दोलन के प्रत्येक प्रकार के परिणामों का बोध होता है। सामाजिक परिवर्तन प्रगतिगामी या प्रतिगामी, स्थाई अथवा अस्थायी, नियोजित अथवा अनियोजित, एक दिशागामी या बहु दिशागामी, उपयोगी अथवा हानिकार हो सकते हैं”।

लुण्डवग श्चरेग तथा लारसेन :- सामाजिक परिवर्तन से किसी विशेष अवधि में किसी सामाजिक प्रघटना में होने वाले स्पष्ट अन्तरों का बोध होता है।

किंग्सले डेविस :- सामाजिक परिवर्तन से केवल उन अन्तरों का बोध होता है जो सामाजिक संगठन में घटित होते हैं अर्थात् समाज की संरचना तथा प्रकार्यों में घटित होते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन को हम सांस्कृतिक परिवर्तन का केवल एक अंश मात्र ही कह सकते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन में तो वह सभी परिवर्तन आ जाते हैं जो संस्कृति की किसी भी शाखा में घटित होते हैं जैसे कला, विज्ञान, तकनीकी, दर्शन, इत्यादि। इसमें हम उन परिवर्तनों को भी सम्मिलित करते हैं जो सामाजिक संगठन के स्वरूपों तथा नियमों में आते हैं।

मैकाइवर तथा पेज :-

सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों से है उन रितियों में परिवर्तन होने से है जिनके द्वारा एक दूसरे व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।

मौरिक गिन्सबर्ग :-

सामाजिक परिवर्तन में मनोवृत्तियों तथा विश्वासों को भी उस सीमा सम्मिलित किया जाना चाहिए जहाँ तक वे संस्थाओं को तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों को शक्ति प्रदान करते हैं।

4.8. सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Theories of Social Change)

समाज में सामाजिक परिवर्तन किन कारणों से तथा किन नियमों के अन्तर्गत होता है, उनकी गति एवं दिशा क्या होती है, इन प्रश्नों को लेकर प्राचीन समय से आज तक विद्वान अपने अपने मत व्यक्त करते हैं। 16वीं सदी में जीन बोडिन ने विश्व की विभिन्न सभ्यताओं के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर यह मत व्यक्त किया कि समाज में परिवर्तन चक्रीय रूप में घटित होते हैं। यद्यपि उनकी यह बात उस समय पूर्णतया स्वीकार नहीं की गयी किन्तु बाद में कुछ विद्वानों ने परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्तों को स्वीकार किया। 18 वीं सदी में फ्रांस में यह मत प्रचलित हुआ कि विचार और चिन्तन समाज में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। 19वीं सदी में कॉम्टे, हीगल एवं कार्ल मैनहीम ने सामाजिक परिवर्तन में विचारों की भूमिका को बहुत महत्व दिया। कॉम्टे, स्पेंसर एवं हॉबहाउस आदि विद्वानों ने कहा कि सामाजिक परिवर्तन एक सीधी रेखा में कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरता है और प्रत्येक समाज को इन स्तरों से गुजरना होता है। ये स्तर कौनसे होंगे, इस बारे में उनमें मतभेद है। बाद में आने वाले समाज वैज्ञानिकों जैसे मॉर्गन, टायलर, हेनरीमेन, वेस्टरमार्क, हेड्डन एवं लेविब्रुहल आदि ने भी यह मत स्वीकार किया और इस आधार पर परिवार, विवाह, धर्म कला एवं संस्कृति में परिवर्तन की उद्विकासीय प्रवृत्ति का उल्लेख किया। उस समय यह अधारणा बनी कि परिवर्तन सदैव सरलता से जटिलता, समानता से असमानता तथा बुराई से अच्छाई की ओर होता है।

परिवर्तन की उद्विकासीय एवं चक्रीय व्याख्या के बाद विद्वानों ने किसी एक ही कारक को परिवर्तन के लिए उत्तरदायी ठहराकर परिवर्तन कि निर्धारणवादी व्याख्या प्रस्तुत की। मार्क्स एवं वेबलिन ने प्रौद्योगिक एवं आर्थिक कारकों को, ऑगबर्न ने संस्कृति को, मैक्स वेबर ने धर्म को तथा माल्थस एवं सैडलर ने जनसंख्यात्मक कारकों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी ठहराया।

4.8.1. सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त

चक्रीय सिद्धान्तकारों के अनुसार समाज में परिवर्तन का एक चक्र चलता है। हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम फिर कर पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। इस प्रकार के विचारों की प्रेरणा इन विद्वानों को प्रकृति से मिली। प्रकृति में ऋतु का एक चक्र चलता है और सर्दी, गर्मी एवं वर्षा की ऋतुएँ एक के बाद एक पुनः पुनः

आती है। इसी प्रकार से रात के बाद दिन एवं दिन के बाद रात का चक्र चलता रहता है। प्राणी भी जन्म लेते हैं, युवा होते हैं, वृद्ध होते हैं और मर जाते हैं। मरकर फिर जन्म लेते हैं, और पुनः वही क्रम दोहराते हैं। परिवर्तन के इस चक्र को कई विद्वानों ने समाज पर भी लागू किया और कहा कि परिवार, समाज और सभ्यताएँ उत्थान और पतन के चक्र से गुजरते हैं। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने विश्व की अनेक सभ्यताओं का उल्लेख किया और कहा कि इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि जो सभ्यताएँ आज फल फूल रही हैं और प्रगति के उच्च शिखर पर हैं, वे कभी आदिम और पिछड़ी अवस्था में थीं और आज जो सभ्यताएँ नष्ट प्रायः दिखयी दे रही हैं, वे भूतकाल में विश्व की श्रेष्ठ सभ्यताएँ रह चुकी हैं। इस प्रकार चक्रीय सिद्धान्तकार सामाजिक परिवर्तन को जीवन चक्र के रूप में देखते हैं। चक्रीय सिद्धान्तकारों में स्पेंगलर, टॉयनबी, पेरेटो एवं सोरोकिन प्रमुख हैं।

(1) स्पेंगलर का सिद्धान्त :-

सामाजिक परिवर्तन के बारे में अपना चक्रीय सिद्धान्त जर्मन विद्वान ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने सन् 1918 में अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के उद्विकासीय सिद्धान्तों की आलोचना की। उन्होंने कहा कि परिवर्तन कभी भी एक सीधी रेखा में नहीं होता है। सामाजिक परिवर्तन का एक चक्र चलता है, हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम- फिर कर पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। जैसे मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है, वृद्ध होता है और मर जाता है तथा फिर जन्म लेता है, यही चक्र मानव समाज एवं सभ्यताओं में भी पाया जाता है। मानव की सभ्यता एवं संस्कृति भी उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश के चक्र से गुजरती है। वे भी मानव शरीर की तरह जन्म, विकास और मृत्यु को प्राप्त होती हैं। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए स्पेंगलर ने विश्व की आठ सभ्यताओं यथा अरब, मिश्र, मेजियन, माया, रूसी एवं पश्चिमी संस्कृतियों आदि का उल्लेख किया और उनके उत्थान एवं पतन को दर्शाया। पश्चिमी सभ्यता के बारे में स्पेंगलर ने कहा कि यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच रही है, अतः इसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने जर्मन संस्कृति के बारे में भी ऐसे ही विचार प्रकट किये और कहा कि यह भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है और अब इसका पतन निकट है। स्पेंगलर की भविष्यवाणी उस समय सही प्रतीत हुई जब द्वितीय विश्व युद्ध के समय जर्मनी का पतन हुआ। स्पेंगलर ने कहा कि युद्ध एवं शहरों का निर्माण सभ्यता के पतन के सूचक हैं। उनके अनुसार पश्चिमी समाजों का

आज जो दबदबा है, वह भविष्य में समाप्त हो जायेगा और उनकी सभ्यता एवं शक्ति नष्ट हो जायेगी। दूसरी ओर एशिया के देश जो अब तक पिछड़े हुए कमजोर एवं सुस्त हैं वे अपनी आर्थिक एवं सैन्य शक्ति के कारण प्रगति एवं निर्माण के पथ पर बढ़ेंगे तथा पश्चिमी समाजों के लिए एक चुनौती बन जायेंगे।

(2) टॉयनबी का सिद्धान्त :-

अंग्रेज इतिहासकार अर्नाल्ड जे० टॉयनबी ने विश्व की 21 सभ्यताओं का अध्ययन किया तथा अपनी पुस्तक *A Study of History* में सामाजिक परिवर्तन का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। टॉयनबी के सिद्धान्त को चुनौती एवं प्रत्युत्तर का सिद्धान्त भी कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक सभ्यता को प्रारम्भ में प्रकृति एवं मानव द्वारा चुनौती दी जाती है। इस चुनौती का सामना करने के लिए व्यक्ति को अनुकूलन की आवश्यकता होती है इस चुनौती के प्रत्युत्तर में व्यक्ति सभ्यता व संस्कृति का निर्माण करता है। जब भौगोलिक चुनौतियों के स्थान पर सामाजिक चुनौतियाँ दी जाती हैं तो ये चुनौतियाँ समाज की भीतरी समस्याओं के रूप में अथवा बाहरी समाजों द्वारा दी जाती हैं। जो समाज इन चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर लेता है, वह जीवित रहता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, वह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक समाज निर्माण एवं विनाश तथा संगठन एवं विघटन के दौर से गुजरता है। सिन्ध व नील नदी की घाटियों में ऐसा ही हुआ। प्राकृतिक पर्यावरण ने वहाँ लोगों को चुनौती दी जिसका प्रत्युत्तर उन्होंने निर्माण के द्वारा दिया गंगा व वोल्गा नदी ने भी ऐसी चुनौती दी किन्तु वहाँ के लोगों ने प्रत्युत्तर नहीं दिया, अतः वहाँ की सभ्यताएँ नहीं पनपी।

पेरेटो का सिद्धान्त :-

बिलफ्रेडो पेरेटो ने सामाजिक परिवर्तन का वह चक्र सिद्धान्त दिया जिसे अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त कहते हैं। उन्होंने इसका प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'Mind and Society' में किया। सामाजिक परिवर्तन को उन्होंने वर्ग व्यवस्था में होने वाले चक्रीय परिवर्तनों के आधार पर समझाया है प्रत्येक समाज में दो वर्ग दिखायी देते हैं उच्च या अभिजात वर्ग तथा निम्न वर्ग। ये दोनों वर्ग स्थिर नहीं हैं वरन् इनमें परिवर्तन का चक्रीय क्रम पाया जाता है। निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने गुणों एवं कुशलता में वृद्धि करके अभिजात वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं। अभिजात वर्ग के लोगों की कुशलता एवं योग्यता में धीरे धीरे ह्रास होने लगता है और वे अपने गुणों को खो देते हैं तथा भ्रष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वे निम्न वर्ग की ओर

बढ़ते हैं। उच्च या अभिजात वर्ग में रिक्त स्थानों को भरने के लिए निम्न वर्ग के बुद्धिमान, चरित्रवान, कुशल, योग्य एवं साहसी व्यक्ति ऊपर की ओर जाते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग से निम्न वर्ग में तथा निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में जाने की प्रक्रिया चलती रहती है। इस चक्रीय गति के कारण सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन आता है। चूँकि यह परिवर्तन चक्रीय गति से होता है, इसलिए इसे सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धान्त अथवा अभिजात परिभ्रमण का सिद्धान्त कहते हैं। पेरेटो ने सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त का उल्लेख राजनीतिक, आर्थिक एवं आदर्शात्मक तीनों क्षेत्रों में किया है।

4.8.2. सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त

सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्तकार उद्विकासवादियों से प्रभावित थे। वे यह नहीं मानते थे कि परिवर्तन चक्रीय गति में होता है। उसके अनुसार परिवर्तन सदैव एक सीधी रेखा में नीचे से ऊपर की ओर विभिन्न चरणों में होता है। रेखीय सिद्धान्तकारों में कॉम्टे, स्पेंसर, हॉबहाउस, मार्क्स तथा वेबलिन आदि प्रमुख हैं। कॉम्टे समाज के उद्विकासीय रूप को तीन स्तरों (धार्मिक से वैज्ञानिक तक), स्पेंसर चार स्तरों (शिकारी से औद्योगिक तक) तथा मार्क्स पाँच स्तरों (आदिम साम्यवादी से आधुनिक साम्यवादी तक) के रूप में मानते हैं। मार्क्स एवं वेबलिन दोनों ही आर्थिक एवं प्रौद्योगिक कारकों को अधिक महत्व देते हैं, अतः इनके सिद्धान्तों को निर्धारणवादी सिद्धान्त भी कहते हैं।

कॉम्टे का सिद्धान्त :-

कॉम्टे ने सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के बौद्धिक विकास से जोड़ा है। उन्होंने बौद्धिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के तीन स्तर माने हैं—

धार्मिक स्तर (Theological State), तात्त्विक स्तर (Metaphysical Stage), वैज्ञानिक स्तर (Positive State)

स्पेंसर का सिद्धान्त :-

स्पेंसर ने सामाजिक परिवर्तन को प्राकृतिक प्रवण के आधार पर समझाया है। स्पेंसर डार्विन के उद्विकास से प्रभावित थे। डार्विन ने जीवों के उद्विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे स्पेंसर ने समाज पर भी लागू किया। डार्विन के अनुसार जीवों में अस्तित्व के लिए सघर्ष (struggle for

Existence) पाया जाता है। इस सघर्ष में वे ही प्राणी बचे रहते हैं जो शक्तिशाली होते हैं और प्रकृति से अनुकूल कर लेते हैं, कमजोर इस सघर्ष में समाप्त हो जाते हैं। चूँकि प्रकृति भी ऐसे जीवों का वरण करती है जो योग्य एवं सक्षम होते हैं अतः इस सिद्धान्त को प्रकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त कहते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसके प्रवरण अथवा जन्म और मृत्यु-दर पर सामाजिक कारकों जैसे प्रथाओं, मूल्य एवं आदर्शों का भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस प्रवरण में श्रेष्ठ मनुष्य ही बचे रहते हैं जो समाज का निर्माण करते और उसमें परिवर्तन लाते हैं। ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में हर नयी पीढ़ी से अधिक उन्नत होती है और समाज को आगे की ओर बढ़ाती है। इस प्रकार समाज क्रमशः आगे बढ़ता और परिवर्तित होता जाता है। इस प्रकार स्पेन्सर सामाजिक परिवर्तन के लिए अप्राकृतिक एवं सामाजिक प्रवरण को आधार मानते हैं।

स्पेन्सर के अतिरिक्त जैविकीय कारकों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानने वालों में गोबिन्दु व लापोज आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों की मान्यता है कि समाज का निर्माण और प्रगति उन लोगों द्वारा सम्भव है जो प्रजातीय दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। जब किसी समाज में प्रजातीय दृष्टि से हीन व्यक्ति होते हैं तो वह समाज पतन की ओर जाता है और जब शारीरिक व मानसिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं तो वह समाज प्रगति करता है।

स्पेन्सर आदि जीववादियों के सिद्धान्तों की अनेक विद्वानों ने यह कहकर आलोचना की कि मानव समाज में प्राकृतिक प्रवरण को लागू नहीं किया जा सकता तथा इन्होंने परिवर्तन के अन्य सिद्धान्तों की अवहेलना की है।

कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त (Theory of Karl Marx) :- कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिक एवं आर्थिक कारकों से जनित माना है। अतः उनके सिद्धान्त को आर्थिक निर्धारणवाद अथवा सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धान्त का सविस्तार उल्लेख आगे दिया गया है।

थॉर्सटीन वेबलिन का सिद्धान्त :- वेबलिन भी सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिक दशाओं को उत्तरदायी मानते हैं। उनका मत है कि प्रौद्योगिक दशाएँ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इसलिए उनके सिद्धान्त को 'प्रौद्योगिक निर्णवाद' कहा जाता है। वेबलिन के सिद्धान्त का सविस्तार उल्लेख आगे दिया गया है।

अभ्यास प्रश्न-**रिक्त स्थान की पूर्ती करें -**

प्रश्न-1- मानव स्वभाव से ही प्राणी हैं।

प्रश्न-2- अंग्रजी इतिहासकार अर्नाल्ड जे० टायनबी ने विश्व की 21 सभ्यताओं का अध्ययन किया तथा अपनी पुस्तकमें सामाजिक परिवर्तन का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

प्रश्न-3- प्रौद्योगिकी दशाओं को उत्तरदायी मानते हैं.....

प्रश्न-4- सारोकिन ने दो संस्कृतियोंका उल्लेख किया।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न-1- सामाजिक परिवर्तन के कारक हैं-

अ- 6 ब- 7

स- 5 द- 4

प्रश्न- 2- कार्ल्स मार्क्स ने विधि परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण कारक माना है -

अ- प्रौद्योगिकी ब- जनांकिकीय

स- आर्थिक द- राजनैतिक

प्रश्न- 3- सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया है-

अ- कार्ल्स मार्क्स ब- ओस्वाल्ड स्पेंगलर

स- सारोकिन द- बिलफ्रेडो पेर्रेटो

4.8.3 सामाजिक परिवर्तन का कार्ल मार्क्स का आर्थिक सिद्धान्त

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को आर्थिक कारकों से जनित माना है। अतः उनके सिद्धान्त को आर्थिक निर्धारणवाद अथवा सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक सिद्धान्त कहा जाता है। इनका सिद्धान्त वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी सिद्धान्त माना जाता है। उन्होंने इतिहास की भौतिक व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं, वे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के कारण ही हुए हैं, जनसंख्या, भौगोलिक परिस्थितियों एवं अन्य कारकों का मानव के जीवन पर प्रभाव तो पड़ता है, किन्तु वे परिवर्तन के निर्णायक कारक नहीं हैं। निर्णायक कारक तो आर्थिक कारक अर्थात् उत्पादन प्रणाली ही है।

मनुष्य को जीवित रहने के लिए भौतिक मूल्यों (जैसे रोटी, कपड़ा और निवास आदि) की आवश्यकता होती है। इन मूल्यों या आवश्यकताओं को जुटाने के लिए मानव को उत्पादन करना होता है। उत्पादन करने के

लिए उत्पादन के साधनों की आवश्यकता होती है। जिन साधनों के द्वारा व्यक्ति उत्पादन करता है, उन्हें प्रौद्योगिकी कहते हैं। इस छोटे छोटे औजार तथा बड़ी बड़ी मशीनें सम्मिलित है। प्रौद्योगिकी में जब परिवर्तन आता है तो उत्पादन – प्रणाली में भी परिवर्तन आता है। मानव अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी न किसी उत्पादन प्रणाली को अपनाता है। उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है, एक उत्पादन के उपकरण या प्रौद्योगिकी, श्रमिक, उत्पादन का अनुभव एवं श्रम कौशल और दूसरा उत्पादन के सम्बन्ध किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए औजार, श्रम अनुभव एवं कुशलता की आवश्यकता होती है। जो लोग उत्पादन के कार्य में लगे होते हैं, उनके बीच कुछ आर्थिक सम्बन्ध भी पैदा हो जाते हैं, जैसे किसान कृषि क्षेत्र में उत्पादन करने के दौरान मजदूरों, लुहार एवं उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के खरीददारों से सम्बन्ध बनाता है। जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। उत्पादन प्रणाली किसी भी अवस्था में स्थिर नहीं रहती सदैव बदलती रहती है। वह समाज का मूल है और उसी पर समाज की सामाजिक सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक संरचनाएँ, विश्वास, कला, साहित्य, प्रथाएँ, विज्ञान एवं दर्शन टिके हुए हैं। जिस प्रकार की उत्पादन प्रणाली होती है समाज की ऊपरी संरचना अर्थात् धर्म, प्रथाएँ, राजनीति, साहित्य, कला विज्ञान एवं संस्कृति भी उसी प्रकार की बन जाती है। जब हाथ चक्की से उत्पादन किया जाता था तो दूसरे प्रकार का समाज था और आज जब बिजली की चक्की है तो दूसरे प्रकार का समाज, संस्कृति, धर्म एवं राजनीति थी और आज जबकि कृषि में ट्रैक्टर एवं वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जाता है तथा बड़ी बड़ी मशीनों एवं कारखानों द्वारा औद्योगिक उत्पादन हो रहा है तो एक भिन्न प्रकार का समाज पाया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं की राजनीति, धर्म, संस्कृति, कला साहित्य, दर्शन, प्रथा, नैतिकता एवं लोकाचारों में बहुत अन्तर है। उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर उत्पादन में लगे लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ जाता है। आज के युग में पूँजीपति व श्रमिकों में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, वे कृषि युग के भूस्वामियों एवं मजदूरों के सम्बन्धों से भिन्न है।

उत्पादन के सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से ही समाज की आर्थिक संरचना का निर्णय होता है।

उदाहरण के लिए, कृषि युग में जमींदारों, कृषकों एवं कृषि श्रमिकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों से एक विशेष प्रकार की आर्थिक संरचना का निर्माण हुआ जिसे कृषि अर्थव्यवस्था कहते हैं। वर्तमान समय में

पूँजीपतियों, कारखानों के स्वामियों एवं श्रमिकों के सम्बन्धों से मिलकर बनने वाली आर्थिक संरचना कृषि युग की आर्थिक संरचना से भिन्न है, इसे औद्योगिक आर्थिक संरचना या औद्योगिक अर्थव्यवस्था कहा जाता है। संक्षेप में, उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। जब उत्पादन के उपकरणों (प्रौद्योगिकी), उत्पादन के कौशल, ज्ञान उत्पादन के सम्बन्ध आदि में परिवर्तन आता है तो सम्पूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक अधि संरचना में भी परिवर्तन आता है जो सामाजिक परिवर्तन कहलाता है।

मार्क्स के अनुसार इतिहास के प्रत्येक युग में दो वर्ग रहे हैं। मानव समाज का इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष का ही इतिहास है। उन्होंने समाज के विकास को पाँच युगों में बाँटा और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया। एक वह वर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रहा है और दूसरा वह जो श्रम के द्वारा जीवनयापन करता है। इन दोनों वर्गों में अपने अपने हितों को लेकर संघर्ष होता रहा है। प्रत्येक वर्ग संघर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है। वर्तमान में भी पूँजीपति और श्रमिक दो वर्ग हैं जो अपने अपने हितों को लेकर संघर्षरत हैं। वर्गों की रचना एवं प्रकृति ही सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण करती है। एक युग के वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप नये वर्गों का जन्म होता है जो नयी समाज व्यवस्था को जन्म देता है। इस प्रकार वर्ग संघर्ष एवं उसके परिणामस्वरूप नये वर्गों के जन्म के कारण ही समाज में परिवर्तन होते हैं। इस तरह मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन में वर्ग संघर्ष की भूमिका को महत्वपूर्ण माना है।

4.8.4. वेबलिन का सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धान्त

वेबलिन सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिक दशाओं को उत्तरदायी मानते हैं। प्रौद्योगिक दशाएँ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इसलिए उनके सिद्धान्त को प्रौद्योगिक निर्णयवाद भी कहा जाता है। वेबलिन ने मानवीय विशेषताओं को दो भागों में विभाजित किया है—

स्थिर विशेषताएँ :- जिनका सम्बन्ध मानव की मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं से है जिनमें बहुत कम परिवर्तन होता है।

परिवर्तनशील विशेषताएँ :- जैसे आदतें, विचार एवं मनोवृत्तियाँ आदि। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव की इन दूसरी विशेषताओं, विशेष रूप से मानव की विचार करने की आदतों से है।

वेबर का सांस्कृतिक सिद्धान्त :- वेबर ने सामाजिक परिवर्तन के लिए सांस्कृतिक कारक विशेषतया धर्म को उत्तरदायी माना है। विश्व के प्रमुख धर्मों का विशद अध्ययन करके वेबर ने यह जानने का प्रयत्न किया कि धर्म व आर्थिक सामाजिक घटनाओं में क्या सम्बन्ध है। उन्होंने अध्ययन के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि आधुनिक पूँजीवाद केवल पश्चिमी देशों में सबसे पहले क्यों आया, अन्य देशों में क्यों नहीं इसके लिए अपने विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले धार्मिक आधारों का तुलनात्मक अध्ययन किया और उनका आर्थिक व सामाजिक संगठनों से सम्बन्धों का विश्लेषण किया। धर्म एवं आर्थिक जीवन के सम्बन्धों के अध्ययन को अपने 'दी प्रोटेस्टेण्ड सिप्रट एण्ड इथिक दि ऑफ कैपिटलिज्म' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया है। धर्म सम्बन्धी अपने अन्वेषण के आधार पर वेबर ने यह बतलाया कि किस प्रकार कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के प्रभाव से आर्थिक जीवन की तार्किकता बढ़ी और कुछ के प्रभाव से घटी।

वेबर ने धर्म की समाजशास्त्रीय विवचना में निम्नांकित तीन प्रमुख समस्याओं को लेकर अध्ययन आरम्भ किया।

- 1 एक औसत अनुयायी की धर्म निरपेक्ष नीति और आर्थिक व्यवहार पर प्रमुख धार्मिक विचारों का प्रभाव।
- 2 समूह की रचना पर धार्मिक विचारों का प्रभाव।
- 3 विभिन्न सभ्यताओं में धार्मिक सभ्यता के कारणों और प्रभाव की तुलना के बाद पश्चिमी सभ्यता के तत्त्वों का निर्णय करना।

4.8.5. सोरोकिन का सांस्कृतिक सिद्धान्त

अपनी पुस्तक 'Social and cultural Dynamics' में सोरोकिन ने सामाजिक परिवर्तन व सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने मार्क्स, पेरेटो, एवं वेबलिन के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की। उनका मत है कि सामाजिक परिवर्तन उतार चढ़ाव के रूप में घड़ी के पेण्डुलम की भाँती एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच होता रहता है। उन्होंने प्रमुख रूप से दो संस्कृतियों भावात्मक एवं चेतनात्मक का उल्लेख किया। प्रत्येक समाज संस्कृति की इन दो धुरियों अर्थात् चेतनात्मक से

भावात्मक की ओर तथा भावात्मक से चेतनात्मक की ओर आता जाता रहता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के दौरान मध्य में एक स्थिति ऐसी भी होती है जिसमें चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृति का मिश्रण होता है। इसे सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं। विभिन्न संस्कृतियों के दौर से गुजरने पर समाज में भी परिवर्तन आता है।

4.9. सारांश:-

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात हमें ज्ञात होता है कि सामाजिक परिवर्तन किसी एक कारण से नहीं होता है यह विभिन्न कारणों से होता रहता है जिसमें प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, सांस्कृतिक, कानूनी, राजनैतिक कारक मुख्य रूप से हैं। जब किसी समाज में कोई परिवर्तन होता है उसके लिये इनमें से कोई न कोई परिवर्तन होता है उसके लिये इनमें से कोई न कोई एक कारक जिम्मेदार अवश्य रहता है और जिस कारक के द्वारा यह परिवर्तन उत्पन्न होता है उसी कारक के अनुरूप विधि का नया सृजन होता है जिसे हम विधि के रूप में सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। यह परिवर्तन मूलतः कारकों से ही उत्पन्न होता है किन्तु उस परिवर्तन के लिये नये नियमों की आवश्यकता होती है अर्थात् विधि की आवश्यकता होती है जिसके कारण वह विधि के द्वारा परिवर्तन माना जाता है। क्यों कि समाज उसी परिवर्तन को स्वीकार करता है जिसमें विधि का आवश्यक रूप से पूर्ण हस्तक्षेप हो। समाज में इस प्रकार होने वाले परिवर्तनों के लिये अनेकों विद्वानों द्वारा पृथक-पृथक रूप से सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं जिसमें चक्रीय, रेखीय, सांस्कृतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त मुख्य रूप से हैं। चक्रिय सिद्धान्त के अनुसार जहां से परिवर्तन प्रारम्भ होता है वहीं पर आकर परिवर्तन पुनः आकर समाप्त हो जाता है और पुनः समाप्त हुये स्थान से परिवर्तन प्रारम्भ जाता है यह चक्र की तरह समाज में निरन्तर चलता रहता है। ठीक उसी प्रकार से रेखीय सिद्धान्त परिवर्तन को ऊपर निचे के क्रम में होना दर्शाता है। इस प्रकार से हम इस ईकाई से समाज के परिवर्तन के लिये जिम्मेदार कारकों एवं उत्पन्न सिद्धान्तों के अध्ययन का समावेश है।

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

रिक्त स्थान

उत्तर 1- गतिशील, उत्तर 2- A Study of History, उत्तर 3- वेबलिन, उत्तर 4- भावात्मक एवं चेतनात्मक।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

उत्तर 1- 6, उत्तर 2- आर्थिक, उत्तर 3- पेरटो, उत्तर 4- ओस्वाल्ड स्पेंगलर।

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. रामनाथ शर्मा/राजेन्द्र कुमार शर्मा - भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक समस्यायें (2007)अंटलांटिक पब्लिकेशर्स।
3. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
4. के०एल० शर्मा भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन(2006)-रावत पब्लिकेशन।
5. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
6. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहबाद लॉ एजेन्सी
7. राम आहुजा- सामाजिक समस्यायें (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
8. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
9. डा०गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
10. प्रो०इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा० कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा०आर०के०अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा० इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

4.12.-सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री -

18. सी०पी० अरोरा-विधि अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
19. प्रो० इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
20. डा० एस०के० कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

4.13. निबन्धात्मक प्रश्न:-

प्रश्न-1- सामाजिक परिवर्तन के लिए जिम्मेदार प्रौद्योगिकी कारक एवं कानूनी कारक का संक्षिप्त वर्णन कीजिये ?

प्रश्न-2- कार्ल्स मार्क्स एवं सारोकिन का सामाजिक परिवर्तन के लिए कौन- कौन से कारक बताये गये हैं समझाइये ?

प्रश्न-3- पेरोटो का चक्रीय सिद्धान्त क्या है ?

प्रश्न- 4- वेबर ने किस प्रकार के सिद्धान्त का सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रतिपादन किया समझाइये ?

एलएलओएमओ प्रथम वर्ष

भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-3.महिलार्ये/बालक एवं विधि

इकाई-1:महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एवं अपराध

इकाई संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 महिलाओं का उत्पीड़न

1.2.1 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएं

1.2.2 महिला एवं शिक्षा

1.2.3 महिला एवं सामाजिक, राजनीतिक सहभागिता

1.2.4 महिला एवं आर्थिक अधिकार

1.2.5 महिला एवं हिंसा

1.3 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार तथा विशेषतायें

1.3.1 घरेलू हिंसा

1.3.2 सती

1.3.3 बलात्कार

1.3.4 कन्या भ्रूण हत्या

1.3.5 भगा ले जाना और अपहरण करना

1.3.6 हत्या

1.3.7 दहेज के सामाजिक आयाम

1.3.8 पत्नी को पीटना

1.4 हिंसा के शिकार

1.5 हिंसा के अपराधकर्ता

- 1.6 हिंसा के प्रकार
- 1.7 हिंसा के कारण
 - 1.7.1 पीड़ित द्वारा भड़काना
 - 1.7.2 नशा
 - 1.7.3 महिलाओं के प्रति विद्वेष
 - 1.7.4 परिस्थितिवश प्रेरणा
 - 1.7.5 व्यक्तित्व की विशेषतायें
- 1.8 सारांश
- 1.9 सन्दर्भ सूची
- 1.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना (Introduction)

आजकल शायद ही कोई विषय सामाजिक विज्ञानों में शोधकर्ताओं, केन्द्रीय और राज्य सरकारों, योजना दलों और सुधारकों का ध्यान इतना आकृष्ट करता हो जितना कि महिलाओं की समस्याएँ। महिलाओं की समस्याओं के अध्ययन के उपागम ज़रा विज्ञान ;हमतवदजवसवहलद्ध (वृद्ध होने की प्रक्रियाओं का अध्ययन) के अध्ययन से लेकर मनोरोग विज्ञान और अपराध विज्ञान तक होते हैं। परन्तु महिलाओं से संबंधित एक महत्वपूर्ण समस्या जिस पर ध्यान नहीं दिया गया है और जिससे बचा गया है, वह है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या।

इनमें से कुछ व्यवहारिक रिवाज आज भी पनप रहे हैं। स्वाधीनता के पश्चात् हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा का फैलाव और महिलाओं को धीरे-धीरे बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असंख्य महिलाएँ अब भी हिंसा की शिकार हैं। भारत के संविधान के अन्तर्गत महिलाओं के शोषण, उत्पीड़न एवं प्रतारण के विरुद्ध अनेक सांविधिक प्राविधान हैं। लेकिन महिलाओं की स्थिति में उत्साहवर्धक प्रगति परिलक्षित नहीं हुई है। यहाँ तक कि समाज के संग्रान्त एवं सुशिक्षित वर्ग की महिलाओं को भी शोषण तथा उत्पीड़न का शिकार होना पड़ रहा है। यद्यपि लैंगिक

समानता, सशक्तीकरण, नारी उत्थान आदि जैसे लुभावने वायदों की चर्चा बढ़ चढ़ कर की जाती है लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है। संभवतः इसका मुख्य कारण भारतीय समाज में व्याप्त पुरुष प्रधानता एवं पुरुष इच्छा शक्ति में कमी है।

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड—की इकाई—1 का उद्देश्य है कि आप भारतीय समाज में व्याप्त महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एवं अपराध से परिचित हो सकें। संक्षेप में प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है कि आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ सकें।

- महिलाओं का उत्पीड़न
- महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएं ;
- हिंसा के प्रकार तथा कारण
- हिंसापूर्ण व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या
- शोषण रोकने के मानववादी उपागम

1.2 महिलाओं का उत्पीड़न (Women's Harassment)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या कोई नई नहीं है। भारतीय समाज में महिलाएँ एक लम्बे काल से अवमानना (humiliation), यातना और शोषण का शिकार रही हैं, जितने काल के हमारे पास सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। आज शनैःशनैः महिलाओं को पुरुषों के जीवन में महत्वपूर्ण, प्रभावशाली और अर्थपूर्ण सहयोगी माना जाने लगा है; परन्तु कुछ दशक पहले तक उनकी स्थिति दयनीय थी। विचारधाराओं, संस्थागत रिवाजों, और समाज में प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीड़न में काफी योगदान दिया है। इनमें से कुछ व्यावहारिक रिवाज आज भी पनप रहे हैं। स्वाधीनता के पश्चात हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव और महिलाओं की धीरे धीरे बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असंख्य महिलाएँ अब भी हिंसा की शिकार हैं। उनको पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है, उनको जला दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है। वे कौनसी महिलाएँ हैं जिन्हें उत्पीड़ित किया जाता

है ? उनको उत्पीड़ित करने वाले और हिंसा के अपराधकर्ता कौन लोग हैं ? महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के मूल कारण क्या हैं ? कुछ विद्वानों ने, जिन्होंने पाश्चात्य समाज में इन पहलुओं का अध्ययन किया है, इस समस्या की व्याख्या के लिए 'व्यक्तित्व' उपागम और 'परिस्थित' उपागम का उपयोग किया है। परन्तु इन दोनों उपागमों के कई बिन्दुओं को लेकर उनकी आलोचना हुई है।

1.2.1 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएं (Nature, Extent and Characteristics of Violence against Women)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा कर वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:

(1) अपराधिक हिंसा जैसे बलात्कार, अपहरण, हत्या –

(2) घरेलू हिंसा जैसे दहेज संबंधी मृत्यु, पत्नि को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार, विधवाओं और/या वृद्ध महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार–

(3) सामाजिक हिंसा जैसे पत्नि/पुत्रवधु को मादा भ्रुण (female feticide) की हत्या के लिए बाध्य करना, महिलाओं से छेड़ छाड़, सम्पत्ति में महिलाओं को हिस्सा देने से इंकार करना, अल्पवयस्क विधवा को सती होने के लिए बाध्य करना, पुत्र-वधु को और अधिक दहेज लाने के लिए सताना।

अंग्रेजी भाषा में तो लिंग को दोनों प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए दो शब्द हैं, सेक्स, जो कि प्राकृतिक है व जेन्डर, जो कि सामाजिक है। हिन्दी भाषा में दोनों के लिए एक ही शब्द, लिंग होने के कारण इस शब्द का बहुत दुरुपयोग किया गया है व सामाजिक विभेद को प्राकृतिक विभेद कह कर उसे स्वीकार्यता प्रदान की गयी है। किसी भी विभेदीकारक व्यवहार को यह कह कर मान्यत दिलाई गई कि यह लैंगिक विभेद तो प्रकृति ने ही किया है। अब समय आ गया है कि हम आवश्यकता के अनुरूप नये शब्द गढ़ें। जैसा कि नारी वादी सक्रिय आन्दोलनकर्ताओं में अग्रणी सुश्री कमला भसीन ने माना है कि सेक्स को प्रालिंग (प्राकृतिक लिंग) व जेन्डर को सालिंग (सामाजिक लिंग) कहा जाय तो अधिक उचित होगा। सामाजिक रूप से देखें तो महिलाओं को संसार के लगभग सभी देशों व जातियों में दोगुना दर्जा ही प्राप्त हैं केवल जनजातियाँ इसका अपवाद हैं जो कि प्राकृतिक जीवन के निकट होती हैं। यह भी यही सिद्ध करता है कि

पुरुष व महिला के सामाजिक दायित्व व सरोकार एक ही हैं व केवल सुविधा के लिए उनमें श्रम विभाजन किया गया है।

यह तो सर्वविदित है कि अधिकार व दायित्व एक साथ चलते हैं। पर विडम्बना है कि मानव समाज में इनमें संतुलन नहीं रह गया है। महिलाओं को दायित्वों के बोझ से लाद दिया गया व पुरुषों को विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का स्थान प्रदान कर दिया गया। मनुष्य एक मनोशारीरिक प्राणी है और सामाजिक प्रशिक्षण से उसे प्रकृति के विपरीत भी प्रशिक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में, प्राकृतिक आवश्यकताओं को लें, तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि पुरुष व महिला के लिए भिन्न-भिन्न सीमायें निर्धारित करके, सीमाओं का अतिक्रमण किया गया है। पुरुष के पक्ष में सीमाओं को सीमित कर दिया गया है और उसकी आवश्यकताओं की पूति के लिए उसका अधीर व हिंसक हो उठना उचित माना गया, जबकि महिला के सन्दर्भ में इन्हीं सीमाओं को बढ़ा दिया गया और उससे अधिक संयम व सहनशीलता की अपेक्षा की गयी। यह प्राकृतिक रूप से अनुचित है क्योंकि प्रकृति में अपनी सीमायें हैं। एक सीमा से अधिक ऊष्णता प्राप्त होने पर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है व अत्यधिक शीत से जल हिम में परिवर्तित हो जाता है।

1.2.2 महिला एवं शिक्षा

भारतीय समाज में स्त्री के संचलन के सीमित अवसरों ने उसे शिक्षा के अधिकार से भी वंचित कर दिया। महिला की शिक्षा को उसके गृहिक कार्यों से जोड़ कर उसके औपचारिक शिक्षा के अधिकार को सीमित कर दिया गया। आज, अन्तर्राष्ट्रीय विधि में शिक्षा को मानवाधिकारों की सूची में सम्मिलित किया जाना, यह इंगित करता है कि गुणवत्ता पूर्ण जीवन की प्रथम आवश्यकता शिक्षा ही है। इसी से कल्पना की जा सकती है कि शिक्षा से वंचित करके महिलाओं के साथ ही नहीं, सम्पूर्ण मानव जाति के साथ अन्याय किया गया है और विडम्बना यह है कि उसे अन्याय करने वाले ही नहीं समझते। मानव समाज की गाड़ी के दोनों पहिये पुरुष व स्त्री यदि समान गति से नहीं चलेंगे तो गाड़ी संतुलित होकर कैसे चल सकती है?

स्त्री को शिक्षा से वंचित कर के उसके विकास को तो बाधित किया ही गया, समाज भी उससे अप्रभावित नहीं रह सका। महिला व पुरुष के बीच संवाद हीनता की स्थिति आती गयी। वे दो वर्गों में विभाजित होते गये। इसका परिणाम यह निकला कि शिक्षित महिलायें पुरुषों को शत्रु प्रतीत होने लगीं क्योंकि उन्होंने इन भेदभाव पूर्ण नीतियों के विरोध में स्वर उठाये क्योंकि अशिक्षित महिलायें तो पुरुषों पर ही आश्रित थीं। अतः

उनसे तो पुरुषों को कोई चुनौती नहीं मिली थी। इसी कारण शिक्षित व जागरूक नारियों द्वारा अपने अधिकारों की मांग पुरुषों को अपना वर्चस्व बनाये रखने में बाधा लगने लगी और उन्हें अपनी सत्ता छिनने का भय सताने लगा। उस कारण वे शिक्षित महिलाओं का चरित्र हनन करने लगे व अशिक्षित महिलाओं की कूप मंडूकता का महिमा मंडन करने लगे तथा उनकी शक्तिहीनता को उनके नारीत्व के रूप में परिभाषित करने लगे। उदाहरणस्वरूप बांग्लादेश की तस्लीमा नसरीन को नारी अधिकारों की पैरवी के कारण निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है।

1.2.3 महिला एवं सामाजिक, राजनीतिक सहभागिता

स्त्री की सामाजिक सहभागिता पारिवारिक उत्सवों तक ही सीमित रहने लगी जिससे उसके सामाजिक विकास के अवसर छीजते चले गये। इससे सामाजिक सहभागिता में उसकी उपस्थिति विलुप्त होती गयी और उसके राजनैतिक जीवन में भी अवसर क्षीण होते गये। राजनैतिक व नागरिक जीवन में अवसरों का अभाव सीधे-सीधे विकास के सभी अवसरों को सीमित करता है व ऐसा महिला के साथ होने का अर्थ है अपने विकास के सभी अवसरों को खोना व पुरुषों के अधीन होते जाना। सामाजिक व नागरिक अधिकारों को खोने का अर्थ है कि महिला वकील, जज, शिक्षक, डॉक्टर, सलाहकार, व्यापारी आदि नहीं हो सकती और ऐसा होने पर परिणाम हुआ कि यह सारे अधिकार पुरुषों के हाथों स्वतः ही चले गये।

भारतीय समाज में पारम्परिक रूप से स्त्री को किसी न किसी के संरक्षकत्व में ही रहना अनिवार्य माना गया है चाहे वह पिता हो, भाई हो या पति हो। जहाँ पुरुष से उसकी पहचान के रूप में पिता का नाम पूछा जाता है वहीं पत्नी को वह अपना पत्नीत्व उद्घोषित करने पर बाध्य कर सकता है। जब कि पत्नी को पति की संरक्षिका बनने का अधिकार प्राप्त नहीं है चाहे वह हर मापदंड में पति से अधिक सशक्त क्यों न हो। पत्नी की पहचान तो पति से होती है, पर पति की पहचान भी पत्नी से हो सकती है, यह समाज की कल्पना के परे है।

महिला को सामाजिक रूप से स्वतन्त्र रहने का अधिकार न होने के कारण अविवाहित नारी को माता पिता की अनुपस्थिति में भाई अथवा उसके न होने पर अन्य परिजनों का आश्रय लेना पड़ता है अन्यथा उसकी सामाजिक सुरक्षा पर आंच आ सकती है। उसे न चाहने पर भी विवाहित जीवन अपनाने पर विवश होना पड़ता है। अपने जीवन के अन्य उद्देश्य निर्धारित करने का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है, इसी के साथ वह एकल मातृत्व भी ग्रहण नहीं कर सकती क्योंकि यह समाज को उसके चरित्र हनन का अधिकार स्वतः ही दे देता है।

1.2.4 महिला एवं आर्थिक अधिकार

महिला के गृहिक कार्यों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। भारत ही नहीं विश्व के सभी देशों व जातियों में होता है कि अर्थोपार्जन को उच्च श्रेणी प्राप्त है और अर्थोपार्जन करने वाले को पालक की संज्ञा दी गयी है। नारी द्वारा किये गये कार्य जब घर की चारदीवारी से निकल कर पुरुष द्वारा बाहर किये जाने लगे तो उन्हीं कार्यों का आर्थिक मूल्य आंका जाने लगा व पुरुष दर्जी, रसोइये, स्वच्छकार अथवा और गरिमापूर्ण कार्यों जैसे आन्तरिक सज्जाकार, वस्त्र सज्जाकार, गायक, नर्तक, कलाकार आदि होने लगे। फिर भी महिला द्वारा किये जाने वाले इन्हीं कार्यों का कोई आर्थिक मूल्यांकन न होने के कारण विश्व के लगभग सभी देशों में यह सहज उपलब्ध माने गये।

नारी का आर्थिक अधिकार न होने के कारण उसे सम्पत्ति के अधिकार से ही वंचित होना पड़ा, फिर सम्पत्ति के उत्तराधिकार का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि भारत में विधिक रूप से यह अधिकार महिलाओं को प्राप्त है, परन्तु इनका सामाजिक प्रचलन अभी भी नहीं के बराबर है।

भारतीय विधिक व्यवस्था में समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार सैद्धान्तिक रूप से तो मान्य है पर सामाजिक प्रचलन में अभी तक नहीं है। कई देशों में तो नारियों को अर्थोपार्जन का अधिकार ही नहीं है। जिन देशों में अर्थोपार्जन नारी अधिकारों में आता भी है वहां भी नारियां कम वेतनमान वाले पदों पर ही नियुक्त की जाती हैं व उच्च वेतनक्रम वाले पदों पर पुरुषों का अघोषित आरक्षण है।

1.2.5 महिला एवं हिंसा

भारत में महिलाओं के प्रति हिंसा आम बात रही है। भारतीय समाज में कई रूपों में यह सहज ही दृष्टिगत होती है। गृहिक हिंसा का सबसे सहज व सामान्य उदाहरण पारिवारिक हिंसा है जिसमें पत्नियाँ पतियों द्वारा पीटी जाती हैं। भारत में ही नहीं अमेरिका व इंग्लैण्ड जैसे सभ्य व विकसित कहे जाने वाले पश्चिमी देशों में भी पत्नियाँ गृहिक हिंसा का शिकार होती हैं। भारत में दहेज हत्या का कारण मुख्यतः वैवाहिक घरों में उनके प्रति होने वाली हिंसा होती है। गृहिक कार्य ढंग से न करने, समय से न करने व पत्नियों की निष्ठा पर अकारण संदेह जैसे विभिन्न कारण पत्नियों को पीटने के लिए पर्याप्त होते हैं।

प्रताड़ना शारीरिक हो या मानसिक कोई भी समाज, महिलाओं के प्रति हिंसा की घटनाओं से अछूता नहीं है। बलात्कार हो, छेड़छाड़ हो या यौन शोषण महिला ही इन सभी अपराधों की शिकार बनती है। भारत में स्त्री के प्रति हिंसा धार्मिक व सामाजिक रीति-रिवाजों में भी देखने को मिलती है। शरीर का अंग भंग भी शारीरिक हिंसा में आता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 850 लाख से 1150 लाख बालिकाओं व नारियों की जनसंख्या के यौनांग, अंग भंग का शिकार हैं जिसमें उनमें गम्भीर स्वास्थ्य समस्यायें जन्म ले रही हैं।

भारत में पुत्र लाभ की कामना से गर्भ धारण किया जाता है। सभी परिवारों में पुत्र जन्म को वरीयता दी जाती है। इसका परिणाम होता है कि पुत्रियों को जन्म के पश्चात् वह स्वास्थ्य संबंधी देख-रेख नहीं मिलती जो पुत्रों को मिलती है, जिसके कारण नारी शिशु रोगग्रस्त हो अकाल मृत्यु को प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त गर्भजल परीक्षण द्वारा लिंग निर्धारण की जानकारी मिलने से कन्या भ्रूण की हत्या नारी के प्रति हिंसा का एक नवीन स्वरूप है।

बालिकाओं का सम्मान वध भारत में सामान्य बात है, जिसमें बालिकाओं को परिवार के सम्मान के नाम पर मार दिया जाता है। इन बालिकाओं का अपराध होता है कि वे परिवार व समाज द्वारा स्वीकृत पुरुष को न अपना कर अपना चुनाव व्यक्त कर देती हैं अथवा जाने अनजाने पुरुष की वासना का शिकार हो अविवाहित मातृत्व ढोने लगती हैं। इन्हें सम्मान वध सम्भवतः इसलिये कहा जाता है कि हत्या के पश्चात् किसी प्रकार का अपराध बोध न रहे।

महिला का यौन शोषण भी नारी हिंसा का ही एक प्रकार है। भारत में प्रचलित देवदासी प्रथा, मुता विवाह यौन शोषण के विभिन्न रूप हैं। हमारे देश में बालिकाओं के बेमेल व बलात् विवाह आज भी प्रचलित हैं। यद्यपि विवाह की न्यूनतम वय विधिक रूप से निर्धारित है परन्तु विभिन्न व विषम सामाजिक परिस्थितियों के चलते उनका सामाजिक क्रियान्वयन बहुत सीमित है। अधिकतर धार्मिक विधिशास्त्रों में भी नारी हिंसा को मान्यता प्रदान की गयी है।

1.3 भारत में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएँ (Nature, Extent and Characteristics of Violence against Women in India)

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:

(i) अपराधिक हिंसा जैसे बलात्कार, अपहरण, हत्या

(ii) घरेलू हिंसा जो अपराधिक भी है जैसे दहेज संबंधी मृत्यु, पत्नी को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार आदि

(iii) सामाजिक हिंसा जैसे पत्नी/पुत्रवधू को मादा भ्रूण की ;मिउंसम विमजपबपकमद्ध की हत्या के लिये बाध्य करना, महिलाओं से छेड़-छाड़, सम्पत्ति के महिलाओं को हिस्सा देने से इंकार करना, अल्पवयस्क विधवा को सती होने के लिए बाध्य करना, पुत्र-वधू को और अधिक दहेज लाने के लिये सताना आदि।

महिलाओं के विरुद्ध अपराध एक विकराल समस्या है। महिलाओं के विरुद्ध अपराधिक हिंसा के मामले गृह मंत्रालय, पुलिस अन्वेषण ब्यूरो और सामाजिक प्रतिरक्षा का राष्ट्रीय संस्थान द्वारा संकलित अभिलेखों से प्राप्त किये जा सकते हैं। भारत सरकार के आंकड़ों के अनुसार पिछले पाँच वर्षों में महिलाओं के विरुद्ध

अपराधों में 40: वृद्धि मिलती है। सबसे अधिक अपराध यातना के और उसके बाद छेड़छाड़, अपहरण, बलात्कार, शरीर व्यापार, दहेज मृत्यु, यौन संबंधी उत्पीड़न, दहेज कानून, लड़कियों का आयातन, महिलाओं का अश्लील प्रदर्शन मिलते हैं। दहेज से संबंधित हत्याओं में विशेषकर 50: की वृद्धि मिलती है। महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में से आधे से अधिक अपराध केवल पांच राज्यों में, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश और राजस्थान में मिलते हैं तथा शेष अपराध अन्य राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों में मिलते हैं। परन्तु यह सुविज्ञ है कि सब मामलों की विभिन्न कारणों से शिकायत नहीं होती है और उन्हें दर्ज नहीं किया जाता है। घरेलू हिंसा के मामलों, जैसे पत्नी को पीटना और परिवार की स्त्रियों के साथ किया गया कौटुम्बिक व्यभिचार की कभी शिकायत नहीं की जाती। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के विभिन्न कोटियों की चर्चा निम्नलिखित है।

1.3.1 घरेलू हिंसा (Domestic Violence)

भारत में घरेलू हिंसा की घटनायें आम हैं। घरेलू हिंसा का व्यापक अर्थ है। इसमें घर की दीवारों के भीतर की जाने वाले सभी प्रकार की हिंसा शामिल है। प्राचीन विधि में मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि ने महिलाओं की रक्षा का भार घर के अन्य सदस्यों अर्थात् पिता, पति, पुत्र को सौंपा था। परन्तु आज घरेलू हिंसा इतनी अधिक बढ़ गई है कि स्त्रियों के लिए घर सुरक्षित स्थान नहीं रह गए हैं। घरेलू हिंसा अधिनियम 2005 द्वारा घरेलू हिंसा को सिविल अपकृत माना गया है। इस अधिनियम के द्वारा महिला का अपने विवाह के घर में रहना सुनिश्चित किया गया है तथा मजिस्ट्रेट महिला के संरक्षण के लिए आदेश पारित कर सकता है। घरेलू हिंसा पुरुष की दयनीय, असहनशील मानसिकता की परिचायक है।

1.3.2 सती

मुगलकाल में हिन्दू समाज की उच्च वर्ग की स्त्रियों में सती प्रथा का प्रचलन बहुतायात से प्रचलित था इस प्रथा का विशेष रूप से प्रचलन राजस्थान में था इब्नबतूता ने अपने विवरण में सति प्रथा का विस्तृत उल्लेख किया है ऐसा इसलिए होता था क्योंकि समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय थी।

डेला वेल के अनुसार विधवाएँ पुनः विवाह नहीं कर सकती थी उन्हें अपने केशों को काटना पड़ता था और अपना समस्त जीवन दास की भांती व्यतीत करना था। इस नारकीय स्थिति को बिताने से वह सती हो जाना अधिक पसन्द करती थी। अकबर ने सबसे पहले सति प्रथा को रोकने के भरसक प्रयास किये किन्तु वह सफल नहीं हुआ।

इसके पश्चात सति प्रथा को रोकने के लिए बार-बार आन्दोलन प्रयास होते गये किन्तु सति प्रथा के अन्त पर पूर्ण विराम नहीं लग पाया बदलते काल खण्ड के बीच राजा राम मोहन राय ने स्त्रीयों की दशा सुधारने की ओर ध्यान दिया और उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा। सति प्रथा अत्यन्त ही भयावह एवं अमानुषिक सामाजिक प्रथा थी उन्होनें सति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया जिसके परिणाम स्वरूप 1829 ई० में लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा लाये गये कानून से सामाजिक बुराई का अन्त हो गया जिससे विधिक आधार पर समाज में एक नया परिवर्तन उत्पन्न हुआ।

1.3.3 कन्या भ्रूण हत्या (Female Foeticide)

भारतीय समाज में कन्या भ्रूण हत्या के पीछे पुत्रवाद, लैंगिक असमानता, दहेज प्रथा आदि कारण निहित हैं। कन्याओं पर पारिवारिक सम्मान की भी भारी जिम्मेदारी होती है। जब वे इसका वहन पारिवारिक अपेक्षाओं के अनुसार नहीं कर पाती तो परिणाम, सम्मान वध के रूप में देखने को मिलता है। इन सब समस्याओं से निजात पाने का उपाय बहुतायत में कन्या भ्रूण हत्या के रूप में सामने आया है। भ्रूण का लिंग परीक्षण कराने के उपरान्त गर्भपात द्वारा कन्या भ्रूण से छुटकारा पाया जाता है। भ्रूण का लिंग परीक्षण भारत में एक अपराध घोषित किया गया है। राज्य एवं विधि इस प्रकार की हिंसा पर लगाम लगाने में पूर्णतया असफल रहे हैं।

1.3.4 बलात्कार

यद्यपि बलात्कार की समस्या सभी देशों में गंभीर मानी जाती है फिर भी सांख्यिकी रूप में भारत में यह पाश्चात्य समाज की तुलना में इतनी गंभीर नहीं है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में बलात्कार के अपराधों की प्रति लाख प्रतिवर्ष दर लगभग 26 है, कनाडा में यह लगभग 8 है और इंग्लैण्ड में यह प्रति एक लाख जनसंख्या पर लगभग 5.5 है। इसकी तुलना में भारत में इनकी दर 0.5 प्रति एक लाख जनसंख्या है। हमारे देश में 1996 और 1998 के बीच हुए बलात्कार के मामलों की संख्या को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक चार घंटों में सात बलात्कार होते हैं; या प्रतिवर्ष 15,000 मामले होते हैं (क्राइम इन इंडिया, 1998:156)। केन्द्रीय सरकार द्वारा "महिलाओं के विरुद्ध अपराध" पर प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रत्येक 40 मिनट में एक महिला का बलात्कार होता है। इसका अर्थ हुआ कि एक महीने में 1,275 तथा एक वर्ष में 15,300 बलात्कार होते हैं।

आयु के हिसाब से बलात्कार के शिकार की प्रतिशतता 16 से 30 वर्ष के आयु समूह में सर्वाधिक है (56.0%), जबकि 10 वर्ष से कम आयु के शिकार लगभग 4.2% है, 10 और 16 वर्ष के बीच आयु के शिकार लगभग 22.8% है, तीस वर्ष से ऊपर के शिकार 17.0% है (क्राइम इन इंडिया, 1998:159)। गरीब लड़कियां ही अकेली बलात्कार का शिकार नहीं होती, अपितु मध्यम वर्ग की कर्मचारियों के साथ भी मालिकों द्वारा लैंगिक अपमान किया जाता है। जेल में कैद महिलाओं के साथ अधीक्षकों द्वारा बलात्कार किया जाता है, अपराध संदिग्ध महिलाओं के साथ पुलिस अधिकारियों द्वारा, महिला मरीजों के साथ अस्पताल के कर्मचारियों द्वारा, और रोजाना वेतनभोगी महिलाओं के साथ ठेकेदारों और बिचौलियों द्वारा। यहां तक कि बहरी और गुंगी, पागल और अंधी और भिखारियों को भी नहीं छोड़ा जाता। यदि वो विरोध करती हैं तो उन्हें सामाजिक कलंक और अपमान का सामना करना पड़ता है इसके अतिरिक्त उन्हें पाप की पीड़ा और व्यक्तित्व के रोग भयंकर रूप से सताते हैं।

बलात्कार की शिकार 42 महिलाओं के मेरे आनुभविक अध्ययन ने महिलाओं के विरुद्ध किये गये अपराधों की निम्नांकित महत्वपूर्ण विशेषताओं को उद्घाटित किया है: (1) बलात्कार सदैव पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति में नहीं होते; (2) प्रत्येक दस में से नौ बलात्कार परिस्थिति से सम्बन्धित होते हैं; (3) लगभग तीन-पंचम बलात्कार (58.0%) एकल बलात्कार होते हैं (जिन्हें एक ही अपराधी होता है), एक-पंचम (21.0%) द्वय बलात्कार होते हैं (महिला के साथ दो आदमी बलात्कार करते हैं), और एक-पंचम (21.0%) सामूहिक बलात्कार होते हैं; (4) प्रत्येक 10 बलात्कारों में से नौ में किसर प्रकार की शारीरिक हिंसा या क्रूरता नहीं होती, यानी अनेक मामलों में महिला को वश में करने के लिए प्रलोभन एवं/या मौखिक दबाव काम में लिये जाते हैं; (5) तीन-चौथाई से कुछ कम बलात्कार (70-0%) उत्पीड़ितों या उत्पीड़ित करने वालों के घरों में होते हैं और लगभग एक-चौथाई(25-0%) गैर-रिहाइशी भवनों में होते हैं; (6) उत्पीड़ितों की सबसे ऊंची दर 15-20 वर्षों के आयु-समूह में होती है, जबकि अधिकांशतया अपराधी 23-30 के आयु समूह के होते हैं (1987:191-92;1998:54)। इस प्रकार शिकार चुनने में युवावस्था को विशेष महत्व दिया जाता है।

1.3.5 भगा ले जाना और अपहरण करना (Kidnapping and Abduction)

एक नाबालिग (18 वर्ष से कम लड़की और 16 वर्ष के कम आयु का लड़का) को उसके कानूनी अभिभावक की सहमति के बिना ले जाने या फुसलाने को 'अपहरण' कहते हैं। 'भगा ले जाने' का अर्थ है एक महिला को इस उद्देश्य से जबरदस्ती, कपटपूर्वक या धोखेबाजी से ले जाना कि उसे बहका कर उसके साथ अवैध मैथुन किया जाये या उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे किसी व्यक्ति के साथ विवाह करने को बाध्य किया जाये। अपहरण में उत्पीड़क की सहमति महत्वहीन होती है, परन्तु भगा ले जाने में उत्पीड़क की स्वैच्छिक सहमति अपराध को माफ करवा देती है।

1.3.6 हत्या

मानव हत्या विशेष रूप से नर-अपराध है। यद्यपि लिंग के आधार पर हत्याओं और उनके शिकारों/पीड़ितों से संबंधित अखिल भारतीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी यह सर्वविदित है कि मानव हत्या के मादा शिकार नर शिकारों की तुलना में कम हैं।

अधिकांश प्रकरणों में हत्यारे और उनके शिकार एक ही परिवार के होते हैं। लगभग चार-पंचम प्रकरणों में हत्यारे 25-40 वर्षों के आयु समूह के होते हैं। लगभग आधी शिकार औरतें ऐसी होती हैं जिनके पुरुष हत्यारे से पुराने संबंध होते हैं। हत्यारे अधिकांशतया निम्न प्रस्थिति व्यवसाय और निम्न आय समूहों से होते हैं। अधिकतर हत्यायें अनियोजित होती हैं और क्रोध या उत्तेजित भावावेश में होती हैं। नियोजित हत्याओं में भी प्रायः सहापराधी परिवार के सदस्य होते हैं; और महिलाओं की हत्याओं में भी प्रायः सहापराधी परिवार के सदस्य होते हैं। महिलाओं की हत्या के प्रमुख कारण घरेलू झगड़े, अवैध संबंध आदि होते हैं।

1.3.7 दहेज के सामाजिक आयाम

अंग्रेजी शिक्षा और सफेदपोश नौकरियों द्वारा दहेज की समस्या बढ़ी है। अच्छी शिक्षा और रोजगार प्राप्त लड़का एक लड़की के लिए अत्यधिक उपयुक्त साथी माना जाता है। भारत में वृहद सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ यदि किसी चीज ने समान वृद्धि की है तो वह है नकद राशि और भौतिक वस्तुओं के रूप में दहेज की मात्रा की वृद्धि। स्कुटर, कार, रेडियो, टेपरिकार्डर, टेलीविजन (आजकल रंगीन टेलीविजन), रेफ्रिजरेटर, घरेलू समान, बिजली के यन्त्र, वस्त्र, आभूषण और फर्नीचर आदि जो भी नई वस्तुएँ बाजार में प्रचलित हुईं, वे दहेज का अंग बन गईं क्योंकि साधारण आर्थिक स्थिति के माता पिता

दहेज की माँगों को पूरा नहीं कर सकते, इसलिए उनकी लड़की अविवाहित रहती है। यदि वे किसी तरह दहेज का प्रबन्ध करते हैं, तो भारी कर्ज लेना पड़ता है। लड़के और लड़की के परिवारों में विवाह के पश्चात् अधिक दहेज के लिए माँगे रखने के कारण झगड़ा भी होता है। जब माँगे पूरी नहीं होती हैं, तब दुल्हनों को तंग किया जाता है, यातनाएँ दी जाती हैं, उन्हें जलाया जाता है या फिर वे आत्महत्या कर लेती हैं।

1.3.8 पत्नी को पीटना

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा विवाह के संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जबकि पति, जिसके लिए यह समझा जाता है कि वह अपनी पत्नी से प्रेम करेगा और उसे सुरक्षा प्रदान करेगा, उसे पीटता है। एक स्त्री के लिए उस आदमी द्वारा पीटा जाना जिस पर वह सर्वाधिक विश्वास करती थी, एक छिन्न-भिन्न करने वाला अनुभव होता है। हिंसा चाँटे और लात मारने से लेकर हड्डी तोड़ना, यातना देना, मार डालने की कोशिश और हत्या तक हो सकती है। हिंसा कभी कभी नशे के कारण भी हो सकती है परन्तु हमेशा नहीं। भारतीय संस्कृति में हम बिरले ही पत्नी द्वारा पुलिस से पीटने के मामले की शिकायत करने की बात सुनते हैं। वह मौन रहकर अपमान सहती है और उसे अपना भाग्य मानती है। यदि वह विरोध करना भी चाहती है तो नहीं कर सकती क्योंकि उसे डर होता है कि उसके अपने माता पिता भी विवाह के बाद उसे अपने घर में स्थाई रूप से रखने को मना कर देंगे।

1.4 हिंसा के शिकार

यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के सभी प्रकारों को एक साथ लें तो हम पायेंगे कि हिंसा के साधारणतया शिकार वे महिलाएँ होती हैं।

(1) जो असहाय और अवसादग्रस्त (depressed) होती है, जिनकी आत्मछवि खराब होती है, जो आत्मावमूल्यन से ग्रसित होती है या वे जो अपराधकर्ताओं द्वारा की गई हिंसा के फलस्वरूप भावात्मक रूप से समाप्त हो चुकी है, या वे जो परार्थवादी विवशता (altruistic powerlessness) से ग्रस्त हैं;

(2) जो दबावपूर्ण पारिवारिक स्थितियों में रहती है या ऐसे परिवारों में रहती है जिन्हें समाजशास्त्रीय शब्दावली में 'सामान्य' परिवार नहीं कहा जा सकता। सामान्य परिवार वे हैं जो संरचनात्मक रूप से पूर्ण होते हैं (दोनों माता पिता जीवित हैं और साथ साथ रह रहे हैं), आर्थिक रूप से निश्चिन्त हैं (सदस्यों की मूल और पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं), प्रकार्यात्मक रूप से उपयुक्त (adequate) हैं (वे बिरले ही लड़ते हैं) और नैतिक रूप से नैष्ठिक (conformist) हैं,

(3) जिनमें सामाजिक परिक्रमणता की या सामाजिक अन्तर वैयक्तिक प्रवीणताओं की कमी है जिसके कारण उन्हें व्यवहार संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है;

(4) जिनके पति/ससुराल वालों का विकृत (pathological) व्यक्तित्व है,

(5) जिनके पति बहुधा मदिरापान करते हैं।

1.5 हिंसा के अपराधकर्ता

महिलाओं के निम्न सात प्रकार के उत्पीड़न हो सकते हैं:

- जो अवसादग्रस्त ; कमचतमेमकद्ध होते हैं, जिनमें हीन-भावना होती है और आत्मसम्मान कम होता है;
- जिन्हें व्यक्तित्व के दोष होते हैं और जो मनोरोगी ; च्लबीवचंजीद्ध होते हैं;
- जिनके पास संसाधनों, प्रवीणताओं ; पससेद्ध और प्रतिभाओं ; जंसमदजेद्ध का अभाव होता है और जिनका व्यक्तित्व समाज वैज्ञानिक रूप से विकृत ; वबपवचंजीपबद्ध होता है;
- जिनकी प्रकृति में मालिकानापन ; चवेमेपअमद्धए शक्कीपन, और प्रबलता ; कवउपदंदबमद्ध है;
- जो पारिवारिक जीवन में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते हैं;
- जो बचपन में हिंसा के शिकार हुए थे; और
- जो बहुधा मदिरापान करते हैं।

1.6 हिंसा के प्रकार

यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की जड़ में जायें तो निम्नलिखित प्रकार परिलक्षित होते हैं:-

- हिंसा जो धन-अभिमुख होती है:

- हिंसा जो कमजोर पर सत्ता प्राप्त करना चाहती है;
- हिंसा जिसका उद्देश्य भोग-विलास है;
- हिंसा जो अपराधकर्ता की विकृति के कारण होती है;
- हिंसा जो तनावपूर्ण पारिवारिक परिस्थितियों के कारण होती है; और
- हिंसा जो पीड़ित प्रेरित (victim-precipitated) होती है।

1.7 हिंसा के कारण

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के चार कारण पहचाने जा सकते हैं; पीड़ित द्वारा भड़काना, नशा, महिलाओं के प्रति शत्रुता की भावना, परिस्थिति वश प्रेरणा एवं हिंसक व्यक्तित्व।

1.7.1 पीड़ित द्वारा भड़काना

कभी-कभी हिंसा की शिकार महिला अपने व्यवहार से, जो कई बार अनजाने में होता है, अपने स्वयं के उत्पीड़न की स्थिति उत्पन्न कर देती है। पीड़ित महिला अपराधी के हिंसापूर्ण व्यवहार को उत्पन्न करती है या प्रेरित करती है। उस (महिला) के कार्य शिकारी को हमलावर/आक्रामक में परिवर्तित कर देते हैं और वह अपने अपराधिक इरादों का उसको लक्ष्य बनाने के लिये बाध्य हो जाता है। अध्ययनों में पाया गया कि हमलावार शर्म या चिन्ता की भावनाओं से ग्रसित दिखाई देते थे। अधिकांश में किसी प्रकार की भावात्मक घबराहट नहीं थी और न ही वह भावना थी जिसे मनोवैज्ञानिक 'अशान्त पुरुषत्व' ;जतवनइसमक उँबनसपदपजलद्धकी समस्या कहते हैं। इसके बजाय पत्नी को पीटने के प्रकरण में हमलावरों ने अपनी पत्नियों पर यह कह कर दोषारोपण किया कि वे पीछे से बुराई करती हैं, उन व्यक्तियों से बात करती हैं जिन्हें वे पसन्द नहीं करते। उनकी बहनों या माता-पिता या भाईयों के साथ दुर्व्यवहार करती हैं, घर की ओर ध्यान नहीं देती हैं। संबंधियों से अभद्र तरीके से बोलती हैं, किसी व्यक्ति के साथ अवैध संबंध रखती हैं। अपने सास-ससुर का कहना नहीं मानती हैं। उन्हें अपने झगड़ालूपन या दोषारोपण से गुस्सा दिलाती हैं या उनके मामलों में अत्यधिक हस्तक्षेप करती हैं। इसी प्रकार बलात्कार के प्रकरणों में ऐसे हमलावर थे, जिन्होंने पीड़ित के व्यवहार को लैंगिक संबंधों के लिये खुला निमंत्रण बतलाया था। ऐसा संकेत बतलाया कि यदि वह (व्यक्ति) आग्रह करता रहेगा तो वह (महिला) प्राप्य हो जायेगी। यह मालूम करना महत्वपूर्ण है कि पीड़ित का अभिप्राय वास्तव में इस प्रकार के व्यवहार को आमन्त्रित करना था या नहीं या यह केवल उत्पीड़ित करने वाले का अपना ही अर्थ/अनुभूति थी, जिसके कारण उसने उसका (स्त्री का) शोषण किया। इसको यदि 'आचरण का कार्य' ;बज व विवउउपेपवदद्ध नहीं कहा जाये तो 'अनाचरण का कार्य' ;बज व विवउपेपवदद्ध तो कहा ही जा सकता है (क्योंकि पीड़ित ने तीव्र प्रक्रिया नहीं दिखाई)।

इस प्रकार 'निष्क्रिय' पीड़ित महिला उसी सीमा तक हिंसापूर्ण कार्य के होने में योगदान देती है जितनी कि 'सक्रिय पीड़ित महिला। हत्या के प्रकरणों में ऐसे कुछ प्रकरण सामने आये जहां हमलावरों के अनुसार हत्या की स्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब बहस और कहा-सुनी में पीड़ितों ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं जिन्होंने उन्हें उन पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। अपहरण में भी कुछ भगा ले जाने वालों ने बताया कि उनके 'पीड़ितों' ने उनके साथ भाग जाने और विवाह करने की इच्छापूर्वक सहमति दी थी। परन्तु जब माता-पिता की शिकायत पर वे गिरफ्तार कर लिये गये तो 'पीड़ित' महिला ने अपने माता-पिता द्वारा बाध्य किये जाने पर उन पर भगा ले जाने का आरोप लगा दिया।

इस विश्लेषण से हम पीड़ितों का 'सक्रिय, 'निष्क्रिय' और 'आकस्मिक' के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। कम से कम दो प्रकार के पीड़ित ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जहां अपराधी स्थिति एवं/या विवशता का 'पीड़ित' बन जाता है और 'पीड़ित' (स्त्री) के साथ इस प्रकार से व्यवहार करता है कि वह 'हमलावार' अथवा 'पीड़ा देने वाला' कहलाया जाने लगे।

1.7.2 नशा (Intoxication)

हिंसा के कुछ प्रकरण उस समय होते हैं जब आक्रामक नशे में और अत्युत्तेजक (wildly excited) एवं लड़ाई करने की मनोदशा में होते हैं और उनको यह समझ में नहीं आता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे। उदाहरण के लिये, कुछ बलात्कार के प्रकरणों में अपराधियों ने पीड़ितों के साथ बलात्कार उस समय किया जब उन्होंने इतनी शराब पी ली थी कि वे नशे और भावात्मक उत्तेजना की हालत में थे। वे अपना आत्मसंयम खो चुके थे और उनके आक्रामक स्वप्नचित्र कामवासना से प्रगाढ़रूप से आपस में मिल गये थे जिन्होंने बाद में अनुत्तरवादी कार्यों का रूप धारण किया। मदिरा से संबंधित यौन अपराध समय, स्थान और परिस्थितियों की अविवेचित उपेक्षा का उदाहरण देते हैं।

पत्नी को पीटने और हत्या के कुछ प्रकरणों में शराबीपन और हिंसा में ऐसा ही संबंध प्रदर्शित हुआ। समाजशास्त्रीय अध्ययन में पाया गया कि केवल 31७7: प्रकरणों में पत्नी का पीटना और मदिरापान साथ-साथ चलते हैं। हिल्वरमेन और मनसन ने इसे 93७0: प्रकरणों में पाया, वुल्फगैंग ने 65७0: प्रकरणों में, और हिनिकलबर्ग ने 71७0: प्रकरणों में।

हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि जब हम हिंसा और शराबीपन में परस्पर संबंध बताते हैं तो हम रक्त में शराब के स्तरों के माप के स्थान पर केवल शराब के उपयोग की सूचना पर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में रक्त और शराब का गाढ़ापन, ठसवक, सबवीवस ब्दबमदजतंजपवद वत ठ। ब्द्ध पीटने को शराब के प्रभाव से सम्बद्ध करने का आधार होना चाहिये। यदि बी.ए.सी. अधिक होगा तो व्यक्ति की दूसरों को शारीरिक चोट पहुंचाने की क्षमता कम हो जायेगी। फिर भी हम मानते हैं कि बी.ए.सी. का स्तर इतना

होना चाहिये कि अपराधी इस सीमा तक ही अपने पर नियन्त्रण खोये कि वह अपने कार्यों के परिणामों के बारे में न सोच पाये। वह केवल इसी मनोदशा में हिंसात्मक होता है।

1.7.3 महिलाओं के प्रति विद्वेष

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रतिवेदित (reported) मामलों में कुछ ऐसे हैं जिनमें आक्रमणकारी किसी भी तर्क से प्रभावित नहीं होते और वे उनके विरुद्ध बड़ी क्रूरता से विद्वेषपूर्ण कार्य करने के अलावा और कुछ नहीं करते। उनमें से कुछ में महिलाओं के प्रति घृणा और द्वेष की भावनाएं इतनी गहराई से गड़ी हुई थीं कि उनके हिंसापूर्ण कार्य का मूल उद्देश्य पीड़ित महिला को अपमानित करने के अतिरिक्त कुछ और नहीं कहा जा सकता। यदि परिस्थिति ही केवल प्रेरणा का कारक होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि जब अधिकांश 'अपराधी' 'सामान्य' व्यक्ति समझे जाते हैं तो वे हिंसक कार्य करने को क्यों बाध्य हो जाते हैं? कदाचित्त ऐसे प्रकरणों में पीड़ित को अपमानित करने से जो खुशी की अनुभूति होती है उसे प्राप्त करने की इच्छा उनमें अधिक प्रबल थी।

1.7.4 परिस्थिति-वश प्रेरणा (Situational Urge)

इस श्रेणी में उन प्रकरणों को सम्मिलित किया जा सकता है जहां अपराध न तो पीड़ित के व्यवहार के कारण किया जाता है और न ही अपराधी के मनोरोगात्मक व्यक्तित्व के कारण, अपितु आकस्मिक कारकों के कारण, जो ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देते हैं जिनके परिणामस्वरूप हिंसा होती है। उदाहरणार्थ, एक पत्नी के पीटने के प्रकरण में हो सकता है कि पैसे के मामलों में झगड़ा या पति के माता-पिता के साथ दुर्व्यवहार के कारण झगड़ा पति को पत्नी पर आक्रमण करने के लिए भड़का दे। या बलात्कार के प्रकरण में एक आदमी अकस्मात् उसके पड़ोस के गांव की एक परिचित स्त्री से खेत में मिलता है और बातचीत आरम्भ कर देता है और अन्ततः उसे अपनी बात मनवाना चाहता है। या एक पुरुष मालिक एक स्त्री कर्मचारी को अपने दफ्तर/कारखाने में शाम ढले अकेला पाकर उसका फायदा उठाता है। या एक युवा लड़की अपने पिता के घर से भाग जाती है और एक ट्रक में चढ़ जाना स्वीकार कर लेती है और ट्रक का ड्राइवर स्थिति का फायदा उठाकर उसके साथ बलात्कार कर लेता है। इन सब प्रकरणों में अपराधियों ने हिंसापूर्ण कार्यों की योजना नहीं बनाई थी परन्तु जब उन्हें परिस्थिति सहायक या उकसाने वाली लगी तो उन्होंने हिंसा का प्रयोग किया। इन हिंसात्मक कार्यों के अतिरिक्त ये अपराधी विचलित व्यवहार का जीवन व्यतीत नहीं कर रहे थे।

1.7.5 व्यक्तित्व की विशेषताएं (Personality Traits)

हिंसा-प्रवृत्त व्यक्तित्व की पहचान करने वाली विशेषताएँ ये हैं: अत्यधिक शक्की, वासनामय, प्रभावी, विवेकहीन, व्यभिचारी, आसानी से भावात्मक रूप से अशांत, ईर्ष्यालु, स्वत्वात्मक ; चवेमेपअमद्ध और बेइंसाफ। जो विशेषताएं प्रारंभिक जीवन में विकसित हो जाती हैं, वे वयस्कता में एक व्यक्ति के आक्रमणशील

व्यवहार को प्रभावित करती हैं। आक्रामक का बच्चे के रूप में दुर्व्यवहार और/या बचपन में हिंसा के प्रभाव में आने को उसके हिंसात्मक व्यवहार का अध्ययन करते समय परीक्षण अवश्य करना चाहिये। उदाहरणार्थ, कुछ पत्नी को पीटने वालों के प्रकरण में उनके बचपन, किशोरावस्था और वयस्कता के प्रारंभिक वर्षों के अनुभव यह बतलाते हैं कि उन्होंने सभी भावात्मक रूप से दुखद संकेतों के जवाब रोषपूर्ण एवं हिंसात्मक व्यवहार से देना सीखा। दुखी पारिवारिक जीवन, जिसमें शारीरिक निर्दयता या भयंकर भावात्मक तिरस्कार, तमरमबजपवदद्ध रहा हो, अधिकांश आक्रमकों के प्रकरण में यह नियम बन जाता है। कुछ वयस्क आक्रमकों ने अपने बचपन/किशोरावस्था में अपने परिवार में ऐसी परिस्थितियों का सामना किया होता है, जिनमें उन्होंने सदैव माता-पिता को एक दूसरे पर चिल्लाते हुये सुना और छोटे से छोटे बहाने पर उनके पिता द्वारा उनकी (बच्चों की) पिटाई हुई। अक्सर उनके पिता शराब के नशे में धुत घर लौटते और सारे घर में चिल्लाते हुए और चीजों को तोड़ते हुये घूमते रहते। एक हिंसापूर्ण घर में पलने के परिणामस्वरूप व्यक्तियों का अनिवार्यरूप से व्यवहार हिंसापूर्ण हो जाता है और ये व्यक्ति वयस्क जीवन में आक्रामक हो जाते हैं। एलफेरो पौट्स, हर्जबर्गर और हालैन्ड और फेंगन, स्टुवर्ट ओर हेन्सन ने भी हिंसात्मक पुरुषों और उनके बच्चों पर किये अपने आनुभविक अध्ययनों में भी इस प्रकार का पारस्परिक संबंध बतलाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आक्रमकों की बड़ी संख्या बाल दुर्व्यवहार और पारिवारिक हिंसा की शिकार होती है और बच्चे के रूप में यदि कोई हिंसा से प्रभावित होता है तो साधारणतया उनकी वयस्कावस्था में हिंसात्मक हो जाने की संभावना बढ़ जाती है।

1.8 सारांश

उपरोक्त खण्ड-प्प की इकाई-1 के अध्ययन के उपरान्त आपने उन उद्देश्यों को प्राप्त कर लिया होगा जिनका संदर्भ पूर्व में दिया जा चुका है। अब तक हमने जिस विषयवस्तु की चर्चा की है, आइए उसका पुनः स्मरण करें।

- भारतीय समाज में महिलायें दीर्घ काल से अवमानना, यातना एवं शोषण का शिकार रही हैं। विचाधाराओं, संस्थागत प्रथाओं एवं प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीड़न में काफी योग दिया है। भारतीय संविधान में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए अनेकानेक प्राविधान किए गए हैं परन्तु प्रगति उत्साहवर्धक नहीं है। महिलाओं की शोचनीय दशा के परिचायक उनके संचलन पर सीमायें, शिक्षा का निम्न स्तर, उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक अल्प सहभागिता, अल्प आर्थिक अधिकार एवं उनके प्रति व्यापक हिंसा है।
- महिलाओं के विरुद्ध मुख्यतया अपराधिक, घरेलू और सामाजिक हिंसा का प्रसार है। घरेलू मार पीट, सती, कन्या भ्रूण हत्या, बलात्कार, व्यपहरण, अपहरण, तथा दहेज हत्या आदि रूपों में हिंसा दृष्टिगत होती है। इस प्रकार की हिंसा का शिकार अधिकतर वे महिलायें होती हैं जो असहाय और अवसादग्रस्त, दबावपूर्ण परिस्थितियों में रहने वाली, सामाजिक रूप से अपरिपक्व होती हैं। उनके उत्पीड़क भी अवसादग्रस्त, मनोरोगी, शक्की, दबंग, हिंसा के

भुक्तभोगी, नशे के आदी आदि होते हैं। हिंसा के कारणों में पीड़ित द्वारा भड़काना, नशा, महिलाओं के प्रति विद्वेष, परिस्थितियों से प्रेरणा, हिंसा प्रवृत्त व्यक्तित्व आदि होते हैं।

1.9 सन्दर्भ सूची

प्रो० जी०पी० त्रीपाठी— भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

14. तेजस्कर—ओजस्कर पाण्डेय—समाज कार्य दर्शन (2009)— भारत बुक सेन्टर
15. मलिक और रावल—लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)—इलाहबाद लॉ एजेन्सी
16. राम आहुजा— सामाजिक समस्याय (2008)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
17. राम आहुजा—भारतीय समाज (2007)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
18. डा० अवतार सिंह—भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
19. डा०गणेश पाण्डे—अपराध शास्त्र (2008)— राधा पब्लिकेशन दिल्ली
20. प्रो०इन्द्रजीत सिंह—विधि शास्त्र(2006)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
21. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
22. डा०अभय सिंह—सूचना का अधिकार अधिनियम2005, (2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
23. डा०आर०के०अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
24. डा० इकबाल सिंह—मुस्लिम विधि (2001)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.10—सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री —

21. सी०पी० अरोरा—विविध अपराध अधिनियम (2010)— यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
22. डा० टी०पी० त्रीपाठी—सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)— इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
23. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—श्रमिक विधियां—(2005)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

24. डा0 एस0के0 कपूर— मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) भारतीय समाज में महिलाओं की शोचनीय दशा पर प्रकाश डालिए।
- (2) महिलाओं के विरुद्ध की जाने वाली हिंसा की विवेचना कीजिए।
- (3) हिंसा के शिकार एवं अपराधकर्ता की विशेषताओं की गणना कीजिए।
- (4) महिलाओं के प्रति हिंसा के क्या कारण हैं?
- (5) हिंसा की सैद्धान्तिक व्याख्या कीजिए तथा उत्पीड़न रोकने के उपायों की चर्चा कीजिए।

एलएलएम0 प्रथम वर्ष**भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन**

खण्ड-3- महिलार्ये/बालक एवं विधि**इकाई-2-विधायन द्वारा सामाजिक परिवर्तन**

इकाई संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 महिला सशक्तीकरण के उपाय

2.2.1 विशेष विवाह अधिनियम, 1954

2.2.2 विदेशी विवाह अधिनियम, 1989

2.2.3 विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976

2.2.4 दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961

2.2.5 प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961

2.2.6 महिलाओं का अशिष्ट रूपण (निषेध) अधिनियम, 1986

2.2.7 सती (निवारण) अधिनियम, 1987

2.2.8 घरेलू हिंसा अधिनियम, 2005

2.3 राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990

2.4 बालकों के सशक्तीकरण के उपाय

2.4.1 बाल विवाह अवरोध अधिनियम, 1929

2.4.2 गर्भावती पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक (लिंग चयन रोकथाम) अधिनियम, 2002

2.4.3 बालक श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986

2.4.4 किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000

2.5 सारांश

2.7 सन्दर्भ सूची

2.7.1 सहायक सन्दर्भ सूची

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

यह सर्वविदित है कि सामान्यतया शोषण के शिकार चाहे वे महिलायें हों या बालक, अपनी सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, भौतिक-आर्थिक अक्षमता के कारण ही शोषण का विरोध करने में असमर्थ होते हैं। उनमें अपनी रक्षा करने की योग्यता का अभाव होता है। यह एक ऐसी समस्या है जिसका उत्तर शक्तिप्रदत्तीकरण हो सकता है। तात्पर्य है कि यदि शोषित महिलाओं और बच्चों को शक्ति और योग्यता उपलब्ध करा दी जाए तो उनकी सामाजिक दशा में सुधार तथा परिवर्तन की संभाव्यता बढ़ जाएगी। इस उद्देश्य से अप्रत्यक्षतः मानवाधिकारों, आर्थिक सुरक्षा, क्षमता वृद्धि और योग्यता सृजन की स्थितियों के निर्माण द्वारा सशक्तीकरण किया जा सकता है। प्रत्यक्षतः इसके लिए ऐसी नीतियों तथा विधियों के निर्माण एवं प्रवर्तन की आवश्यकता है जो महिलाओं एवं बच्चों की शक्ति में वृद्धि कर सकें।

उच्चतम न्यायालय ने भी स्पष्ट किया है कि भारतीय संविधान के अन्तर्गत यद्यपि मूल स्वतंत्राओं को सुनिश्चित किया गया है फिर भी राज्य की यह भूमिका है कि वह सुनिश्चित करे कि एक वर्ग दूसरे के मूल्य पर न बढ़े और कोई व्यक्ति सामाजिक कमजोरियों के कारण पीछे न रह जाए। तात्पर्य है कि सामाजिक दृष्टिकोण से प्रत्येक वर्ग, लिंग, जाति, आयु के व्यक्ति का समाज में समान स्थान हो और वह वंचित तथा पीड़ित न रहे। भारतीय समाज में महिलाओं तथा बालकों की स्थिति शोषित की ही है, अतएव उपरोक्त सशक्तीकरण दृष्टिकोण अपनाते हुए, महिलाओं एवं बालकों की स्थिति को सुधारने के लिए बहुत से अधिनियम पारित किए गए हैं जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण अधिनियमों की चर्चा परिचर्या, प्रस्तुत इकाई में की जा रही है।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-III की इकाई-4 का उद्देश्य है कि आप महिलाओं तथा बालकों के सशक्तीकरण के लिए जो वैधानिक उपाय किए गए हैं, उन्हें जान सकें। संक्षेप में प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है कि अप निम्नलिखित विधायनों को समझ सकें।

- विवह संबंधी विधायन
- महिलाओं को प्राप्त विभिन्न सुविधाओं संबंधी विधायन
- महिलाओं के प्रति हिंसा प्रतिषिद्ध करने वाले विधायन
- राष्ट्रीय महिला आयोग
- बाल कल्याण एवं किशोर न्याय संबंधी विधायन।

2.2 महिला सशक्तीकरण के उपाय

2.2.1 विशेष विवाह अधिनियम 1954 (The Special Marriage Act, 1954)

विशेष विवाह अधिनियम, 1954 बिना किसी धार्मिक महत्व के विवाह के संबंध में उपबन्ध करता है। अधिनियम की धारा 4 के अनुसार किसी भी धर्म के दो वयस्क व्यक्ति विवाह कर सकते हैं बशर्ते कि पक्षकार प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के भीतर नहीं है या किसी दूसरे धार्मिक संस्कारों के भीतर किसी अन्य व्यक्ति के साथ उनका विवाह न हुआ हो या जीवित पति/पत्नी विवाह के समय न हो।

अधिनियम की धारा 5 के अनुसार पक्षकारों को विवाह करने के लिए उस जिले के विवाह अधिकारी (Marriage Officer) को लिखित रूप से सूचना देनी होगी जिसमें कम से कम एक पक्षकार 30 दिन अथवा अधिक अवधि से रह रहा हो। उक्त नोटिस विवाह पंजीकरण कार्यालय (Marriage Registry Office) में प्रमुख स्थान पर चस्पा कर दी जाती है। चस्पा करने की तिथि के बाद 30 दिन से पहले विवाह तथा उसका पंजीकरण नहीं होगा परन्तु 3 माह के अन्दर हो जाना चाहिए।

विवाह अधिकारी द्वारा विवाह का पंजीकरण 3 (तीन) गवाहों की उपस्थिति में किया जाता है तथा विवाह प्रमाण पत्र संबंधित पति-पत्नी को निर्गत कर दिया जाता है।

अधिनियम की धारा 7 के अनुसार सूचना के 30 दिवस के दौरान कोई व्यक्ति विवाह होने के संबंध में आपत्ति कर सकता है यदि अधिनियम में उल्लिखित आधारों पर विवाह अवैध हो। ऐसी आपत्ति के सत्य पाये जाने पर विवाह अधिकारी विवाह सम्पादन के लिए इन्कार कर सकता है।

2.2.2 विदेशी विवाह अधिनियम, 1969 (Foreign Marriage Act, 1969)

अधिनियम की उद्देशिका से ज्ञात होता है कि भारतीय नागरिकों के भारत के बाहर होने वाले विवाहों के संबंध में यह अधिनियम उपबन्ध करता है। इस अधिनियम के प्रख्यापन (Promulgation) के पूर्व ऐसे विवाह विशेष विवाह अधिनियम 1954 (Special Marriage Act, 1954) के उपबन्धों के अधीन होते थे। उस समय भी ऐसे विवाह के सभी पहलुओं के संबंध में अधिनियम में प्रावधान नहीं था अतः उस समय भी कुछ अनिश्चिततायें थीं। अनिश्चितताओं को दूर करने के लिए एक व्यापक कानून की आवश्यकता थी, अतः अधिनियम पारित किया गया। यह अधिनियम भारत से बाहर होने वाले ऐसे विवाह जिनमें दोनों पक्षकार भारतीय हों या कम से कम एक पक्षकार भारतीय हो, से संबंधित विधि को अधिक्रान्त न करके बल्कि अनुपूर्ति (Supplement) करता है।

2.2.3 विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम 1976 (The Marriage Laws (Amendment) Act, 1976)

यह संशोधन अधिनियम हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 तथा विशेष विवाह अधिनियम 1954 के उपबन्धों में और अधिक सुधार लाने के आशय से पारित किया गया था।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के बहुत से उपबन्ध पूरी तरह से संशोधित कर दिये गये हैं जिससे कि हिन्दुओं के विवाह एवं विवाह विच्छेद संबंधी समस्याओं के निराकरण में सुविधा मिलेगी। संशोधन हो जाने से विवाह विच्छेद संबंधी कार्यवाही में कम समय लगता है। निम्नलिखित संशोधन स्त्रियों के सशक्तीकरण को केन्द्र में रखकर किए गए हैं।

- (1) न्यायिक पृथक्करण के लिए उपलब्ध सभी आधार अब विवाह विच्छेद के लिए भी उपलब्ध हैं। अब एक हिन्दू अभित्यजन या क्रूरता के आधार पर विवाह विच्छेद की डिक्री के लिए दावा कर सकता है। धारा 13(1)VII
- (2) पति या पत्नी में से किसी ने भी यदि किसी अन्य व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) के साथ केवल एक बार भी स्वेच्छया मैथुन किया है तो यह विवाह विच्छेद का आधार होगा। [धारा 13(1)(i)]
- (3) अब वह पत्नी जिसको कि किसी अन्य विधि के अन्तर्गत भरण-पोषण प्राप्त करने का आदेश प्राप्त हो गया है, भी विवाह-विच्छेद की डिक्री प्राप्त कर सकती है। [धारा 13(2)(A)]
- (4) पारस्परिक सहमति के आधार पर विवाह विच्छेद का उपबन्ध किया गया है, इस आधार पर विवाह विच्छेद की डिक्री प्राप्त करने के लिए पक्षकारों को याचिका दायर करने के उपरान्त

केवल छः माह प्रतीक्षा करनी है। यद्यपि 18 माह व्यतीत होने के पहले विवाह विच्छेद की डिक्री प्राप्त हो जानी चाहिये।

- (5) तात्विक तथ्यों (Material Facts) के बारे में किसी प्रकार का दुर्व्यपदेशन (Misrepresentation) हिन्दू विवाह को शून्य घोषित कराने के लिए एक अन्य आधार है। (धारा 12(1)(c))
- (6) एक अवयस्क लड़की अपना विवाह 15 वर्ष की आयु प्राप्त करने के उपरान्त लेकिन 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने से पहले निराकृत (Repudiate) कर सकती है [धारा 13(2)(IV)]।
- (7) यदि दूसरा पक्षकार या तो भारत के बाहर रहता है या सात वर्ष या उससे अधिक समय तक उसके बारे में पता नहीं चलता है तो ऐसे मामलों में अधिनियम के अन्तर्गत याचिका उस क्षेत्र में न्यायालय में दाखिल की जा सकती है जहाँ पर याची निवास करता है। [धारा (19)(IV)]
- (8) विवाह संबंधी याचिका के शीघ्र निस्तारण हेतु उपबन्ध किया गया है कि छः माह की अवधि के अन्दर निस्तारण हो जाना चाहिए तथा अपील का निस्तारण उसके बाद 3 माह के अन्दर हो जाना चाहिए। [धारा 21(B)(2) एवं (3)]
- (9) अब विवाह विच्छेद के बाद पति या पत्नी तुरन्त पुनर्विवाह कर सकते हैं। (धारा 15)
- (10) न्यायिक पृथक्करण के उपरान्त विवाह विच्छेद हेतु याचिका दायर करने के लिए दो वर्ष से कम करके एक वर्ष की अवधि कर दी गई है। [धारा 13(iA)]
- (11) पति या पत्नी अपने विवाह से एक वर्ष बाद ही विवाह विच्छेद हेतु याचिका दायर कर सकते हैं। [धारा 14]
- (12) प्रत्येक विवाह संबंधी मामलों की सुनवाई बन्द कमरे में होगी। [धारा 22]

2.2.4 दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 (The Dowry Prohibition Act, 1961)

इस अधिनियम के अन्तर्गत दहेज लेना और देना दोनों ही प्रतिषेधित हैं। अधिनियम की धारा 2 के अनुसार 'दहेज' का अभिप्राय विवाह के एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष के लिए या विवाह के किसी पक्ष के माता-पिता

या अन्य व्यक्ति द्वारा विवाह के दूसरे पक्ष या किसी अन्य व्यक्ति के लिए विवाह करने के संबंध में दी जाने वाली किसी सम्पत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति से है। चाहे यह सम्पत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति विवाह के समय या उसके पूर्व या पश्चात् किसी भी समय दी गई हो, परन्तु दहेज की परिधि में आन के लिए आवश्यक है कि यह विवाह के संबंध में दी गई हो। इसमें तीसरा अवसर 'विवाह के बाद किसी समय' कभी न समाप्त होने वाली अवधि प्रतीत होती है परन्तु यहाँ पर शब्द 'कथित पक्षों के विवाह के संबंध में' निर्णायक हैं। अतः पारम्परिक भुगतान जैसे बच्चे के जन्म या दूसरे समारोहों में जो कि विभिन्न समाजों में दिये जाते हैं, 'दहेज' की परिधि में नहीं आते।

2.2.5 प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961 (The Maternity Benefits Act, 1961)

भारतीय संविधान द्वारा महिलाओं के लिए न केवल लोक नियोजन के विषय में समान अवसर, समान कार्य के लिये समान वेतन आदि का उपबन्ध किया गया है, बल्कि उनके हित में विशेष उपबन्ध भी किये जा सकते हैं।

प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961 की धारा 5(2) के अनुसार कोई भी स्त्री प्रसूति प्रसुविधा की तब तक हकदार न होगी, जब तक उसने अपने प्रत्याशित प्रसव की तारीख के पूर्ववर्ती बारह मासों में कम से कम अस्सी दिवस तक किसी स्थापन (Organization) में कार्य न किया हो।

म्युनिसिपल कार्पोरेशन ऑफ डेल्ही बनाम फीमेल वर्कर्स (मस्टर रोल), (2000) के वाद में माननीय उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि नगर पालिका एवं नगर निकायों के दैनिक वेतनभोगी महिला (मस्टर रोल) कर्मचारी भी प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम के अन्तर्गत लाभ प्राप्त करने की हकदार है तथा अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार प्रसूति अवकाश (Maternity Leave) केवल नियमित रूप से कार्यरत महिला कर्मचारी ही लेने की हकदार नहीं है बल्कि आकस्मिक (Casual) आधार पर या मस्टर रोल पर दैनिक वेतन भोगी महिला कर्मचारी भी प्रसूति अवकाश की हकदार है। अधिनियम की धारा 6 के अनुसार प्रसव (Devlivery) के समय वह छः सप्ताह का वेतन सहित अवकाश पाने की हकदार है।

अधिनियम की धारा 4(1) के अनुसार कोई भी नियोजक किसी स्त्री को उसके प्रसव या गर्भपात या गर्भ के चिकित्सीय समापन के दिन के ठीक पश्चात् (Immediately following) छह सप्ताह के दौरान किसी स्थापन (Establishment) में जानते हुए नियोजित नहीं करेगा।

धारा 4(2) के अनुसार कोई भी स्त्री अपने प्रसव या गर्भपात या गर्भ के चिकित्सीय समापन के दिन के ठीक पश्चात् (Immediately following) छह सप्ताह के दौरान किसी स्थापन (Establishment) में काम नहीं करेगी।

धारा 4(3) के अनुसार धारा 6 के उपबन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना किसी भी गर्भवती स्त्री से उसके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर, उपधारा (4) में उल्लिखित कालावधि के दौरान उसके नियोजक द्वारा कोई ऐसा काम करने की अपेक्षा नहीं की जायेगी जो कठिन प्रकृति का हो या जिसमें लम्बे समय तक खड़ा रहना पड़े या जिससे उसके गर्भवातित्व (Pregnancy) या भ्रूण (foetus) के प्रसामान्य विकास (Normal development) में किसी भी प्रकार विघ्न की सम्भावना हो या जिससे उसका गर्भपात होने या उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो।

प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961 की धारा 5(1) के अनुसार, इस अधिनियम के उपबन्धों के अध्यक्षीन रहते हुए, हर स्त्री वास्तविक अनुपस्थिति की कालावधि के लिए औसत दैनिक मजदूरी (Average daily wage) की दर से प्रसूति प्रसुविधा की हकदार होगी तथा नियोजक इसके लिए उत्तरदायी होगा। यानि कि हर स्त्री अपने प्रसव के दिन के ठीक पूर्व की कालावधि, प्रसव के वास्तविक दिन तथा प्रसव के दिन के ठीक बाद की किसी कालावधि के लिए प्रसूति प्रसुविधा की हकदार होगी तथा नियोजक इसके लिए उत्तरदायी होगा।

धारा 5(3) के अनुसार कोई स्त्री अधिकतम बारह सप्ताह की कालावधि के लिए प्रसूति लाभ की हकदार होगी जिसमें से, उसकी अपेक्षित प्रसव (expected delivery) की तिथि के पूर्व की अधिकतम कालावधि छह सप्ताह होगी। लेकिन यदि कोई स्त्री इस कालावधि के दौरान मर जाये, वहाँ प्रसूति प्रसुविधा उसकी मृत्यु के दिन तक के लिए ही, (जिसके अन्तर्गत मृत्यु का दिन भी सम्मिलित होगा) संदेय (Payable) होगी।

धारा 11 के अनुसार हर प्रसूता स्त्री को जो प्रसव के पश्चात् काम पर वापस आती है उस विश्रामार्थ अन्तराल (Interval for rest) के अतिरिक्त जो उसे अनुज्ञात (Allow) है, अपने दैनिक काम की चर्या में (in the course of her daily work) विहित कालावधि (Prescribed duration) के दो विराम (Breaks) शिशु के पोषण (Nursing) के लिए तब तक अनुज्ञात होंगे, जब तक वह शिशु पन्द्रह मास की आयु पूरी न कर लें।

2.2.6 महिलाओं का अशिष्ट रूपण (निषेध) अधिनियम, 1986 (The Indecent Representation of Women (Prohibition) Act, 1986)

महिलाओं का रूपण दो प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है। एक तरफ उसे सच्चरित्र, सरल एवं आज्ञाकारी महिला के रूप में दिखाया जाता है तथा दूसरी ओर अशिष्ट एवं सेक्स से संबंधित रूपण किया जाता है उसे आज व्यावसायिक प्रचार-प्रसार का माध्यम बना दिया गया है। मॉडलिंग के नाम पर अंग प्रदर्शन एक

सामान्य बात हो गई है। सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में नारियों को अर्द्धनग्न अवस्था में प्रस्तुत किया जाता है। इसके निवारण हेतु संसद द्वारा वर्ष 1986 में महिलाओं का अशिष्ट रूपण (निषेध) अधिनियम पारित किया गया है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत महिलाओं का किसी भी प्रकार से अशिष्ट रूपण निषेध किया गया है।

अधिनियम की धारा 2(ग) के अनुसार महिलाओं का अशिष्ट रूपण (Indecent representation of women) का अर्थ है, स्त्री की आकृति, उसके रूप या शरीर अथवा उसके किसी भाग का ऐसी रीति से वर्णन जो उसके शिष्ट होने या अल्पीकृत करने पर या महिलाओं के चरित्र को कलंकित करने के प्रभाव के रूप में हो या जिससे दुराचार, भ्रष्टाचार या लोक दूषण, अथवा नैतिकता को हानि पहुँचने की, सम्भावना हो।

अधिनियम की धारा 4 में दिखाई देने वाले सभी प्रकार के अशिष्ट रूपण को सम्मिलित किया गया है। जैसे लेखन, पुस्तक, पेपर, स्लाईड, फिल्म आदि। परन्तु ऐसा रूपण जो धार्मिक महत्व का हो या कला अथवा विज्ञान के उद्देश्य से हो 'अशिष्ट रूपण' में सम्मिलित नहीं किया गया है। ऐसा रूपण जो जन कल्याण के लिए हो या शिक्षा के लिए हो या शारीरिक चिकित्सा के लिए हो, 'अशिष्ट रूपण' की श्रेणी में नहीं रखा गया है।

अधिनियम की धारा 6 के अनुसार, धारा 3 या 4 का प्रथम बार उल्लंघन करने पर दो वर्ष तक के कारावास तथा दो हजार रुपये तक के जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है। धारा 3 या 4 का पुनः उल्लंघन करने पर कम से कम छः मास तथा अधिकतम पाँच वर्ष तक के कारावास से कम से कम दस हजार रुपये व अधिकतम एक लाख रुपये तक के जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है।

अधिनियम की धारा 5 के अनुसार कोई प्राधिकृत राजपत्रित अधिकारी उचित समय में ऐसे स्थान की तलाशी ले सकता है जहाँ पर महिलाओं के अशिष्ट रूपण से संबंधित पदार्थ मौजूद है। लेकिन वह बिना वारण्ट के किसी व्यक्तिगत निवास गृह में प्रवेश नहीं कर सकता। यदि पाया गया ऐसा कोई रिकार्ड, रजिस्टर, दस्तावेज या अन्य कोई मौलिक पदार्थ साक्ष्य हो सकता है तो वह उसे अभिगृहीत कर सकता है और रख सकता है जब तक कि इस संबंध में मजिस्ट्रेट से अन्यथा आदेश प्राप्त न हो जाये।

इस प्रकार की सामग्री के उत्पादन, प्रयोग या प्रसार में संलग्न कोई व्यक्ति या कम्पनी अभियोजन हेतु उत्तरदायी है। अधिनियम की धारा 8 के अनुसार इस प्रकार के अपराध संज्ञेय तथा जमानतीय होंगे।

चन्द्र राजकुमारी बनाम कमिश्नर ऑफ पुलिस, हैदराबाद, (1998) का वाद महिलाओं की सौंदर्य प्रतियोगिता से संबंधित है। इस वाद में स्त्री के उच्च एवं आदर्श चरित्र का चित्रण किया गया है। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा कहा गया कि “नारी मात्र एक व्यक्ति नहीं है अपितु एक शक्ति भी है। उसका नारीत्व माँ की ममता के रूप में छलकता है। ऐसी नारी का सम्मान तथा गौरव संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन संरक्षित है।”

2.2.7 सती (निवारण) अधिनियम, 1987 (The Commission of Sati (Prevention) Act, 1987)

रूपकुँवर, केसरिया तथा कुट्टू सती के ज्वलन्त उदाहरण हैं। सती विरोधी अधिनियम को उन तमाम कानूनों के स्थान पर जो देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित थे, केन्द्रीय कानून के रूप में रखा गया है। यह अधिनियम सती हेतु न केवल निषेध और दण्ड की व्यवस्था करता है बल्कि सती की प्रशंसा करने को भी अपराध की श्रेणी में लाता है।

वित्तीय या राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इस प्रकार के आपराधिक शोषण के विरुद्ध कार्यवाही करने हेतु अधिनियम में उपबन्ध किये गये हैं।

अधिनियम की धारा 4(1) के अनुसार यदि कोई स्त्री सती होती है, तब जो कोई ऐसे सती होने का प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्ष रूप से दुष्प्रेरण (Abetment) करता है, वह मृत्युदण्ड से या आजीवन कारावास से दण्डित किया जायेगा तथा जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

धारा 4(2) के अनुसार यदि कोई स्त्री सती होने का प्रयास करती है तब जो कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे प्रयास का दुष्प्रेरण करेगा, वह आजीवन कारावास से दण्डित किया जायेगा तथा जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

अधिनियम की धारा 2(1)(स) के अनुसार “सती” का अर्थ—

- (i) विधवा को उसके मृत पति के शव या किसी रिश्तेदार के शव या किसी वस्तु, पदार्थ या सामग्री, जो उसके पति या रिश्तेदार से संबंधित हो, के साथ जीवित जलाना, या गाड़ना है, या
- (ii) इस तथ्य को बिना विचार किये कि, ऐसा गाड़ना या जलाना, उस विधवा या स्त्री द्वारा उसकी ओर से स्वैच्छिक है या अन्यथा है, किसी स्त्री को उसके किसी संबंधी के शव के साथ गाड़ना या जलाना है।

धारा 2(1)(ब) के अनुसार "गौरवान्वित करना" (गौरव बढ़ाना) का तात्पर्य—

- (i) सती के संबंध में कोई जुलूस निकालना या उत्सव मनाना, या
- (ii) सती प्रथा को न्यायोचित ठहराना, समर्थन करना या प्रचार करना, या
- (iii) जिसने सती की हो, उस व्यक्ति की स्तुति करने हेतु किसी कार्यक्रम का आयोजन करना, या
- (iv) जिसने सती किया हो, उसकी स्मृति सुरक्षित रखने या उसके सम्मान को स्थायी बनाने के लिए किसी न्यास का निर्माण करना या राशि एकत्रित करना, या किसी मन्दिर का निर्माण करना है।

अधिनियम की धारा 7 के अनुसार ऐसे सभी मन्दिर हटाये जाने हैं। धारा 5 के अनुसार जो कोई सती का गौरव बढ़ाने हेतु कोई कार्य करेगा, वह एक वर्ष से सात वर्ष तक के कारावास और 5,000 से 30,000 रुपये तक के जुर्माने से दण्डनीय होगा। सती के नाम पर एकत्र की गई सभी सम्पत्ति जब्त कर ली जायेगी।

2.2.8 घरेलू हिंसा अधिनियम, 2005

महिलाओं के प्रति उनके कुटुम्ब के भीतर ही होने वाली हिंसा से संरक्षण के लिए घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम, 2005 को पारित किया गया है। अधिनियम की धारा 2 के अन्तर्गत पीड़ित व्यक्ति से तात्पर्य किसी ऐसी महिला से है जो प्रत्युत्तरदाता की घरेलू रिश्ते में है या रही है और जिसका अभिकथन है कि वह प्रत्युत्तरदाता द्वारा किसी घरेलू हिंसा के अधीन रही है। अधिनियम की धारा 3 के अनुसार प्रत्युत्तरदाता का कोई कार्य या लोप घरेलू हिंसा गठित करेगा यदि वह—

- (क) पीड़ित व्यक्ति के स्वास्थ्य, सुरक्षा जीवन अंग की या चाहे उसकी मानसिक या शारीरिक भलाई की क्षति करता है, या उसे कोई हानि पहुँचाता है या उसे संकटयुक्त करता है या उसकी ऐसा करने की प्रवृत्ति है और जिसके अन्तर्गत शारीरिक दुरुपयोग, लैंगिक दुरुपयोग, मौखिक और भावनात्मक दुरुपयोग और आर्थिक दुरुपयोग कारित करना भी शामिल है।
- (ख) किसी दहेज या अन्य संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति के लिए किसी विधि विरुद्ध मांग की पूर्ति के लिए उसे या उससे संबंधित किसी अन्य व्यक्ति को प्रपीडित करने की दृष्टि से पीड़ित व्यक्ति का उत्पीड़न करता है या उसकी अपहानि करता है या उसे क्षति पहुँचाता है या संकट में डाल देता है।

यदि कोई महिला घरेलू हिंसा की शिकार है तो उसके निम्न अधिकार होंगे—

- (1) धारा 5 के अन्तर्गत उन अधिकारों तथा उन अनुतोषों के विषय में जानकारी के बारे में संरक्षणकर्ता एवं सेवा प्रदाता की सहायता किया जाना जिसे आप कर सकती हैं।
- (2) संरक्षण अधिकारी की सहायता और सेवा प्रदाता या निकटतम पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी की शिकायत दर्ज करने सहायता और धारा 9 और 10 के अनुतोष हेतु आवेदन।
- (3) धारा 18 के अन्तर्गत घरेलू हिंसा के कार्यों से स्वयं या स्वयं के बच्चों के लिये संरक्षण प्राप्त करना।
- (4) उन खतरों और असुरक्षाओं से जिससे आप का बच्चा सामना कर रहा है संरक्षण, उपाय और आदेश पाने का अधिकार।
- (5) धारा 10 के अन्तर्गत उस घर में रहने वाली घरेलू हिंसा का शिकार हुई और उक्त आवास में रहने वाले व्यक्तियों के हस्तक्षेप में बाधा उत्पन्न करने तथा घर तथा उसमें निहित सुविधाओं व शांतिपूर्ण उपभोग एवं बच्चों के अधिकार के विषय में।
- (6) धारा 18 के अधीन आपके स्त्रीधन, आभूषण कपड़ों और दैनिक उपयोग की वस्तुओं और अन्य घरेलू चीजों को वापस कब्जे में लेना।
- (7) धारा 6, 7 धारा 9 और धारा 14 के अन्तर्गत चिकित्सीय सहायता, आश्रय परामर्श और विधिक सहायता लेना।
- (8) धारा 18 के अन्तर्गत घरेलू हिंसा कर्ता को आप से सम्पर्क और पत्राचार रोकने हेतु।
- (9) धारा 22 के अधीन घरेलू हिंसा के कारण शारीरिक पीड़ा या मानसिक क्षति या किसी धन संबंधी क्षति हेतु क्षतिपूर्ति।
- (10) अधिनियम की धारा 12, धारा 18, और 19, धारा 20, धारा 21, धारा 22 और धारा 23 के अधीन शिकायत करने या अनुतोष प्राप्त करने हेतु किसी न्यायालय के सम्मुख कार्यवाही।
- (11) की गई शिकायतों, आवेदनों किसी चिकित्सीय रिपोर्ट या अन्य रिपोर्ट को जो आप के द्वारा दर्ज करायी जाती है या आपके बच्चे द्वारा उसकी प्रतियाँ प्राप्त करना।

(12) घरेलू हिंसा के विषय में किसी प्राधिकारी के द्वारा अभिलिखित किसी कथन की प्रतियाँ प्राप्त करना।

(13) किसी खतरे से बचाव हेतु पुलिस या संरक्षण अधिकार से सहायता प्राप्त करना।

2.3.राष्ट्रीय महिला आयोग, अधिनियम, 1990 (National Commission for Women Act, 1990)

वर्ष 1990 में, राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम पारित हुआ। राष्ट्रीय महिला आयोग महिलाओं के सशक्तीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण उपकरण है। अधिनियम की धारा 3(1) के अनुसार केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन करेगी जो अधिनियम के अन्तर्गत दिये गये कार्यों का सम्पादन करेगा। आयोग अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत उल्लिखित कार्यों का सम्पादन करेगा। जिनमें से मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

- (i) महिलाओं के लिए संविधान और अन्य विधियों के अधीन उपबन्धित रक्षोपायों (Safeguards) से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण (Investigation) और परीक्षा (Examine) करना
- (ii) संविधान और अन्य विधियों के महिलाओं को प्रभावित करने वाले विद्यमान (Existing) उपबन्धों का समय-समय पर पुनर्विलोकन (Review) करना और उनके यथोचित संशोधनों की सिफारिश करना;
- (iii) संविधान और अन्य विधियों के महिलाओं से संबंधित उपबन्धों के उल्लंघन के मामलों को समुचित प्राधिकारियों के समक्ष उठाना;
- (iv) निम्नलिखित से संबंधित विषयों पर शिकायतों (Complaints) की जाँच करना और स्वप्रेरणा (Suo Motu) से ध्यान देना।
 - (क) महिलाओं के अधिकारों के उल्लंघन से संबंधित मामले;
 - (ख) महिलाओं को संरक्षण प्रदान करने वाली अधिनियमित (Enacted) विधियों के अक्रियान्वयन (Non-implementation) से संबंधित मामले
 - (ग) संघ और किसी राज्य के अधीन महिलाओं के विकास की प्रगति का मूल्यांकन (Evaluation) करना, आदि।

परन्तु आयोग कानून का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए अक्षम है। इसके द्वारा की गई सिफारिशों पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता है। इसके द्वारा जारी किये गये सम्मन को गम्भीरता से नहीं लिया जाता। महिला आयोग अपने सम्मन असिस्टेंट कमिश्नर ऑफ पुलिस के कार्यालय के माध्यम से भेज सकता है, समाचार पत्रों में प्रकाशित करवा सकता है या पोस्टर के रूप में चिपकवा सकता है। परन्तु महिला आयोग शायद ही कभी ऐसा करता है। जब कभी भी कार्य करने के स्थान पर महिलाओं के यौन शोषण के मामले सामने आये हैं तो आयोग ने केवल शुरु में शोर ही मचाया है और ज्यादा कुछ नहीं किया है। आयोग बिना पोशाक के पुलिस नहीं है। इसके पास मजिस्ट्रेट की विधिक शक्तियाँ भी नहीं हैं। इसके सदस्य स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसने अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं की है। उनका कहना है कि क्योंकि वे सरकार पर निर्भर हैं अतः उनकी बहुत कम शक्तियाँ हैं। कोई भी संस्था दूसरे पर निर्भर होते हुए शक्तिशाली नहीं हो सकती।

2.4 बालकों के सशक्तीकरण के उपाय

2.4.1 बाल विवाह अवरोध अधिनियम, 1929 (Child Marriage Restraint Act, 1929)

अधिनियम की धारा 3 के अनुसार यदि कोई पुरुष जिसकी आयु 18 वर्ष से अधिक और 21 वर्ष से कम हो, 15 वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करता है, तो उसको हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में दिये गये साधारण कारावास एवं अर्थदण्ड (Fine) से दण्डित किया जायेगा। यानि कि उसे हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत 15 दिन तक के साधारण कारावास या रु० 1000/- तक के अर्थदण्ड या दोनों से दण्डित किया जायेगा।

यदि कोई पुरुष जिसकी आयु 21 वर्ष से अधिक हो, 15 वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करता है तो उसे 3 वर्ष तक के साधारण कारावास एवं अर्थदण्ड से दण्डित किया जायेगा।

धारा 5 के अनुसार जो बाल विवाह रचायेगा (Perform करेगा) उसे भी समान दण्ड से दण्डित किया जायेगा जब तक कि वह यह न सिद्ध कर दे कि उसे यह विश्वास था कि विवाह बाल विवाह नहीं था।

धारा 6 के अनुसार यदि कोई अवयस्क बाल विवाह करता है, तो जिसके नियन्त्रण में रहते हुए वह अवयस्क विवाह करता है उसे 3 माह तक के साधारण कारावास तथा अर्थदण्ड से दण्डित किया जायेगा। लेकिन स्त्री को दण्डित नहीं किया जायेगा। जब तक कि अन्यथा सिद्ध न हो जाये, यही माना जायेगा कि उस व्यक्ति ने बाल विवाह रोकने में असावधानी बरती है जिसके नियन्त्रण में रहते हुए अवयस्क ने बाल विवाह किया है।

धारा 9 के अनुसार यदि बाल विवाह हुए 1 वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका है तो ऐसे मामलों पर कोई कार्यवाही नहीं होगी।

बाल विवाह रोकने हेतु प्राविधान होते हुए भी भारत के अनेक राज्यों, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा बिहार आदि में बाल विवाह का प्रचलन है।

2.4.2 गर्भाधान पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक (लिंग चयन रोकथाम) अधिनियम, 1994 The Pre-conception and Pre-natal Diagnostic Techniques (Prohibition of Sex Selection) Act, 1994)

देश में स्त्री भ्रूण हत्या (Female foeticide) चरम सीमा पर है। गर्भाधान पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक (लिंग-चयन रोकथाम) अधिनियम, 1994 अधिनियमित हो जाने के बावजूद राज्य सरकारों द्वारा अभी भी कानून की गम्भीरता को समझना बाकी है। इस पर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

उच्चतम न्यायालय ने भी स्त्री भ्रूण हत्या रोकने हेतु राज्य सरकारों द्वारा समुचित कदम न उठाने के कारण काफी फटकार लगाई है यहाँ तक कि राज्य में अल्ट्रासाउण्ड मशीनों के पंजीकरण जैसे साधारण से कार्य को भी पूर्णरूप से कार्यान्वित नहीं किया गया है। एक राज्य के संबंध में माननीय उच्चतम न्यायालय ने यहाँ तक कहा कि इस कार्य में असफल अधिकारियों/कर्मचारियों को कार्यालय से हटा देना चाहिए।

अधिनियम के अनुसार राज्य सरकारों द्वारा सभी अल्ट्रासाउण्ड मशीनों का पंजीकरण, अधिनियम के क्रियान्वयन का अनुश्रवण (Monitoring) करने हेतु जिला एवं उपजिला स्तर पर समुचित प्राधिकारियों की नियुक्ति और विशेषज्ञों का सलाहकार बोर्ड स्थापित करना चाहिए। उठाये गये कदमों के संबंध में राज्य सरकारों द्वारा त्रैमासिक रिपोर्ट केन्द्र सरकार को प्रभावी अनुश्रवण करने हेतु प्रस्तुत करनी चाहिए।

मई, 2001 में निर्देश दिये जाने के बावजूद उच्चतम न्यायालय ने पाया कि अधिकतर राज्य सरकारें इस संबंध में आवश्यक कार्यवाही करने में पीछे हैं। अधिनियम के कार्यान्वयन में प्रशासन द्वारा पूरी तरह से ढिलाई है। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि राज्य सरकारें अधिनियम को कार्यान्वित करें तथा अवैधानिक रूप से भ्रूण की यौन पहचान (Identification of Sex) करने में सहायता तथा दुष्प्रेरण करने वाली क्लिनिक केन्द्र तथा प्रयोगशालाओं के विरुद्ध अभियोजन की कार्यवाही करें। अधिनियम किसी भी रूप में जन्म से पूर्व यौन पहचान तथा यौन पहचान हेतु अल्ट्रासोनोग्राफी (Ultrasonography) के प्रयोग का प्रतिषेध (Prohibition) करता है। यह भ्रूण के यौन पहचान से संबंधित विज्ञापन का भी प्रतिषेध करता है। अधिनियम के प्राविधानों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित सजा तथा जुर्माने से दण्डनीय है।

पूर्व अधिनियम प्रसवपूर्व निदान तकनीक (विनियमन एवं दुरुपयोग निवारण) अधिनियम 1994 [Pre-natal Diagnostic Techniques (Regulation and Prevention of Misuse) Act, 1994] एक जनवरी, 1996 से अस्तित्व में आया जो कि अनेक कमियों के कारण वर्ष 2002 में संशोधित हो गया है तथा इसका नया नाम गर्भाधान पूर्व और प्रसवपूर्व निदान तकनीक (लिंग चयन रोकथाम) अधिनियम [Pre-Conception and Pre-natal Diagnostic Techniques (Prohibition of Sex Selection) Act] हो गया। यह संशोधित अधिनियम 14-2-2004 से प्रभाव हो गया है। अवैधानिक रूप से भ्रूण की यौन पहचान के लिए अल्ट्रासाउण्ड मशीनों का दुरुपयोग करने में संशोधित अधिनियम के द्वारा सख्ती बरती जायेगी। एक नवीनतम वाद में अभिनिर्धारित किया गया कि स्त्री भ्रूण हत्या हेतु यौन पहचान करने के कार्य में लगे होने के संबंध में यदि प्रथम दृष्ट्या साक्ष्य उपलब्ध हों तो ऐसे कार्य करने वाले डायगनोस्टिक सेन्टर की अनुज्ञप्ति (Licence) निलम्बित की जा सकती है। पूर्व अधिनियम बालिकाओं के विरुद्ध भेदभाव करने वाले नये तरीकों से निपटने के अक्षम था। अब नये संशोधित अधिनियम की धारा 23(3) के अन्तर्गत जुर्माने की धनराशि एक लाख रुपये है तथा अधिनियम का उल्लंघन करने वालों का पंजीकरण निलम्बित करने का उपबन्ध भी संशोधित अधिनियम की धारा 23(2) में है।

संशोधित अधिनियम की धारा 4(3) के परन्तुक के अनुसार अल्ट्रासाउण्ड मशीनों के लिए केसवार रिकार्ड का रखरखाव किया जायेगा। धारा 3 बी के अनुसार अल्ट्रासाउण्ड मशीनों का विक्रय भी नियमित (Regulate) किया जायेगा। संशोधन अधिनियम की धारा 16 के अन्तर्गत केन्द्रीय परिवीक्षा बोर्ड (Central Supervisory Board) को यौन पहचान की तकनीकों तथा उनके दुरुपयोग से संबंधित नीति पर सलाह देने हेतु और अधिक शक्तियाँ दी गई हैं। यह संशोधित अधिनियम, अधिनियम के कार्यान्वयन के अनुश्रवण और यौन पहचान की प्रथा के विरुद्ध जनता को जानकारी देने हेतु बोर्ड को शक्तियाँ प्रदान करता है।

अधिनियम का मुख्य उद्देश्य लिंग चयन की तकनीक और लिंग के आधार पर होने वाले गर्भपात पर तथा ऐसी गतिविधियों पर रोक लगाना है।

2.4.3 बालक श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 (Child Labour (Prohibition and Regulation) Act, 1986)

बाल श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 की धारा 22(1) के द्वारा बालक नियोजन अधिनियम, 1938 (Employment of Children Act, 1938) का निरसन (Repeal) कर दिया गया है। अधिनियम का मुख्य उद्देश्य कम आयु के बच्चों को असुरक्षित एवं हानिकारक उद्योगों में नियोजित करने से रोकना तथा उनके कार्य की दशाओं को विनियमित करना है।

अधिनियम की धारा 2 के अनुसार बालक उसे माना गया है जिसने अपनी आयु के 14 वर्ष पूरे नहीं किये हों। इस अधिनियम के उद्देश्य के लिए 'स्थापन' (Establishment) शब्द में दुकान (Shop), वाणिज्यिक स्थापन (Commercial establishment), कर्मशाला (Workshop), फार्म (Farm), आवासीय होटल, रेस्टोरेंट, भोजनालय (Eating house), नाट्यगृह (Theater) या जनता के आमोद (Amusement) या मनोरंजन (Entertainment) के लिए दूसरे स्थान सम्मिलित है। 'कर्मशाला' (Workshop) शब्द से तात्पर्य ऐसे किसी परिसर (Premises) से है जिसमें कोई औद्योगिक प्रक्रिया (Industrial Process) चल रही हो लेकिन इसमें कोई परिसर जिस पर कारखाना अधिनियम (Factories Act) की धारा 67 के उपबन्ध लागू होते हों, सम्मिलित नहीं है। इस अधिनियम के उपबन्धों को 1938 के निरसित अधिनियम का संशोधन समझा जा सकता है।

अधिनियम की धारा 3 के द्वारा अनुसूची (Schedule) के भाग ए में उल्लिखित किसी उपजीविका (Occupation) में कार्य करने के लिए बालकों का नियोजन प्रतिषेध किया गया है। किसी कर्मशाला में जिसमें अनुसूची के भाग बी में उल्लिखित कोई प्रक्रिया चल रही हो, बालकों के नियोजन पर धारा 3 के अन्तर्गत प्रतिषेध है। लेकिन ऐसी कर्मशालाओं में, जहाँ ऐसी प्रक्रिया अधिभोगी (Occupier) द्वारा अपने परिवार की सहायता से चल रही हो या सरकार द्वारा स्थापित या सरकार द्वारा मान्यता या सहायता प्राप्त किसी स्कूल में बालकों को नियोजित किया जा सकता है। अधिनियम की धारा 4 के अन्तर्गत केन्द्र सरकार को अनुसूची (Schedule) संशोधित करने हेतु शक्ति प्रदान की गई है।

अनुसूची ए में मुख्य रूप से निम्नलिखित उपजीविकायें हैं जिनमें बालकों के नियोजन पर प्रतिषेध है:

- (1) रेल यात्रा, सामान एवं डाक का परिवहन;
- (2) राख उठाना, राख के गड्ढे साफ करना या रेलवे परिसर में निर्माण कार्य करना;
- (3) रेलवे स्टेशन पर भोजनालयों में काम करना तथा बार-बार ट्रेन में उतरते-चढ़ने वाला कार्य करना;
- (4) रेलवे स्टेशन, रेल की पटरियों तथा उनके निकट कोई निर्माण कार्य करना;
- (5) बन्दरगाह पर कार्य करना;
- (6) पटाखों, आतिशबाजी आदि के उत्पादन, विक्रय आदि का कार्य करना आदि।

अनुसूची का भाग बी उन प्रक्रियाओं का उल्लेख करता है जहाँ बालकों के नियोजन पर प्रतिषेध है। जिनमें ये प्रक्रियायें मुख्य हैं—

- (1) बीड़ी बनाना;
- (2) कालीन बनाना;
- (3) सीमेन्ट निर्माण;
- (4) कपड़ों की रंगाई, सुखाई, बुनाई आदि;
- (5) माचिस, विस्फोटक तथा पटाखों का निर्माण;
- (6) साबुन निर्माण;
- (7) ऊन की सफाई;
- (8) भवन एवं निर्माण उद्योग;
- (9) स्लेट-पेंसिल निर्माण;
- (10) विषैले धातु से संबंधित निर्माण प्रक्रिया, आदि

अधिनियम की धारा 7 के अनुसार सायं 7.00 बजे से सुबह 8.00 बजे तक तथा कार्य के निर्धारित समय के अतिरिक्त बालक को कार्य करने की न तो अनुमति दी जायेगी और न अपेक्षा की जायेगी। उसके कार्य करने का समय लगातार तीन घण्टे से अधिक नहीं होगा उसके बाद कम से कम एक घण्टे का विश्राम करने का समय होना चाहिए। उसके कार्य करने का कुल समय, विराम अन्तराल (**Rest interval**) तथा कार्य की प्रतीक्षा में लगे हुए समय को सम्मिलित करते हुए छः घण्टे प्रतिदिन से अधिक नहीं होना चाहिए। उसे किसी भी दिन दो स्थापनों (**Establishments**) में न तो कार्य करने की अनुमति दी जायेगी और न ही अपेक्षा की जायेगी।

अधिनियम की धारा 8 के अनुसार प्रत्येक बाल श्रमिक को सप्ताह में पूरे एक दिन का अवकाश मिलेगा जो कि अधिभोगी (**Occupier**) द्वारा निर्धारित किया जायेगा तथा इसमें तीन मास में एक बार से अधिक परिवर्तन नहीं किया जायेगा। धारा 11 के अनुसार बाल श्रमिक का पूर्ण विवरण रखने हेतु एक रजिस्टर रखा जायेगा जिसमें बाल श्रमिक का नाम, जन्म तिथि, कार्य के घंटे, कार्य की प्रकृति, या अन्य निर्धारित

विवरण अंकित किया जायेगा। निरीक्षण के लिए उक्त रजिस्टर निरीक्षक को उपलब्ध कराया जायेगा। अधिनियम की धारा 13 के अनुसार समुचित सरकार को बालकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए इस अधिनियम के अधीन नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है। नियमों में कारखाना अधिनियम के समान सफाई, कूड़ा कचरा आदि को नष्ट करने, वायु तथा ताप या अन्य मामलों के संबंध में व्यवस्था हो सकती है। धारा 5 के अनुसार अनुसूची में अन्य मामलों के संबंध में व्यवस्था हो सकती है। धारा 5 के अनुसार अनुसूची में अन्य उपजीविकायें (Occupations) तथा प्रक्रियायें (Processes) जोड़ने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार को सलाह देने हेतु केन्द्र सरकार बालश्रम तकनीकी सलाहकार समिति (Child Labour Technical Advisory Committee) का गठन करने के लिए प्राधिकृत है। धारा 9 के अनुसार यदि नियोजक किसी बालक को नियोजित करता है तो नियोजन की तिथि से तीस दिन के अन्दर निरीक्षण को सूचित करने के लिए बाध्य है।

धारा 14 में अपराध एवं दण्ड से संबंधित उपबन्ध हैं। यदि अधिनियम के उपबन्धों के उल्लंघन में बालकों को नियोजित किया जाता है तो तीन माह से एक साल तक की सजा दी जा सकती है या 10,000 रुपये से 20,000 रुपये तक का जुर्माना किया जा सकता है या फिर दोनों से दण्डित किया जा सकता है। यदि ऐसा अपराध पुनः किया जाता है तो नियोजक को छः माह से दो वर्ष तक की सजा दी जा सकती है। धारा 9 के अन्तर्गत अपेक्षित सूचना देने में असफल रहने पर या रजिस्टर का रखरखाव करने में असफल रहने पर या अधिनियम अथवा उसके अन्तर्गत बनाये गये नियमों के किन्हीं और प्राविधानों के अनुपालन में असफल रहने पर या उनका उल्लंघन करने पर नियोजक को एक माह तक साधारण कारावास या 10,000 रुपये तक के जुर्माने अथवा दोनों से दण्डित किया जायेगा।

अधिनियम की धारा 16(1) के अनुसार कोई व्यक्ति, पुलिस अधिकारी या निरीक्षक कोई अपराध घटित होने की स्थिति में सक्षम क्षेत्राधिकारी के न्यायालय में परिवाद (Complaint) दाखिल कर सकता है।

बालक श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 पूरी तरह से बालक कर्मकारों के लिए ही बनाया गया है। कल्याणकारी होते हुए भी इसमें बहुत सी कमियाँ हैं। यह बाल श्रम को समाप्त करने के बजाय केवल उसके प्रतिषेध तथा विनियमन का उपबन्ध करता है। अधिनियम के उद्देश्य एवं कारणों में आर्थिक आवश्यकता के आधार पर बाल श्रम को न्यायोचित ठहराया गया है। अधिनियम की धारा 13 में समुचित सरकार को नियोजित बालकों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए नियम बनाने की शक्ति प्रदान की गई है। परन्तु यह नियम कितने समय के अन्दर बनाये जायेंगे, इस संबंध में अधिनियम में कोई उपबन्ध नहीं है।

2.4.4 किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000 (The Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2000)

किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000 की धारा 69 के द्वारा किशोर न्याय अधिनियम, 1986 को निरसित कर दिया गया है। नये अधिनियम के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि यह अधिनियम संघर्षरत किशोरों एवं बालकों, जिनकी देखरेख एवं संरक्षण आवश्यक है से संबंधित विधि को, उनके विकास की आवश्यकताओं का उत्तरदायित्व ग्रहण करके समुचित देखरेख, संरक्षण और उपचार का प्रावधान करके बच्चों के सर्वोत्तम हित में मामलों के न्याय निर्णयन और निस्तारण में मित्रता का दृष्टिकोण अपना कर और इस अधिनियम के अधीन स्थापित विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से उनके पुनर्वास के लिए, समेकित (Consolidate) और संशोधित करने के लिए है। यह अधिनियम संयुक्त राष्ट्र बालक अधिकार अभिसमय, 1989 तथा भारतीय संविधान के प्रावधानों को दृष्टि में रखते हुए अधिनियमित किया गया है। अधिनियम की धारा 70 के अनुसार यदि इस अधिनियम के उपबन्धों को प्रभावी करने में कोई कठिनाई उत्पन्न होती है तो केन्द्रीय सरकार आदेश द्वारा, जो इस अधिनियम के उपबन्धों से असंगत न हो, कठिनाई को दूर कर सकेगी परन्तु ऐसा कोई आदेश इस अधिनियम के प्रभावी होने के दो वर्ष की अवधि की समाप्ति के पश्चात् नहीं किया जायेगा। इस धारा के अधीन पारित किया गया आदेश संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष यथाशीघ्र रखा जायेगा। अधिनियम में 5 अध्याय हैं जिनमें कुल 70 धाराएँ हैं।

अधिनियम की धारा 2(ट) "किशोर" या "बालक" शब्द को परिभाषित करती है। "किशोर (Juvenile)" या "बालक (Child)" से ऐसा अभिप्रेत है जिसने अट्ठारह वर्ष की आयु पूरी नहीं की है।

धारा 2(ठ) के अनुसार "किशोर जो विधि के विरोध में है" "(Juvenile in conflict with law)" से वह किशोर अभिप्रेत है, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि उसने कोई अपराध कारित किया है। अधिनियम की धारा 3 के अनुसार जहाँ किसी विधि विवादित किशोर या देख-रेख और संरक्षकता के आवश्यकता वाले बालक के विरुद्ध जाँच आरम्भ कर दी गयी है और उस जाँच के दौरान वह किशोर या बालक ऐसा नहीं रह जाता है, वहाँ इस अधिनियम में या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, उस व्यक्ति के बारे में जाँच ऐसे चालू रखी जा सकेगी और आदेश ऐसे किये जा सकेंगे मानों वह व्यक्ति किशोर या बालक बना रहा है। अधिनियम का अध्याय दो विधि विवादित किशोर से संबंधित उपबन्धों का उल्लेख करता है। अधिनियम की धारा 4(1) के अनुसार दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 में किसी बात के होते हुए भी राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा उस अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किसी जिसे या जिले के समूहों के लिए, एक या अधिक किशोर कल्याण बोर्ड विधि विवादित किशोरों के संबंध में इस अधिनियम के अधीन ऐसे बोर्ड को दी गयी शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए गठित कर सकेगी।

धारा 4(2) के अनुसार ऐसे बोर्ड में एक मेट्रोपॉलिटन मजिस्ट्रेट अथवा प्रथम श्रेणी का कोई न्यायिक मजिस्ट्रेट जैसी भी स्थिति हो, और दो सामाजिक कार्यकर्ता सम्मिलित होंगे, जिसमें कम से कम एक कोई स्त्री होगी और इन सबके द्वारा एक पीठ का निर्माण होगा। ऐसी प्रत्येक पीठ को दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) द्वारा किसी महानगरीय मजिस्ट्रेट को अथवा, जैसी भी स्थिति हो, किसी प्रथम वर्ग के मजिस्ट्रेट को प्रदत्त शक्तियाँ होंगी और बोर्ड का मजिस्ट्रेट प्रधान मजिस्ट्रेट के रूप में पद नामित होगा।

किसी भी मजिस्ट्रेट को बोर्ड के सदस्य के रूप में तब तक नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक कि उसको बाल मनोविज्ञान या बाल कल्याण का विशेष ज्ञान या प्रशिक्षण न प्राप्त हो और किसी सामाजिक कार्यकर्ता को तब तक बोर्ड के सदस्य के रूप में नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक कि वह सक्रिय रूप से कम से कम सात वर्ष से बालकों से संबंधित स्वास्थ्य, शिक्षा अथवा कल्याणकारी कार्यों में न लगा रहा हो।

अधिनियम की धारा 6(1) के अन्तर्गत जहाँ किसी जिले अथवा जिलों में किसी समूह के लिए किसी बोर्ड का गठन किया गया है, वहाँ तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, परन्तु इस अधिनियम में अन्यथा उपबन्ध को छोड़कर ऐसे बोर्ड को विधि विवादित किशोर के संबंध में इस अधिनियम के अधीन समस्त कार्यवाहियों से संव्यवहार करने की अनन्यतम शक्ति होगी।

अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (2) के अनुसार इस अधिनियम द्वारा या इसके अधीन बोर्ड को प्रदान की गयी शक्तियों का प्रयोग उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय द्वारा भी किया जा सकेगा जब अपील, पुनरीक्षण अथवा अन्य रूप में कार्यवाहियाँ उनके समक्ष आयें।

संप्रेक्षण गृह (Observation Homes)—अधिनियम की धारा 8(1) के अनुसार कोई राज्य सरकार किसी विधि विवादित किशोरों के बारे में इस अधिनियम के अधीन जाँच लम्बित रहने के दौरान उन्हें अस्थायी तौर पर रखने के लिए या तो स्वयं अथवा स्वयं सेवी संगठनों से किसी करार के अधीन प्रत्येक जिले अथवा जिलों के किसी समूह में जैसा कि अपेक्षित हो, संप्रेक्षण गृह स्थापित कर सकेगी और बनाये रख सकेगी।

विशेष गृह (Special Homes): अधिनियम की धारा 9(1) के अनुसार कोई राज्य सरकार या तो स्वयं अथवा स्वयं सेवी संगठनों से किये गये किसी करार के अधीन प्रत्येक जिले या जिलों के किसी समूह में, जैसा अपेक्षित हो, इस अधिनियम के अधीन विधि विवादित किशोर के प्रवेश और पुनर्वास के लिए विशेष गृहों को स्थापित और अनुरक्षित कर सकेगी।

बाल कल्याण समिति (Child Welfare Committee): अधिनियम की धारा 29(1) के अनुसार राज्य सरकार, सरकारी राजपत्र में अधिसूचना द्वारा प्रत्येक जिले अथवा जिलों के समूह के लिए, जैसा कि अधिसूचना में विनिर्दिष्ट हो, इस अधिनियम के अधीन देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले बालक के संबंध में ऐसी समिति को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए एक या अधिक बालक कल्याण समितियों का गठन कर सकेगी।

धारा 296 की उपधारा (5) के अनुसार समिति मजिस्ट्रेटों की एक पीठ के रूप में कार्य करेगी और उसको वही शक्तियाँ होंगी, जो कि दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 द्वारा किसी महानगरीय मजिस्ट्रेट या, जैसी भी स्थिति हो, प्रथम श्रेणी के किसी न्यायिक मजिस्ट्रेट को प्रदत्त की गई हैं।

आश्रय गृह (Shelter Homes): अधिनियम की धारा 37(1) के अनुसार राज्य सरकार प्रतिष्ठित और सक्षम स्वयंसेवी संगठनों को मान्यता दे सकेगी और उन्हें किशोरों और बालकों के लिए, जैसा अपेक्षित हो, जितने हो सकें आश्रय गृहों को स्थापित और प्रशासित करने की सहायता का उपबन्ध कर सकेगी।

धारा 37 की उपधारा (2) के अनुसार उपधारा (1) में निर्दिष्ट आश्रय गृह ऐसे बालकों के लिए व्यक्त केन्द्र के रूप में कार्य करेगा जिन्हें तत्काल सहारे की जरूरत है।

2.5 सारांश

यह सर्वविदित है कि महिलायें, बालक तथा बालिकायें अपनी विभिन्न प्रकार की अक्षमताओं के कारण शोषित होते हैं तथा शोषण का विरोध करने में असमर्थ होते हैं। यदि उनको शक्ति एवं क्षमता संपन्न कर दिया जाए तो उनकी दशा में सुधार एवं परिवर्तन की संभावना बढ़ जाती है। प्रत्यक्ष रूप से सशक्तीकरण द्वारा सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत विभिन्न विधियों के निर्माण एवं उनके प्रभावी प्रवर्तन की आवश्यकता है।

महिलाओं की स्थिति विवाह संबंधी मामलों में काफी कमजोर होती है अतएव, विशेष विवाह अधिनियम, विदेशी विवाह अधिनियम तथा वैवाहिक विधियों में न्यायपूर्ण संशोधन कर के, उन्हें सशक्त बनाने का प्रयास किया गया है। महिलाओं के प्रति हिंसक प्रथाओं को समाप्त करने एवं उनके प्रति हिंसा को रोकने के भी वैधानिक उपाय दहेज, सती, घरेलू हिंसा आदि पर अधिनियम बनाकर किए गए हैं। प्रसूति के समय विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं तथा उनके अधिष्ठ रूपण का भी विधिक निषेध किया गया है।

वैधानिक अधिकारों के प्रवर्तन एवं हितों के संरक्षण के लिये राष्ट्रीय महिला आयोग का भी गठन किया गया है। आयोग का मुख्य कार्य महिला रक्षोपायों का अन्वेषण, विद्यमान उपबन्धों के क्रियान्वयन का

अवलोकन, अधिकारों के उल्लंघन की शिकायतों की जाँच, अधिनियमित विधि के अक्रियान्वयन की पड़ताल एवं महिलाओं के विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना आदि है।

2.7 सन्दर्भ सूची

- (1)विशेष विवाह अधिनियम, 1954
- (2)विदेशी विवाह अधिनियम, 1989
- (3)दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961
- (4)प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961
- (5)घरेलू हिंसा अधिनियम, 2005
- (6)राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990
- (7)गर्भाधान पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक (लिंग चयन रोकथाम) अधिनियम, 2002
- (8)बालक श्रम (प्रतिषेध एवं विनियमन अधिनियम, 1986)
- (9)किशोर न्याय (बालकों की देखरेख एवं संरक्षण अधिनियम, 2000
- 10.प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
- 11.तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
- 12.मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
- 13.राम आहुजा- सामाजिक समस्याय (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
- 14.राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
- 15.डा० अवतार सिंह-भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
- 16.डा०गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
- 17.प्रो०इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन

17. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)—डा० शैफाली यादव
18. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
19. डा०अभय सिंह—सूचना का अधिकार अधिनियम2005, (2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
20. डा०आर०के०अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
21. डा० इकबाल सिंह—मुस्लिम विधि (2001)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.8—सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

22. सी०पी० अरोरा—विविध अपराध अधिनियम (2010)— यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
23. डा० टी०पी० त्रीपाठी—सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)— इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
24. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—श्रमिक विधियां—(2005)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1)महिलाओं एवं बालकों की सामाजिक दशा में परिवर्तन क्या वैधानिक उपायों द्वारा संभव है?
- (2)महिला सशक्तीकरण के लिए अपनाए गए वैधानिक उपायों की चर्चा कीजिए।
- (3)बालकों के सशक्तीकरण संबंधी अधिनियमों की विवेचना कीजिए।
- (4)राष्ट्रीय महिला आयोग के गठन एवं कार्यों की व्याख्या कीजिए।

एल-एल.एम. प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-3. महिलार्ये/बालक एवं विधि
इकाई-3 शैक्षणिक अधिकार/अल्पसंख्यकता एवं विधि

इकाई की संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 'अल्पसंख्यक' – अभिव्यक्ति का अर्थ
- 3.4 संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रदत्त अधिकार
 - 3.4.1 उपासना की स्वतन्त्रता
 - 3.4.2 भाषायी एवं सांस्कृतिक अधिकार
 - 3.4.3 मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएं
 - 3.4.4 भाषायी अल्पसंख्यकों हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति
 - 3.4.5 राज्य द्वारा पोषित शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार
 - 3.4.6 अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार
 - 3.4.7 राज्य द्वारा सहायता में विभेद नहीं
- 3.5 शिक्षा संस्थाओं की स्थापना एवं प्रशासन करने का अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार
 - 3.5.1 अनुच्छेद 29(1) एवं 30(1)
 - 3.5.2 सम्बन्धन एवं मान्यता का अधिकार
- 3.6 राज्य द्वारा अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं का विनियमन
- 3.7 अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का मामला
- 3.8 पंथ निरपेक्षता एवं धार्मिक कट्टरता

3.8.1 पंथ निरपेक्षता

3.8.2 धार्मिक कट्टरता

3.9 सारांश

3.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

3.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.12 संदर्भ ग्रन्थ

3.13 सहायक/उपयोगी सामग्री

3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारत एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ सभी नागरिकों को अन्तःकरण और धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त है। भारत विविधताओं से भरा देश है। यहाँ विभिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक समुदाय निवास करते हैं जिनकी अपनी भाषा, लिपि एवं संस्कृति है, जिन्हें सुरक्षित बनाये रखना उनका अधिकार है जो संविधान द्वारा संरक्षित है। भाषायी, सांस्कृतिक और धार्मिक अल्पसंख्यक अपनी संस्कृति एवं धर्म को बनाये रखने एवं उससे सम्बन्धित शिक्षा संस्थानों की स्थापना एवं उसके प्रशासन हेतु नियम बनाने के लिए स्वतन्त्र हैं एवं यह स्वतन्त्रता उन्हें संविधान के अन्तर्गत मूल अधिकारों द्वारा प्रदान की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 29 एवं 30 भारत के समस्त नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धित अधिकार प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 30 के तहत प्राप्त अधिकार आत्यान्तिक नहीं है। वे अनुच्छेद 29 के प्रावधानों के अधीन है। अनुच्छेद 30 द्वारा प्राप्त अधिकार जहाँ नागरिकों एवं गैर नागरिकों दोनों को प्राप्त है वहीं अनुच्छेद 29 के द्वारा प्रदान किये गये अधिकार केवल नागरिकों को ही प्राप्त है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात आप समझ सकेंगे—

- संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

- शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना तथा प्रशासन का अल्पसंख्यकों का अधिकार
- राज्य द्वारा अल्पसंख्यक शिक्षा-संस्थाओं पर नियन्त्रण
- पंथ निरपेक्षता एवं धार्मिक कट्टरता

3.3 'अल्पसंख्यक' – अभिव्यक्ति का अर्थ

अल्पसंख्यकों के अधिकारों को समझने से पहले संविधान में प्रयुक्त शब्दावली 'अल्पसंख्यक (उपदवतपजपमे) का अर्थ समझना आवश्यक है। भारत में भाषायी, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अल्पसंख्यक हैं— वे जो भाषा के आधार पर संख्या में कम हैं, वे जो धर्म के आधार पर संख्या में कम हैं एवं वे जो अपनी विशिष्ट संस्कृति के आधार पर संख्या में कम हैं, इस श्रेणी में हम आदिवासी एवं कबीलों को रख सकते हैं। जिनकी मुख्य भूमि (राष्ट्र) से अलग संस्कृति है, जिसे वे हजारों वर्षों से संजोये हुए हैं। मुख्य रूप से 'अल्पसंख्यक' अभिव्यक्ति को भाषा एवं धर्म पर आधारित भावों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

टी0एम0ए0 फाउन्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक¹ के मामले में उच्चतम न्यायालय की 11 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने इस प्रश्न पर अपना निर्णय देते हुए कहा कि चूंकि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया गया। अतः पंथ और भाषा के आधार पर कौन अल्पसंख्यक हैं इसका निर्धारण अलग-अलग राज्यों में उनकी संख्या के आधार पर किया जाएगा। इसलिए अल्पसंख्यक वर्गों को राज्य के अनुसार विचारण में लिया जाना चाहिए। वे धार्मिक या भाषायी वर्ग या समूह जिनकी संख्या राज्य की कुल जनसंख्या के आधे से कम है वे उस राज्य में अल्पसंख्यक का दर्जा प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। इस निर्णय के फलस्वरूप कश्मीर में हिन्दू अल्पसंख्यक माने जाएंगे।

3.4 संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रदत्त अधिकार

3.4.1 उपासना की स्वतन्त्रता

भारत में प्रत्येक नागरिक को अपने अन्तःकरण से धर्म को मानने स्वतंत्रता है। एक पंथनिरपेक्ष राज्य होने के कारण राज्य का कोई धर्म नहीं है।

3.4.2 भाषायी एवं सांस्कृतिक अधिकार

प्रत्येक नागरिक को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाये रखने का अधिकार प्राप्त है² राज्य द्वारा बहुसंख्यकों या किसी स्थान की अन्य संस्कृति को सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों पर नहीं थोपा जाएगा। यही प्राविधान भाषायी अल्पसंख्यकों पर भी लागू होते हैं।

3.4.3 मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएं

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की गयी है कि वह राज्य को यह निर्देश दे कि वह भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बच्चों को प्राथमिक स्तर पर शिक्षा मातृभाषा में देने हेतु व्यवस्था करे।

3.4.4 भाषायी अल्पसंख्यकों हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति

संविधान द्वारा यह उपबंधित किया गया है कि राष्ट्रपति भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति करेगा, जो संविधान में उपबन्धित भाषायी अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित रक्षा के उपायों का विश्लेषण कर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन सौंपेगा³। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिये राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 अधिनियमित किया गया है।

3.4.5 राज्य द्वारा पोषित शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार

अनुच्छेद 29(2) यह उपबंधित करता है कि राज्य द्वारा पोषित या सहायता प्राप्त किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।

मुम्बई बनाम बाम्बे एजुकेशन सोसाइटी⁴ के वाद में उच्चतम न्यायालय ने निर्धारित किया कि राज्य द्वारा सहायता प्राप्त विद्यालय द्वारा एक विद्यार्थी को इस आधार पर प्रवेश से वंचित करना कि उस विद्यार्थी की मातृभाषा अंग्रेजी नहीं है। अनुच्छेद 29(2) के तहत प्राप्त अधिकार से वंचित करना है।

3.4.6 अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार

अनुच्छेद 29(1) के अधीन अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा, लिपि एवं संस्कृति बनाए रखने का अधिकार प्रदान किया गया है परन्तु यह अधिकार तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक इससे संबंधित शिक्षा संस्थाएं खोलने का अधिकार प्राप्त न हो। अनुच्छेद 30(1) अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं खोलने का अधिकार प्रदान करता है। ताकि वे आने वाली पीढ़ी को अपनी भाषा एवं संस्कृति से अवगत करा सके।

3.4.7 राज्य द्वारा सहायता में विभेद नहीं

भारत एक पंथनिरपेक्ष राज्य है, अतः राज्य शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में इस आधार पर विभेद नहीं कर सकता कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।⁵

3.5 शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार

(अनुच्छेद 30)

अनुच्छेद 30 के अनुसार,

(1) धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा,

(1क) खंड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक-वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित शिक्षा संस्था की सम्पत्ति का अनिवार्य अर्जन के लिए उपबंध करने वाली विधि बनाते समय, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी सम्पत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि द्वारा नियत या उसके अधीन अवधारित रकम इतनी हो कि उस खंड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार निर्बंधित या निराकृत न हो जाए।

(2) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबंध में है।

3.5.1 अनुच्छेद 29(1) और 30(1)

अनुच्छेद 29 एवं 30 दोनों शिक्षा संस्कृति संबंधी अधिकार प्रदान करते हैं। दोनों के मध्य निम्न संबंध व्याप्त हैं—

1. अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदत्त अधिकार केवल धर्म या भाषा पर आधारित अल्पसंख्यक वर्गों को प्राप्त है लेकिन अनुच्छेद 29(1) उन सभी नागरिकों को जिनकी कोई विशेष लिपि, भाषा, या संस्कृति है चाहे वे अल्पसंख्यक हों या बहुसंख्यक, उसे बनाए रखने का अधिकार प्रदान करता है।
2. अनुच्छेद 30(1) द्वारा प्रदान अधिकार केवल भाषायी या धार्मिक अल्पसंख्यकों को प्राप्त है वहीं अनुच्छेद 29(1) तीन विषयों, लिपि, भाषा या संस्कृति से संबंधित अधिकार प्रदान करता है।
3. अनुच्छेद 30(1) धर्म या भाषा पर आधारित अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी रुचि की शिक्षा संस्था की स्थापना एवं उसके प्रशासन का अधिकार प्रदान करता है, लेकिन यदि कोई ऐसी संस्था राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता प्राप्त करती है तो वह धर्म या भाषा आदि के आधार पर छात्रों को प्रवेश देने में विभेद नहीं कर सकती है।⁶

3.5.2 सम्बन्धन एवं मान्यता का अधिकार

सैन्ट जेवियर कालेज⁷ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि किसी भी अल्पसंख्यक संस्था को सम्बन्धन (फिसपंजपवद) का अधिकार मूल अधिकार नहीं है। जब कोई शिक्षा-संस्था सम्बन्धन या मान्यता के लिए आवेदन करती है तो यह विवक्षित रहता है कि वह शिक्षा संस्था ऐसे विनियमों का पालन करेगी जो सम्बन्धन या मान्यता देने वाले प्राधिकारी द्वारा बनाए जाते हैं, किन्तु मान्यता या सम्बन्धन की ऐसी शर्तों को विहित करना जिसके परिणाम स्वरूप अल्पसंख्यक वर्ग की अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार न्यून होता है। अनुच्छेद 30 का उल्लंघन होगा।

मैनेजिंग बोर्ड आफ मिली तालीमी मिशन बनाम बिहार राज्य⁸ के वाद में यह निर्धारित किया गया कि किसी अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था को विश्वविद्यालय द्वारा सम्बन्धन और मान्यता देने से मनमाने और अयुक्तियुक्त रूप से इन्कार करना अनुच्छेद 30 और 14 का उल्लंघन है। हालांकि सम्बन्धन का अधिकार एक मूल अधिकार नहीं है किन्तु बिना उचित और पर्याप्त आधार के सम्बन्धन या मान्यता देने से इन्कार करना अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण है।

ए0पी0 क्रिश्चियन मेडिकल कालेज एजूकेशन सोसाइटी बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य⁹ के वाद में सोसाइटी ने अल्पसंख्यक संस्था के रूप में मेडिकल कालेज की स्थापना की परन्तु संस्था के संगम ज्ञापन में ऐसी कोई

बात नहीं थी जिससे यह प्रकट होता हो कि उक्त संस्था अल्पसंख्यक है। संस्था ने असत्य कथन करके कि उसे सरकार से अनुमोदन मिल चुका है, कालेज में छात्रों को प्रवेश दे दिया परन्तु विश्वविद्यालय द्वारा परीक्षा लेने से इन्कार कर दिया गया। न्यायालय द्वारा यह निर्धारित किया गया कि उक्त संस्था की स्थापना का उद्देश्य व्यवसाय था अतः उसे अनुच्छेद 30(1) का संरक्षण प्रदान नहीं किया जा सकता।

3.6राज्य द्वारा अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं का विनियमन

अनुच्छेद 30 के तहत अल्पसंख्यक वर्गों को प्रदान किये गये अधिकार बहुसंख्यक वर्ग से केवल समानता सुनिश्चित करने के लिए हैं। राष्ट्रहित, राष्ट्रीय सुरक्षा, सामाजिक कल्याण, लोक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य, स्वच्छता, कराधान, आदि से संबंधित देश की साधारण विधियाँ अल्पसंख्यक संस्थाओं को भी समान रूप से लागू होंगी। शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने और प्रशासन करने का अधिकार आत्यान्तिक नहीं है, न ही इसमें कुप्रशासन सम्मिलित होता है। शैक्षित स्वरूप और मानकों को सुनिश्चित करने और शैक्षिक उत्कर्ष बनाए रखने के लिए नियन्त्रण के उपाय किए जा सकते हैं। इस कोटि में साधारणतया विद्यार्थियों और अध्यापकों से सम्बन्धित विनियम, कर्मचारियों (अध्यापन एवं अध्यापनेत्तर) की नियुक्ति के लिए पात्रता के मानदंड और अहर्ताएं तथा सेवा की शर्तें अधिकथित करने के लिए विनियम ओर पाठ्यविवरण तथा अध्ययन पाठ्यक्रम विहित करने के लिए विनियम आते हैं। ऐसे विनियम किसी भी प्रकार से अनुच्छेद 30(1) के अधीन अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करते।¹⁰

पी0ए0 इनामदार बनाम महाराष्ट्र राज्य¹¹ में न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी संस्था को अपना अल्पसंख्यक रूप बनाए रखने के लिए दो उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहना आवश्यक है, पहला अपने धर्म और भाषा को संरक्षित करने योग्य बनाना, और दूसरा संबंधित बच्चों को भली-भांति अच्छी शिक्षा देना।

अनुच्छेद 30 युक्तियुक्त विनियम बनाने से राज्य को नहीं रोकता है लेकिन विनियम अल्पसंख्यक शिक्षा-संस्था के हित में बनाये जाने चाहिए।

सिद्धराज भाई बनाम गुजरात राज्य¹² के वाद में न्यायालय ने निर्धारित किया कि ऐसे विनियम जो अनुदान प्राप्त करने या मान्यता की शर्तों के रूप में विधिपूर्वक लगाए जा सकते हैं उन्हें निम्न दो कसौटियों पर खरा उतरना चाहिए—

- (1) उन्हें युक्तियुक्त होना चाहिए एवं
- (2) संस्था के शैक्षिक स्वरूप को विनियमित करने वाला होना चाहिए जो अल्पसंख्यक—समुदाय अथवा उन व्यक्तियों के लिए, जो इसका आश्रय लेते हैं, संस्था को शिक्षा का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनाने में सहायक है।

अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं को श्रेष्ठता के उस स्तर से नीचे नहीं गिरने दिया जा सकता जो ऐसी संस्थाओं के लिए अपेक्षित है। विनियम यह भी उपबन्ध कर सकते हैं कि संस्था की निधि का शिक्षा के प्रयोजन अथवा संस्था की भलाई के लिए ही उपयोग किया जाना चाहिए न कि किसी अन्य बाहरी प्रयोजन हेतु। इन री केरल एजुकेशन बिल¹³ के वाद में राज्य सरकार द्वारा विधेयक के माध्यम से अल्पसंख्यक वर्गों की शिक्षण—संस्थाओं को सहायता प्राप्त करने के लिए कुछ शर्तों का निर्धारण किया गया था तथा अध्यापकों की नियुक्ति, पदच्युति तथा वेतन के बारे में भी नियम विहित किए थे। अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा इन नियमों को उनके प्रशासन में हस्तक्षेप बताया गया। परन्तु न्यायालय ने निर्धारित किया कि अनुच्छेद 30 राज्य को अल्पसंख्यक शिक्षा—संस्थाओं की श्रेष्ठता बनाए रखने से नहीं रोकता है, अतः सहायता या मान्यता प्रदान करने के लिए राज्य युक्तियुक्त शर्तें विहित कर सकता है। फ्रैंक एन्थोनी पब्लिक स्कूल इम्प्लोईज एसोसिएशन बनाम भारत संघ के मामले में स्कूल के कर्मचारियों ने देहली स्कूल एजुकेशन एक्ट की धारा 12 को इस आधार पर चुनौती दी कि वह अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है, दिल्ली एजुकेशन एक्ट की धाराएं 8—12 मान्यता प्राप्त और गैर सहायता प्राप्त प्राइवेट स्कूलों के कर्मचारियों की सेवा शर्तों को विनियमित करती हैं। किन्तु धारा 12 के अनुसार 'उक्त प्रावधान गैर सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक संस्थाओं पर लागू नहीं होंगे।' उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि गैर सहायता प्राप्त संस्थाएं जो दिल्ली प्रशासन से मान्यता प्राप्त हैं, उन्हें अपने शिक्षकों और कर्मचारियों को वही वेतन भत्ते और अन्य लाभ प्रदान करने चाहिए जो सरकारी स्कूलों के शिक्षकों और कर्मचारियों को मिलता है। न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 30(1) के अधिकारों की आड़ में ऐसी संस्थाओं को शिक्षकों और

कर्मचारियों का शोषण करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। क्रिश्चियन मेडिकल कालेज हास्पिटल एम्पलाइज यूनियन बनाम क्रिश्चियन मेडिकल कालेज, वेलूर एसोसिएशन¹⁴ के मामले में न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धाराएं 9, 11, 12 और 33 अल्पसंख्यक वर्गों की शिक्षा संस्थाओं पर भी समान रूप से लागू होती हैं क्योंकि ये विनियामक प्रकृति की हैं और इनसे अनु0 30(1) में प्रदत्त अधिकारों पर कोई आघात नहीं पड़ता है। सामाजिक कल्याण विधियाँ तथा ऐसे अन्य विनियामक उपाय अनुच्छेद 30(1) पर हालांकि कुछ हद तक तो प्रभाव डालते हैं किन्तु वे उसे कम नहीं करते। न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 30(1) के अधिकार की सुरक्षा तथा उनमें कार्यरत कर्मचारियों की सुरक्षा का सामाजिक उत्तरदायित्व, दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अधिनियम के अधीन श्रमिक न्यायालयों की शक्तियाँ सीमित एवं नियंत्रित नहीं हैं। उनके निर्णय के विरुद्ध उच्च एवं उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। सेंट स्टीफन कालेज¹⁵ के बाद में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया था कि अल्पसंख्यक संस्थाओं में 50 प्रतिशत अन्य समुदाय के छात्रों को प्रवेश देना होगा। टी0एम0ए0 फाउन्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक¹⁶ के महत्वपूर्ण वाद में मुख्य विचारणीय प्रश्न यह था कि अल्पसंख्यकों को संविधान के अनुच्छेद 30 में जो शिक्षा संस्थाओं के चलाने का अधिकार दिया गया है उसकी सीमाएं क्या हैं। शिक्षण संस्थाओं की स्थापना एवं संचालन के अधिकार विषय पर न्यायालय ने निर्णय दिया कि अनुच्छेद 19 (1)(ह) और 26 के अन्तर्गत सभी नागरिकों एवं अनुच्छेद 30 के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को शिक्षा संस्थाओं की स्थापना एवं प्रशासन का अधिकार है लेकिन यह अनुच्छेद 19(6) के अन्तर्गत निर्बन्धन के अधीन है। सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं के बारे में न्यायालय ने स्पष्ट किया कि ऐसे संस्थान को संविधान के अनुच्छेद 30(1) के अन्तर्गत अल्पसंख्यक वर्ग के छात्रों को प्रवेश देने का अधिकार अनुच्छेद 29(2) की भावनाओं के अनुसार होगा अर्थात् उन्हें गैर अल्पसंख्यक समुदाय के कुछ छात्रों को भी प्रवेश देना होगा एवं ऐसी व्यवसायिक एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश के लिये योग्यता के मानकों में कमी नहीं की जा सकेगी। ऐसे व्यवसायिक संस्थानों में छात्रों का प्रवेश राज्य द्वारा आयोजित प्रवेश परीक्षा के आधार पर किया जायेगा। एक अन्य प्रश्न के उत्तर में न्यायालय ने स्पष्ट किया कि अल्पसंख्यक संस्था की अपनी प्रवेश प्रक्रिया हो सकती है किन्तु वह प्रक्रिया उचित एवं पारदर्शी होनी चाहिए एवं व्यवसायिक और उच्चतर शिक्षा के कालेजों में छात्रों का प्रवेश योग्यता के आधार पर ही होना

चाहिए। गैर सरकारी सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक संस्थानों को भी छात्रों को प्रवेश देते समय योग्यता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए अन्यथा संस्था उच्च स्तर प्राप्त करने में विफल हो जाएगी। इस्लामिक एकेडमी ऑफ एजुकेशन बनाम कर्नाटक राज्य के वाद में न्यायालय के 5 न्यायाधीशों की पीठ ने टी0एम0पाई के निर्णय के कुछ बिन्दुओं को याचिकाकर्ताओं की मांग पर पुनः स्पष्ट किया एवं कुछ अपने विचार व्यक्त किए। जिनको न्यायालय में चुनौती दी गयी, उच्चतम न्यायालय ने प्रस्तुत मामले में स्पष्ट किया—

1. उच्चतम न्यायालय ने निजी व्यवसायिक शिक्षण संस्थाओं में आरक्षण के विषय पर स्पष्ट किया कि इस्लामिक एकेडमी के मामले में राज्य द्वारा ऐसी संस्थाओं में स्थानीय आवश्यकता के अनुसार सीटों में संख्या निर्धारित करने का निर्णय टी0एम0पाई0 के मामले में दिए गये निर्णय के विपरीत है अतः उसे अवैध घोषित कर दिया।

2. प्रवेश प्रक्रिया के मामले में दो केन्द्रीयकृत समितियों के निर्णय को ठीक बताया। ये समितियाँ तब तक कार्य करेंगे जब तक इसके लिए विधान मण्डल समुचित विधि नहीं बना देता। उच्चतम न्यायालय के अनुसार इससे योग्यतम छात्रों को प्रवेश दिया जा सकेगा।

3. शुल्क ढाँचे के मामले में न्यायालय ने निर्धारित किया कि अल्पसंख्यक संस्थाएं अपना शुल्क नियत कर सकती हैं, लेकिन इसका विनियमन किया जा सकता है ताकि संस्थाएं लाभ कमाने का कार्य न करें और कैपीटेशन शुल्क न ले सकें।

तात्पर्य यह है कि अनुच्छेद 30 के उपबंध धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों को अतिरिक्त संरक्षण प्रदान करते हैं किन्तु वे आत्यान्तिक अधिकार नहीं है। कुप्रबन्ध एवं शिक्षा का स्तर बनाए रखने आदि हेतु वे विनियमन के अधीन हैं।

3.7 अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का मामला

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना, अलीगढ़ विश्वविद्यालय अधिनियम, 1920 द्वारा की गयी थी। सन् 1981 में संशोधन द्वारा अधिनियम की धारा (2स्) से 'स्थापित' शब्द निकाल दिया। इस संशोधन का उद्देश्य विश्वविद्यालय को अल्पसंख्यक संस्था का रूप प्रदान करना था। एक नियम के जरिये विश्वविद्यालय ने स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में 50: सीटों को मुस्लिम छात्रों के लिए आरक्षित कर दिया।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अजीज वासा बनाम भारत संघ वाद का अनुसरण करते हुए उक्त संशोधन को अवैध घोषित कर दिया, चूंकि अलीगढ़ विश्वविद्यालय की स्थापन केन्द्रीय अधिनियम द्वारा की गयी थी किसी संस्था द्वारा नहीं। अतः अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को अल्पसंख्यक संस्था नहीं माना जा सकता। न्यायालय ने मुस्लिम छात्रों के प्रवेश को भी अवैध घोषित कर दिया।¹⁷

3.8पंथ निरपेक्षता एवं धार्मिक कट्टरता

3.8.1पंथ निरपेक्षता (Secularism)

भारत के संविधान में किसी भी मत को राजकीय धर्म मानने का उपबंध नहीं है। उद्देशिका में विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता का वचन दिया गया है। अनुच्छेद 25 से 28 धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार सुनिश्चित करते हैं। उद्देशिका में संविधान (42वाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा “पंथ निरपेक्ष” शब्द अन्तःस्थापित किया गया। बोम्मई बनाम भारत संघ¹⁸ के वाद में न्यायालय ने कहा कि पंथ निरपेक्षता संविधान के आधारभूत लक्षणों में से एक है। न्यायमूर्ति रामास्वामी ने कहा कि पंथनिरपेक्षता ईश्वर विरोधी नहीं है। भारतीय परिप्रक्षेय में इसका सकारात्मक रूप है। राज्य न तो किसी धर्म का पक्ष लेता है और न ही किसी धर्म का विरोध करता है, वह धर्म के मामले में सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार कहता है। राज्य धर्म के मामले में निरपेक्ष व्यवहार करता है। संतोष कुमार बनाम सचिव, मानव संसाधन विकास मंत्रालय¹⁹ के वाद में उच्चतम न्यायालय ने निर्धारित किया कि शैक्षिक पाठ्यक्रम में संस्कृत को चयनात्मक विषय के रूप में अधिमान देने और अरबी, फारसी आदि को वह स्थान न देने से पंथनिरपेक्षता के सिद्धान्तों को आघात नहीं पहुँचता है। संस्कृत सभी आर्य भाषाओं की जननी है। संस्कृत के बिना भारतीय दर्शन की, जिसमें सारी संस्कृति और विरासत छिपी है, पहचान संभव नहीं है। न्यायालय ने कहा, पंथनिरपेक्षता धर्मपरायणता के विरोध में नहीं है। पंथनिरपेक्षता न तो ईश्वर विरोधी है और न ही ईश्वर समर्थक। संविधान में धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। पश्चिमी देशों में धर्मनिरपेक्षता के लक्षणों में आधुनिकता, ज्ञान-विज्ञान एवं सामाजिक क्रान्तिकारिता अनिवार्य है, जबकि

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता धार्मिक भेदभाव व धार्मिक साम्प्रदायिक टकराव के निषेध तक सीमित है। संविधान के अनुसार हालांकि भारत को कोई राष्ट्रधर्म नहीं होगा लेकिन वह अपने नागरिकों को यह महत्वपूर्ण अधिकार व स्वतन्त्रता प्रदान करता है कि वे किसी भी धर्म में आस्था रख सकते हैं, अपने धार्मिक रीति रिवाजों के अनुसार पूजा-पाठ कर सकते हैं तथा अपने धर्म का प्रचार-प्रसार कर सकते हैं, अतः पक्षपात रहित धार्मिक सम्मान का व्यवहार ही भारत के संदर्भ में निरपेक्षता अर्थात् पंथनिरपेक्षता का वास्तविक चरित्र है।

भारत का संविधान धार्मिक आस्था रखने की स्वतन्त्रता देता है न कि बाध्यता की। अतः संविधान भारतीय नागरिक को नास्तिक होने की स्वतन्त्रता का अधिकार देता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय संविधान धर्म की निंदा का भी अधिकार प्रदान करता है। संविधान ने धर्मनिरपेक्षता के सकारात्मक रूप को अपनाया है। नकारात्मक रूप को नहीं। इस प्रकार भारतीय पंथनिरपेक्षता अपने संवैधानिक रूप में सकारात्मक रूप में सर्वधर्म समभाव का ही दूसरा नाम है। वह सहिष्णुता, शांति, अहिंसा, सामंजस्य, समन्वय, निरन्तरता एवं विकास का सम्मिलित रूप है।

3.8.2 धार्मिक कट्टरवाद

धार्मिक कट्टरता एक गंभीर समस्या है जिससे आज पूरी दुनिया चिंतित है। यही वह समस्या है जिसने पाकिस्तान को जन्म दिया। इसे धार्मिक अतिवाद भी कहा जाता है। इससे सम्बन्धित लोग आंख बंद करके यह विश्वास करते हैं कि पूरा सच केवल उनके स्वयं के धर्मशास्त्रों में दिया गया है। वे अन्य धर्म मतावलम्बियों एवं धर्म शास्त्रों को नजर से देखते हैं। उनका एक मात्र लक्ष्य होता है पूरे विश्व में अपने धर्म का प्रसार करना एवं इसी अंधे धार्मिक उत्साह को धर्मयुद्ध या पवित्र युद्ध या जिहाद का नाम देकर मानवता से साथ क्रूरता पर उतर आते हैं।

धार्मिक उन्माद के कारण ही बांग्लादेशी लेखिका तस्लीमा नसरीन को अपना देश छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। भारत में भी धर्मनिरपेक्षता पर धार्मिक कट्टरता समय-समय पर हावी होती नजर आती है, जब लेखिका तस्लीमा नसरीन को अपना दूसरा घर कलकत्ता (भारत) छोड़कर किसी और देश में शरण लेनी पड़ती है। इसी धार्मिक कट्टरपंथियों के हावी होने के कारण मशहूर लेखक सलमान रश्दी को जयपुर में

एक कार्यक्रम में भाग नहीं लेने दिया गया क्योंकि वो अपनी विवादित पुस्तक सेनेटिक वर्सेज के कारण विशेष धर्म के मतावलम्बियों द्वारा फतवे के शिकार हुए थे। शाहबानों वाद²⁰ में भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की सरकार एक विशेष धर्म के लोगों के आगे झुक गयी एवं उसने उच्चतम न्यायालय के निर्णय को बदलने के लिये मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 पारित किया एवं मुस्लिम स्त्रियों को उनके सामान्य अधिकार से वंचित कर दिया। आधुनिक सभ्य देश के लिए यह अधिनियम लज्जाजनक है। इस अधिनियम से संविधान की उद्देशिका में प्रकल्पित राष्ट्र की एकता को आघात पहुँचता है। इसके परिणामस्वरूप प्रगतिशील मुस्लिम राष्ट्रों की दृष्टि में भी भारत एक पिछड़ा और दरियाकनूसी राष्ट्र हो गया।²¹ उक्त वाद में एक तलाकशुदा मुस्लिम स्त्री ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अधीन भरण-पोषण का आवेदन किया जो स्वीकार करके न्यायालय ने डिक्री कर दी। पति ने उच्चतम न्यायालय में इस आधार पर अपील की कि धारा 125 मुसलमानों पर लागू नहीं होती है क्योंकि यह मुस्लिम वैयक्तिक विधि के विरुद्ध है। उच्चतम न्यायालय ने इस निर्वचन को स्वीकार नहीं किया। न्यायालय ने कहा कि यह सभी "व्यक्तियों" पर लागू होता है, चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों, अपील खारिज कर दी गयी। निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 44 में राज्य को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह समान सिविल संहिता बनाए चाहे इसमें मुसलमान पहल करें या नहीं किंतु इस दिशा में सरकार द्वारा कदम नहीं उठाए गये। मुंबई विश्वविद्यालय के एक विद्वान आचार्य सिद्दीकी ने कहा कि यदि राज्य पहल करेगा तो अंततोगत्वा मुस्लिम समाज उसे स्वीकार कर लेगा क्योंकि यह आधुनिक सभ्य समाज के आदर्शों के अनुरूप हैं।

उच्चतम न्यायालय के स्पष्ट निर्देशों की अवहेलना करके और मुस्लिम समाज के एक बहुत बड़े अनुभाग की, जिसमें विद्वान लोग भी थे, उपेक्षा करके तत्कालीन सरकार ने मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 अधिनियमित करके यह उपबंध किया कि इस अधिनियम के उपबंध विवाह विच्छिन्न मुस्लिम स्त्री के भरण

पोषण के अधिकार को लागू होंगे, यदि ऐसी स्त्री और उसका पूर्व पति यह चाहते हैं कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 लागू हो तभी वह धारा लागू होगी।

इस तरह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में धार्मिक कट्टरता जीत गयी। धार्मिक कट्टरता ने अपनी ही आधी आबादी (मुस्लिम महिलाओं) के साथ धर्म के नाम पर अन्याय किया एवं उनके हकों को छीना।

एक ही देश में धर्म के नाम पर लोगों पर अलग-अलग विधियों को लागू करना सभ्य और प्रगतिशील समाज के लिये कलंक के समान है, चूंकि मुस्लिम लॉ में एक से अधिक विवाह वैध है अतः अगर किसी हिन्दू पति को दूसरा विवाह करना होता है तो वह इस्लाम धर्म अपना कर ऐसा आसानी से कर लेता है। ऐसे कई मामले सामने आने पर उच्चतम न्यायालय ने अपने फैसले में²² प्रधानमंत्री को निर्देश दिया कि वे संविधान के अनुच्छेद 44 पर अमल कर सभी नागरिकों के लिए एक 'समान सिविल संहिता' बनाए। न्यायालय ने कहा कि ऐसा करना पीड़ित व्यक्ति की रक्षा तथा राष्ट्रीय एकता व अखण्डता की अभिवृद्धि दोनों ही दृष्टि से आवश्यक है।

न्यायालय ने कहा कि सभ्य समाज में 'धर्म और वैयक्तिक विधि' में कोई संबंध नहीं होता है। अतः समान सिविल संहिता बनाने से किसी समुदाय के सदस्यों के अनुच्छेद 25, 26 तथा 27 के अधीन मूल अधिकारों पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा। विवाह, उत्तराधिकार और इस प्रकार की सामाजिक प्रकृति की बातें धार्मिक स्वतन्त्रता से बाहर हैं और उन्हें विधि बनाकर विनियमित किया जा सकता है। हिन्दुओं ने देश की एकता व अखण्डता के लिए धार्मिक भावनाओं का त्याग किया और उनका संहिताकरण (हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955) किया। बहुत से हिन्दू उक्त अधिनियम के उपबन्धों जिसमें पति-पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह वर्जित है, से बचने के लिए इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेते हैं और दूसरा विवाह कर लेते हैं। लेकिन कोई धर्म जानबूझकर विकृति की अनुमति नहीं देता है। अनेक इस्लामिक देशों में भी वैयक्तिक विधि का संहिताकरण किया जा चुका है। एक समान सिविल संहिता विचारों के आधार पर मत भिन्नता एवं कट्टरता को समाप्त कर राष्ट्रीय एकता को सशक्त करने में सहायक होगी इससे भारत की पंथनिरपेक्षता और भी सुदृढ़ होगी।

निर्देश

1. ए0आई0आर0 2003 एस0सी0 355,

2. अनुच्छेद 29(1)

3. अनुच्छेद 350(ख)
4. (1955) 1 एस0सी0आर0 568
5. अनुच्छेद 30(2)
6. अनुच्छेद 29(2)
 7. अहमदाबाद सेन्ट जेवियर कालेज बनाम गुजरात राज्य, ए0आई0आर0 1974 एस0सी0 1389
 8. (1984)4 एस0सी0 500
 9. (1986) 2 एस0सी0सी0
 10. दुर्गा दास बसु, भारत का संविधान एक परिचय, पृष्ठ 125
 11. ए0आई0आर 2005 एस0सी0 3226
 12. ए0आई0आर0 1963 एस0सी0 540
 13. ए0आई0आर0 1958 एस0सी0 956
 14. ए0आई0आर0 1988 एस0सी0 37; (1988) 3 उम0नि0प0 46
 15. ए0आई0आर0 1992 एस0सी0 1630
 16. ए0आई0आर0 2003 एस0सी0 355
 17. डा0 नरेश अगरवाल बनाम भारत
 18. 1994 एस0सी0 1918
 19. (1994) 4 उम0नि0प0 239
 20. अहमद बनाम शाहबानो, ए0आई0आर0 1985 एस0सी0 945
 21. दुर्गाप्रसाद वसु, भारत का संविधान—एक परिचय, पृष्ठ 429
 22. सरला मुदगल बनाम भारत संघ (1995) 3 एस0सी0सी0 635

अभ्यास प्रश्न:—

1. भारत का संविधान शिक्षा एवं संस्कृति सम्बन्धी अधिकार प्रदान करता है,

क. अनुच्छेद 29 के तहत

ख. अनुच्छेद 30 के तहत

ग. अनुच्छेद 29 एवं 30 के तहत

घ. उपरोक्त में से कोई नहीं।

2. समान सिविल संहिता का उपबंध किया गया है,

क. अनुच्छेद 41 के अधीन

ख. अनुच्छेद 42 के अधीन

ग. अनुच्छेद 43 के अधीन

घ. अनुच्छेद 44 के अधीन

3. संविधान के अनुसार भारत में अल्पसंख्यक हैं,

क. भाषायी अल्पसंख्यक

ख. सांस्कृतिक अल्पसंख्यक

ग. धार्मिक अल्पसंख्यक

घ. उपरोक्त सभी

4. भारत के संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों को अपनी रूचि की शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना एवं प्रशासन का अधिकार दिया गया है,

क. अनुच्छेद 25 के अधीन

ख. अनुच्छेद 27 के अधीन

ग. अनुच्छेद 28 के अधीन

घ. अनुच्छेद 30 के अधीन

सत्य/असत्य कथन:-

5. राज्य को अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के विनियमन का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। सत्य/असत्य

6. अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में दूसरे वर्ग या समूह के छात्र प्रवेश नहीं ले सकते।

सत्य/असत्य

7. किसी अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था को सम्बन्धन एवं मान्यता का भी मूल अधिकार प्राप्त है। सत्य/असत्य

8. अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अल्पसंख्यक संस्थान नहीं है। सत्य/असत्य

9. अनुच्छेद 30 बहुसंख्यक वर्गों को भी अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाएं स्थापित एवं प्रशासित करने का अधिकार प्रदान करता है। सत्य/असत्य

10. राज्य द्वारा पोषित अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं में सभी वर्गों के छात्र प्रवेश ले सकते हैं। सत्य/असत्य

3.9 सारांश

भारत एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ सभी नागरिकों को अन्तःकरण और धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त है। भाषायी, सांस्कृतिक और धार्मिक अल्पसंख्यक अपनी संस्कृति एवं धर्म को बनाये रखने एवं उससे सम्बन्धित शिक्षा संस्थानों की स्थापना एवं उसके प्रशासन हेतु नियम बनाने के लिए स्वतन्त्र हैं एवं यह स्वतन्त्रता उन्हें संविधान के अन्तर्गत मूल अधिकारों द्वारा प्रदान की गयी है। मुख्य रूप से 'अल्पसंख्यक' अभिव्यक्ति को भाषा एवं धर्म पर आधारित भावों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। टी0एम0ए0 फाउन्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक के मामले में उच्चतम न्यायालय की 11 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने अल्पसंख्यकों के निर्धारण के प्रश्न पर अपना निर्णय देते हुए कहा कि चूंकि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया गया। अतः पंथ और भाषा के आधार पर कौन अल्पसंख्यक हैं इसका निर्धारण अलग-अलग राज्यों में उनकी संख्या के आधार पर किया जाएगा। संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों को अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं, यथा— उपासना की स्वतन्त्रता, भाषायी एवं सांस्कृतिक अधिकार, मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएं, भाषायी अल्पसंख्यकों हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति, राज्य द्वारा पोषित शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार, अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार आदि। अनुच्छेद 29 एवं 30 दोनों शिक्षा एवं संस्कृति संबंधी अधिकार प्रदान करते हैं।

जब कोई शिक्षा-संस्था सम्बन्धन या मान्यता के लिए आवेदन करती है तो यह विवक्षित रहता है कि वह शिक्षा संस्था ऐसे विनियमों का पालन करेगी जो सम्बन्धन या मान्यता देने वाले प्राधिकारी द्वारा बनाए जाते

हैं, किन्तु मान्यता या सम्बन्धन की ऐसी शर्तों को विहित करना जिसके परिणाम स्वरूप अल्पसंख्यक वर्ग की अपनी रूचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार न्यून होता है। अनुच्छेद 30 का उल्लंघन होगा। मैनेजिंग बोर्ड आफ मिली तालीमी मिशन बनाम बिहार राज्य के वाद में यह निर्धारित किया गया कि हालांकि सम्बन्धन का अधिकार एक मूल अधिकार नहीं है किन्तु बिना उचित और पर्याप्त आधार के सम्बन्धन या मान्यता देने से इन्कार करना अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण है।

अनुच्छेद 30 के तहत अल्पसंख्यक वर्गों को प्रदान किये गये अधिकार बहुसंख्यक वर्ग से केवल समानता सुनिश्चित करने के लिए हैं। राष्ट्रहित, राष्ट्रीय सुरक्षा, सामाजिक कल्याण, लोक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य, स्वच्छता, कराधान, आदि से संबंधित देश की साधारण विधियाँ अल्पसंख्यक संस्थाओं को भी समान रूप से लागू होंगी। शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने और प्रशासन करने का अधिकार आत्यान्तिक नहीं है, न ही इसमें कुप्रशासन सम्मिलित होता है। शैक्षित स्वरूप और मानकों को सुनिश्चित करने और शैक्षिक उत्कर्ष बनाए रखने के लिए नियन्त्रण के उपाय किए जा सकते हैं। इस कोटि में साधारणतया विधार्थियों और अध्यापकों से सम्बन्धित विनियम, कर्मचारियों (अध्यापन एवं अध्यापनेत्तर) की नियुक्ति के लिए पात्रता के मानदंड और अहर्ताएं तथा सेवा की शर्तें अधिकथित करने के लिए विनियम और पाठ्यविवरण तथा अध्ययन पाठ्यक्रम विहित करने के लिए विनियम आते हैं। ऐसे विनियम किसी भी प्रकार से अनुच्छेद 30(1) के अधीन अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करते। अनुच्छेद 30 युक्तियुक्त विनियम बनाने से राज्य को नहीं रोकता है लेकिन विनियम अल्पसंख्यक शिक्षा-संस्था के हित में बनाये जाने चाहिए।

क्रिश्चियन मेडिकल कालेज हास्पिटल एम्पलाइज यूनियन बनाम क्रिश्चियन मेडिकल कालेज, वेलूर एसोसिएशन के मामले में न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धाराएं 9।ए 11।ए 12 और 33 अल्पसंख्यक वर्गों की शिक्षा संस्थाओं पर भी समान रूप से लागू होती हैं क्योंकि ये विनियात्मक प्रकृति की है और इनसे अनु0 30(1) में प्रदत्त अधिकारों पर कोई आघात नहीं पड़ता है। टी0एम0ए0 फाउन्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक के महत्वपूर्ण वाद में न्यायालय ने सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं के बारे में स्पष्ट किया कि ऐसे संस्थान को संविधान के अनुच्छेद 30(1) के अन्तर्गत अल्पसंख्यक वर्ग के छात्रों को प्रवेश देने का अधिकार अनुच्छेद 29(2) की भावनाओं के अनुसार होगा अर्थात् उन्हें गैर अल्पसंख्यक समुदाय के कुछ छात्रों को भी प्रवेश देना होगा एवं ऐसी व्यवसायिक

एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश के लिये योग्यता के मानकों में कमी नहीं की जा सकेगी। ऐसे व्यवसायिक संस्थानों में छात्रों का प्रवेश राज्य द्वारा आयोजित प्रवेश परीक्षा के आधार पर किया जायेगा। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि अल्पसंख्यक संस्था की अपनी प्रवेश प्रक्रिया हो सकती है किन्तु वह प्रक्रिया उचित एवं पारदर्शी होनी चाहिए एवं व्यवसायिक और उच्चतर शिक्षा के कालेजों में छात्रों का प्रवेश योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए। गैर सरकारी सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक संस्थानों को भी छात्रों को प्रवेश देते समय योग्यता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए अन्यथा संस्था उच्च स्तर प्राप्त करने में विफल हो जाएगी। अनुच्छेद 30 के उपबंध धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों को अतिरिक्त संरक्षण प्रदान करते हैं किन्तु वे आत्यान्तिक अधिकार नहीं है। कुप्रबन्ध एवं शिक्षा का स्तर बनाए रखने आदि हेतु वे विनियमन के अधीन हैं। भारत के संविधान में किसी भी मत को राजकीय धर्म मानने का उपबंध नहीं है। उद्देशिका में विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता का वचन दिया गया है। अनुच्छेद 25 से 28 धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार सुनिश्चित करते हैं। उद्देशिका में संविधान (42वाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा “पंथ निरपेक्ष” शब्द अन्तःस्थापित किया गया। बोम्मई बनाम भारत संघ के वाद में न्यायालय ने कहा कि पंथ निरपेक्षता संविधान के आधारभूत लक्षणों में से एक है। न्यायमूर्ति रामास्वामी ने कहा कि पंथनिरपेक्षता ईश्वर विरोधी नहीं है। भारतीय परिप्रक्षेय में इसका सकारात्मक रूप है। राज्य न तो किसी धर्म का पक्ष लेता है और न ही किसी धर्म का विरोध करता है, वह धर्म के मामले में सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार कहता है। राज्य धर्म के मामले में निरपेक्ष व्यवहार करता है। संविधान में धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। पश्चिमी देशों में धर्मनिरपेक्षता के लक्षणों में आधुनिकता, ज्ञान—विज्ञान एवं सामाजिक क्रान्तिकारिता अनिवार्य है, जबकि भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता धार्मिक भेदभाव व धार्मिक साम्प्रदायिक टकराव के निषेध तक सीमित है। भारत का संविधान धार्मिक आस्था रखने की स्वतन्त्रता देता है न कि बाध्यता की। अतः संविधान भारतीय नागरिक को नास्तिक होने की स्वतन्त्रता का अधिकार देता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय संविधान धर्म की निंदा का भी अधिकार प्रदान करता है। संविधान ने धर्मनिरपेक्षता के सकारात्मक रूप को अपनाया है। नकारात्मक रूप को नहीं। इस प्रकार भारतीय पंथनिरपेक्षता अपने संवैधानिक रूप में सकारात्मक रूप में सर्वधर्म समभाव का ही दूसरा नाम है। वह सहिष्णुता, शांति, अहिंसा, सामंजस्य, समन्वय, निरन्तरता एवं विकास का सम्मिलित रूप है। धार्मिक

कट्टरता एक गंभीर समस्या है जिससे आज पूरी दुनिया चिंतित है। यही वह समस्या है जिसने पाकिस्तान को जन्म दिया। इसे धार्मिक अतिवाद भी कहा जाता है। इससे सम्बन्धित लोग आंख बंद करके यह विश्वास करते हैं कि पूरा सच केवल उनके स्वयं के धर्मशास्त्रों में दिया गया है। वे अन्य धर्म मतावलम्बियों एवं धर्म शास्त्रों को नफरत की नजर से देखते हैं। उनका एक मात्र लक्ष्य होता है पूरे विश्व में अपने धर्म का प्रसार करना एवं इसी अंधे धार्मिक उत्साह को धर्मयुद्ध या पवित्र युद्ध या जिहाद का नाम देकर मानवता से साथ क्रूरता पर उतर आते हैं।

भारत में भी धर्मनिरपेक्षता पर धार्मिक कट्टरता समय-समय पर हावी होती नजर आती है। शाहबानों वाद में भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की सरकार एक विशेष धर्म के लोगों के आगे झुक गयी एवं उसने उच्चतम न्यायालय के निर्णय को बदलने के लिये मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 पारित किया एवं मुस्लिम स्त्रियों को उनके सामान्य अधिकार से वंचित कर दिया। आधुनिक सभ्य देश के लिए यह अधिनियम लज्जाजनक है। इस अधिनियम से संविधान की उद्देशिका में प्रकल्पित राष्ट्र की एकता को आघात पहुँचता है। इसके परिणामस्वरूप प्रगतिशील मुस्लिम राष्ट्रों की दृष्टि में भी भारत एक पिछड़ा और दरियाकनूसी राष्ट्र हो गया।

एक ही देश में धर्म के नाम पर लोगों पर अलग-अलग विधियों को लागू करना सभ्य और प्रगतिशील समाज के लिये कलंक के समान है। कोई धर्म जानबूझकर विकृति की अनुमति नहीं देता है। अनेक इस्लामिक देशों में भी वैयक्तिक विधि का संहिताकरण किया जा चुका है। एक समान सिविल संहिता विचारों के आधार पर मत भिन्नता एवं कट्टरता को समाप्त कर राष्ट्रीय एकता को सशक्त करने में सहायक होगी इससे भारत की पंथनिरपेक्षता और भी सुदृढ़ होगी।

3.10 महत्वपूर्ण शब्दावली

अल्पसंख्यकः— एक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों का समूह जो उसी क्षेत्र में निवास करने वाले अन्य अन्य वर्ग के लोगों के समूह, जिसकी भाषा, धर्म या संस्कृति पृथक है, से संख्या में कम हो।

पोषितः—सहायता प्राप्त।

समान सिविल संहिता:- किसी राज्य में निवास करने वाले सभी, वर्गों, धर्मों के लोगों जिनकी भिन्न संस्कृतियां एवं उदगम हों, के लिये समान नागरिक विधि जो उन पर बिना किसी विभेद के लागू हों,

3.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ग) 2. (घ) 3. (घ) 4. (घ) 5. असत्य 6. असत्य
7. असत्य 8. सत्य 9. असत्य 10 सत्य

3.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. hi.wikipedia.org/wiki//keZfujis{krk

2. पाण्डे, डा० जय नारायण, भारत का संविधान, 44वें संस्करण, सेन्ट्रल ला एजेन्सी
3. भारत का संविधान, द्विभाषी संस्करण, कानून प्रकाशन, संस्करण 2008
4. वसु आचार्य डा. दुर्गा दास, भारत का संविधान – एक परिचय, नौवा संस्करण पुनर्मुद्रण 2009, लक्सिस नेक्सिस बटरवर्थ वाधवा मागपुर।

3.13 सहायक/उपयोगी सामग्री

1. डा० जे० जे० आर उपाध्याय, भारत का संविधान
2. दुर्गा दास वसु, शार्टर कन्स्टीयूशन ऑफ इंडिया।

3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों को कौन से अधिकार प्रदान किये गये हैं?
2. अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं को राज्य किस हद तक विनियमित कर सकता है?
3. क्या भारत सही मायनों में पंथ निरपेक्ष है? क्या धार्मिक कट्टरता राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिये खतरा है? अपने विचार स्पष्ट कीजिए।

एलएलओएमओ प्रथम वर्ष

भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-3.महिलार्ये/बालक एवं विधि

इकाई-4.बाल-दुर्व्यवहार और बाल-श्रम

इकाई संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 बाल दुर्व्यवहार की अवधारणा और प्रकार
 - 4.2.1 बाल दुर्व्यवहार का प्रभाव क्षेत्र
- 4.3 बाल दुर्व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्याएँ
 - 4.3.1 मनोविकृति संबंध व्याख्या
 - 4.3.2 सामाजिक सांस्कृतिक व्याख्या
 - 4.3.3 संसाधन व्याख्या
 - 4.3.4 सामाजिक पारम्परिक क्रिया व्याख्या
- 4.4 दुर्व्यवहार के शिकार
- 4.5 बाल दुर्व्यवहार के कारण
- 4.6 बाल दुर्व्यवहार के कारणों का सामाकलित मॉडल
- 4.7 बाल श्रम की समस्या
 - 4.7.1 बाल कार्य की प्रकृति
 - 4.7.2 बाल श्रम के कारण
 - 4.7.3 बाल श्रमिकों की काम कने की स्थितियाँ
 - 4.7.4 सरकारी उपाय, विधि तथा सुधार की राष्ट्रीय नीति
- 4.8 सारांश
- 4.9 सन्दर्भ सूची

4.9.1 सहायक सन्दर्भ सूची

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना (Introduction)

पिछले छः दशकों के निरन्तर योजना, कल्याणकारी कार्यक्रमों, विधि-निर्माण और प्रशासनिक कार्य के उपरान्त भी भारत में अधिकांश बच्चे शोषण, दमन एवं अत्याचार के शिकार हो रहे हैं। अधिकांश परिवारों में माता-पिता उनकी उपेक्षा करते हैं, देखभाल करने वाले उन्हें मारते पीटते हैं, और मालिक उनके साथ लैंगिक दुर्व्यवहार करते हैं। अनेक औद्योगिक प्रतिष्ठानों में अधिकांशतः बाल श्रमिकों से काम लिया जाता है। तमिलनाडु में दियासलाई के कारखानों में, जम्मू कश्मीर एवं उत्तर प्रदेश में कालीन उद्योग में तथा मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ़ में बीड़ी निर्माण कारखानों में बच्चों से काम लिया जाता है। मध्य प्रदेश में स्लेट पत्थर की खदानों में, गुजरात में हीरे की सफाई तथा पश्चिम बंगाल में चाय के बागानों में असंख्य बाल श्रमिक कार्य करते हैं। बालिकाओं का लैंगिक वासना हेतु दुरुपयोग, बच्चों से बेगार करवाना या भीख माँगने में उनका उपयोग, ऐसे दृष्टकृत्य हैं जो सभ्य समाज पर एक कलंक हैं। जेलों व सुधारालयों में भी बाल अपराधियों की स्थिति दयनीय है। उल्लेखनीय है कि बाल कल्याण की दिशा में राज्य एवं विधि द्वारा वांछित प्रगति नहीं हो सकी है।

4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-III की इकाई-2 का उद्देश्य आपको भारत में व्याप्त बाल दुर्व्यवहार एवं बालश्रम की समस्या से परिचित कराना है। संक्षेप में प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है कि आप निम्नलिखित बिन्दुओं को आत्मसात कर सकें।

- बाल दुर्व्यवहार की अवधारणा, प्रकार एवं सिद्धान्त।
- बाल दुर्व्यवहार के शिकार एवं कारण।
- बाल श्रम की प्रकृति एवं विस्तार
- बाल श्रम की समस्या एवं कारण
- बाल श्रमिकों की शोचनीय दशा
- सरकारी उपाय, विधि तथा सुधार की राष्ट्रीय नीति

4.2 बाल दुर्व्यवहार की अवधारणा और प्रकार (Concept and Types of Child Abuse)

कुछ अध्ययनों ने 'बाल दुर्व्यवहार' को यह कह कर कि "वे बच्चे जिन्हें गंभीर शारीरिक चोट दुर्घटना के कारण न लगकर जानबूझ कर लगाई गई है" (गार्डन और ग्रे) सीमित कर दिया है। सामाजिक वैज्ञानिकों ने इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि 'गम्भीर' शब्द में अस्पष्टताएं हैं और शारीरिक चोट में विविधतायें हैं। कैम्प और उसके सहयोगियों ने बाल दुर्व्यवहार की परिभाषा इस प्रकार की है: 'यह स्थिति उनसे संबंधित है जिन्हें जानबूझकर शारीरिक आक्रमण के द्वारा ज़ख्मी किया गया है'। इस परिभाषा का क्षेत्र सीमित है क्योंकि यह दुर्व्यवहार को केवल उन शारीरिक हिंसा के कार्यों तक सीमित करती है जिससे नैदानिक (diagnostic) चोट लगती है। इस प्रकार बच्चों की उपेक्षा और दुर्व्यवहार के कार्य जो चोट नहीं पहुँचाते, परन्तु इसके बराबर ही हानिकर होते हैं इस परिभाषा में सम्मिलित नहीं किये जा सकते। बाल दुर्व्यवहार की किसी परिभाषा को मान्य नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसमें बच्चे की मानसिक चोट, उपेक्षा और उसके साथ किया गया दुर्व्यवहार सम्मिलित नहीं हो। बर्गस ने बाल दुर्व्यवहार की और अधिक व्यापक परिभाषा दी है। उसके अनुसार बाल दुर्व्यवहार ऐसे किसी भी बच्चे की ओर संकेत करता है "जिसे माता-पिता, अभिभावकों और मालिकों के कार्यों और अनाचरण की त्रुटियों के कारण बगैर दुर्घटना के शारीरिक और मनोवैज्ञानिक चोट लगती है"। मौखिक दुर्व्यवहार, शारीरिक हिंसा की धमकियाँ और अत्यधिक शारीरिक दण्ड, जिन्हें डाक्टरी उपचार की आवश्यकता नहीं होती, को भी बाल दुर्व्यवहार की इस परिभाषा में सम्मिलित किया गया है।

बाल दुर्व्यवहार को सामान्यतया तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जाता है: शारीरिक, लैंगिक और भावात्मक। प्रत्येक में अभिज्ञेय (recognizable) विशेषताएँ हैं। इरविंग स्लोन द्वारा बतलाये गये स्कूल जाने वाले आयु के बच्चे में शारीरिक दुर्व्यवहार के सूचक (indicators) हैं: चोटें, जलाये जाने के कारण छाले, हड्डी का टूट जाना, जख्म और खरोंच, उदर (पेट) की चोट, और आदमी के काटे के निशान। शारीरिक दुर्व्यवहार के व्यवहारवादी सूचक हैं: दुर्व्यवहार से ग्रसित बच्चा प्रौढ़ों के सम्पर्क से चौकस रहता है, वह जब दूसरे बच्चे रोते हैं आशंकित हो जाता है। वह व्यवहार में आक्रामकता दिखाता है। वह माता-पिता/देखभाल करने वालों से भयभीत लगता है, और वह घर जाने से डरता है या घर जाने के समय पर रोता है।

बाल लैंगिक (sexual) दुर्व्यवहार की परिभाषा इस प्रकार की गई है: "यह आश्रित और अपरिपक्व बच्चों का उन यौन सम्बंधी गतिविधियों में लिप्त होना है जिन्हें वे पूरी तरह नहीं समझते और जिसके लिये वे जानकार सहमति नहीं दे सकते" (हेनरी केम्प)। जूविनाइल जस्टिस एक्ट, 1986 बाल लैंगिक दुर्व्यवहार को निम्न प्रकार से परिभाषित करता है। "यह एक बालक (लड़कियों के लिये 18 वर्ष से कम और लड़कों के लिये 16 वर्ष से कम) और एक प्रौढ़ (जो कि उसके शिकार (victim) से आयु में काफी बड़ा है और बालक पर शक्ति जमाने और उस पर काबू पाने की स्थिति में है, या वह एक जानकार या अनजान व्यक्ति भी हो सकता है) के बीच पारस्परिक क्रिया है जिसमें बालक का इस्तेमाल अपराधकर्ता या अन्य

व्यक्ति के लैंगिक उत्तेजन के लिये किया जा रहा है। लैंगिक दुर्व्यवहार अक्सर शारीरिक सूचकों से ही पहचाना नहीं जाता। प्रायः बालक किसी विश्वसनीय व्यक्ति (माँ, मित्र, पड़ौसी, संबंधी या बहिन) को बतलाता है कि वह यौन-आक्रमण का शिकार हुआ है। फिर भी लैंगिक दुर्व्यवहार के कुछ शारीरिक चिन्ह हैं (स्लोन इरविंग) चलने या बैठने में कठिनाई, फटे हुए, दाग लगे हुए या रक्तरंजित अन्दर के कपड़े, दर्द या खुजली की शिकायतें, चोटें या रक्तस्रासव, और गर्भ (किशोरावस्था में)। लैंगिक दुर्व्यवहार के कुछ व्यवहारिक सूचक भी होते हैं। लैंगिक दुर्व्यवहार से पीड़ित बच्चा गैर मिलनसार या मन्द बुद्धि वाला दिखाई दे सकता है, उसके अपने समकक्ष बच्चों के साथ कम संबंध हो सकते हैं, वह गतिविधियों में भाग लेने के लिये अनिच्छुक हो सकता है, उसका अपराधी व्यवहार हो सकता है, वह घर से भाग सकता है या वह यौन संबंधी बेतुका या असाधारण ज्ञान प्रदर्शित कर सकता है।

भावात्मक दुर्व्यवहार से तात्पर्य बच्चे की उपेक्षा और उसके साथ बुरा सलूक है। 'उपेक्षा' की सही परिभाषा करना कठिन है क्योंकि उसमें बच्चों की शारीरिक, भावात्मक, नैतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की अवहेलना हो सकती है। शारीरिक उपेक्षा से तात्पर्य है, "सामान्य जीवन की परमावश्यक वस्तुओं, जैसे, खाना, कपड़ा, मकान, ध्यान और देखरेख को मुहैया कराने में और आक्रमण से बचाव करने में असफलता"। भावात्मक उपेक्षा में प्रेम और अनुराग की अभिव्यक्ति का अभाव और जानबूझ कर सम्पर्क और प्रशंसा नहीं करना दोनों आते हैं। नैतिक उपेक्षा में ऐसी स्थितियों में जोखिम में डालना (exposure) है (मद्यप्यसन, अश्लीलता, अवैध यौन संबन्ध), जो नैतिक आचरण का ऐसा संरूप प्रस्तुत करती हैं जो समाज के प्रतिमानों से भिन्न हैं। सामाजिक उपेक्षा में बच्चे को प्रशिक्षित और अनुशासित नहीं करना सम्मिलित है। इसी प्रकार भावात्मक उपेक्षा या दुर्व्यवहार का वर्णन ऐसे किया जा सकता है कि "यह ऐसे बच्चे, जिसकी आयु एक समाज विशेष द्वारा बच्चों की निर्धारित आयु से कम है (भारत में लड़कियों के लिये 18 और लड़कों के लिये 16), के साथ उस व्यक्ति द्वारा उपेक्षित व्यवहार करना है जो ऐसी परिस्थितियों में उस बच्चे के लालन-पालन, देखरेख और कल्याण के लिये उत्तरदायी है जिसमें बच्चे के स्वास्थ्य और कल्याण को हानि पहुँच सकती है या उन्हें खतरा हो सकता है"। यह परिभाषा 'अकारण की चूक' (omission) को दुर्व्यवहार मानती है, न कि 'कार्य की चूक' (commission) को। बच्चे की भावात्मक बदसलूकी में दोषरोपण करना अनादर करना, अस्वीकार करना, सहोदर भाईयों और बहनों के साथ निरन्तर असमानता का व्यवहार करना और बच्चे के कल्याण में माता-पिता/अभिभावक को दिलचस्पी का निरन्तर अभाव सम्मिलित है। भावात्मक बदसलूकी बिरले ही शारीरिक चिन्हों से प्रकट होती है। भावात्मक बदसलूकी के कुछ शारीरिक सूचक हैं: बोली (speech) में विकृति शारीरिक विकास में पिछड़ापन, और उन्नति करने में असफलता का संलक्षण (इरविंग स्लोन) भावात्मक बदसलूकी की व्यवहार संबन्धी विशेषतायें ये हैं (मैक्सविल्ड डेनवर) आदतों में विकार (काट खाना, अंगूठा चूसना), आचरण में विकार (ध्वांसात्मक प्रकृति, निर्दयता, चोरी करना), नाड़ी सम्बन्धी लक्षण (neurotic traits) (नींद के विकार, खेलने के प्रति अन्तर्बाधा), मनो-नाड़ी संबंधित (psycho-neurotic) प्रतिक्रिया (हिस्टीरिया, भय,

मनोग्रस्ति (obsession), व्यवहार में उग्रता, (अत्यधिक शिकायत करने वाला, अत्यधिक सहनशील या आक्रामक, बहुत अपेक्षा रखने वाला, अथवा बिल्कुल ही अपेक्षा नहीं रखनेवाला), भावात्मक और बौद्धिक विकास में पिछड़ापन, और आत्मदाह का प्रयास।

4.2.1 बाल दुर्व्यवहार का प्रभाव क्षेत्र (Incidence of Child Abuse)

जनता और सरकार की बाल दुर्व्यवहार की समस्या में दिलचस्पी कम होने के कारण, दुर्व्यवहार के प्रभाव को बतलाने के लिये कोई विश्वसनीय आँकड़े एकत्रित नहीं किये गये हैं। अमरीका में गिल ने अनुमान लगाया है कि प्रतिवर्ष 25 और 41 लाख के बीच बाल दुर्व्यवहार की घटनाएँ होती हैं। स्काट ने यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि प्रति 1000 बच्चों में से एक और 12 के बीच बच्चे अपने माता-पिता अथवा अभिभावकों के दुर्व्यवहार के शिकार होते हैं। भारत में निर्धरता, निरक्षरता और परिवारों के बड़े आकार को देखते हुए यह कहा जा सकता है प्रति 1000 बच्चों में से 5 और 15 के बीच बच्चों के साथ हमारे देश में माता-पिता और मलिकों (employers) के द्वारा दुर्व्यवहार किया जाता है।

4.3 बाल-दुर्व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्याएँ (Theoretical Explanations of Child Abuse)

विद्वानों ने बाल-दुर्व्यवहार के उत्प्रेरक कारकों को समझाने के लिये कई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें से महत्वपूर्ण हैं: (i) मनोविकृति-सम्बन्धी व्याख्या; (ii) सामाजिक-सांस्कृतिक व्याख्या जिसमें सम्मिलित है; (a) सामाजिक-परिस्थिति व्याख्या, (b) सामाजिक निवासस्थानिक व्याख्या और (c) सामाजिक नियन्त्रण व्याख्या; (iii) संसाधन व्याख्या; (iv) सामाजिक-पारस्परिक प्रभाव व्याख्या; और (v) सामाजिक ज्ञान व्याख्या।

4.3.1 मनोविकृति-संबंधी (Psychiatric) O;k;k

कैम्प (1972) स्टील और पोलो (1968), गेल्स (1973) और पार्क और कोल्मर (1975) जैसे विद्वानों ने प्रस्तुत की है। यह बाल-दुर्व्यवहार को मानसिक रोग और व्यक्तित्व के दोषों या अन्तः व्यक्ति असमान्यताओं (intra-individual abnormalities) से जोड़ती है। यह गाली-गलौज करने वाले पिताओं के साथ अपने बचपन में हुए अनुभवों को व्यक्तियों के कमजोर व्यक्तित्व विकास और कम आत्मसंयम से भी जोड़ती है (वुल्फ)। इस धारणा को कि व्यक्तित्व के विकार (personality disorder) बाल दुर्व्यवहार के लिये उत्तरदायी हैं, ऐसे विवरणों से और समर्थन मिला है कि दुर्व्यवहार करने वालों में अक्सर आवेगी एवं/या असाामाजिक कार्यों के करने की प्रवृत्ति होती है जो कि रोकथाम की भूमिका से भी आगे बढ़ जाते हैं। इस व्याख्या के अनुसार एक पिता या माता अपने बच्चे के साथ दुर्व्यवहार करता है क्योंकि उसकी भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हुई है (जो कि असंतोष, रोष या झुंझलाहट से प्रदर्शित होती है)। वे बच्चे की

आवश्यकताओं और क्षमताओं को स्वयं (माता/पिता की) की आकांक्षाओं से संतुलित करने में असमर्थ होते हैं या उनके गाली-गलौज (abusive) की या वंचित पारिवारिक पृष्ठभूमि का उनकी अपने बच्चों की देख-रेख करने की क्षमता पर दुष्प्रभाव पड़ता है। (बुल्क, 1987)।

प्रारम्भ में इस व्याख्या को कई क्षेत्रों में समर्थन प्राप्त हुआ जिनमें विधायक और जनहित समूह सम्मिलित थे, क्योंकि इसमें दुर्व्यवहार का पूरा दायित्व सम्बद्ध व्यक्ति के सर मढ़ दिया था और समाज को शिक्षा, पर्याप्त आवास, परिवार सहायता कार्यक्रमों, रोजगार के अवसरों आदि के अभाव (जो बाल दुर्व्यवहार के खतरे में योगदान देते हैं), के लिये समाज को अपनी जिम्मेदारी से दोषमुक्त कर दिया था। तथापि हाल में हुए अनुसन्धानों ने बाल दुर्व्यवहार में मनोरोग विज्ञान की भूमिका के होने का खण्डन किया है।

4.3.2 सामाजिक-सांस्कृतिक व्याख्या

यह सत्तर के दशक में दी गई थी जिसने दृढ़तापूर्वक कहा है कि बाल दुर्व्यवहार बाहरी शक्तियों या सामाजिक-जनसांख्यिकीय चरों (variables) के कारण होता है। इस व्याख्या में तीन उप-व्याख्याएँ सम्मिलित हैं: सामाजिक-परिस्थितिक, सामाजिक निवासस्थानिक (habitability) और सामाजिक नियन्त्रण।

(अ) सामाजिक-परिस्थितिक व्याख्या (Social Situational Explanation):

के अनुसार दुर्व्यवहार और हिंसा दो कारणों से जन्म लेती हैं: संरचनात्मक तनाव और सांस्कृतिक प्रतिमान। जैसे-जैसे सामाजिक संरचना जिसमें माता-पिता रहते हैं अधिक तनावपूर्ण होती जाती है (या अधिक तनावपूर्ण प्रतीत होती है) उतनी ही इसकी संभावना अधिक होती जाती है कि उत्तेजित करने वाली और तनावपूर्ण घटनाओं पर नियन्त्रण पाने के लिये पारिवारिक हिंसा उभरेगी। यदि झगड़े को निबटाने के लिये हिंसा को उपयुक्त तकनीक मानने को सांस्कृतिक समर्थन प्राप्त हो जाता है तो बच्चे के पालने में शारीरिक दंड के उपयोग को आधार मिल जाता है। यदि पिता/माता को बचपन में कठोर शारीरिक दंड दिया जाता रहा है तो उसमें ऐसे व्यवहार को सामान्य मानने की अधिक प्रवृत्ति होगी और शारीरिक बल के विरुद्ध निरोध में कमी आ जायेगी (बांदुरा, 1973)। स्टीन मेट्ज और स्ट्रोस (1974) ने कहा है कि कम आय, बेरोजगारी, एकाकीपन, अनचाहा गर्भ और पति/पत्नी/सास, ससुर से झगड़े ऐसे संरचनात्मक तनाव उत्पन्न करते हैं, जो झगड़े के निबटाने के लिये हिंसा को सांस्कृतिक समर्थन मिलने के साथ जुड़कर, घर पर बच्चों का प्रयोग और हिंसा करने का कारण बनते हैं। ऐसे सामाजिक कारक जो सामाजिक तनाव उत्पन्न करते हैं कि बात करते हुये गिल ने सामाजिक वर्ग और परिवार के आकार का उल्लेख किया है। लाइट ने बेरोजगारी और गेरबेरिनो ने सामाजिक अलगाव का उल्लेख किया है।

फील्डमेन (1982) के अनुसार इस व्याख्या में प्रमुख समस्या यह है कि यह इस जांच-परिणाम का स्पष्टीकरण नहीं देती कि एक से ही वंचन और प्रतिकूल परिस्थितियों में कई माता-पिता अपने बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं और अन्य नहीं करते।

(ब) सामाजिक निवास स्थानिक व्यवस्था (Social habitability explanation):

जेम्स गेरविनो ने यह व्याख्या 1977 में प्रस्तुत की। इनके अनुसार बच्चे के साथ दुर्व्यवहार का स्वरूप उस पर्यावरण, जिसमें व्यक्ति और परिवार रहता है, की विशेषता पर निर्भर होता है या पर्यावरण में परिवार की सहायता के स्तर पर होता है। पारिवारिक सहायता जितनी कम होगी, उतना ही बच्चों के दुर्व्यवहार का खतरा अधिक होगा।

(स) सामाजिक नियन्त्रण व्याख्या (Social control explanation):

गोल्स द्वारा 1973 में प्रस्तुत की गई। इसके अनुसार माता-पिता अपने बच्चों पर हिंसा का प्रयोग इसलिये करते हैं क्योंकि उन्हें अपने ऊपर प्रहार का कोई डर नहीं होता, न ही गिरफ्तार होने का (जब तक कि कोई पड़ोसी इसकी पुलिस में शिकायत न कर दे)। इस प्रकार हिंसा का प्रयोग उस समय किया जाता है जब (i) हिंसात्मक होने की कीमत प्रतिफल (reward) से कम होती है, (ii) पारिवारिक संबंधों पर प्रभावी सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में कीमत कम हो जाती है (एक सदस्य के दूसरे के प्रति हिंसक होने की), और (iii) परिवार के ढांचे पारिवारिक संबंधों पर सामाजिक नियन्त्रण को कम कर देते हैं और इसलिये हिंसक होने की कीमत कम हो जाती है और प्रतिफल बढ़ जाते हैं (गोल्स और कोरनेल)। लेसलेट ने भी कहा है कि (अ) घर में असमानता सामाजिक नियंत्रण और हिंसक होने की कीमतों को कम कर देती हैं, और (ब) परिवार में गोपनीयता पारिवारिक संबंधों पर निष्पादित किया जाने वाले सामाजिक नियंत्रण की मात्रा को कम कर देती है।

गोल्स ने कहा कि कुछ प्रकार के बच्चों—जैसे अपंग, बदसूरत, अधिक अपेक्षा रखने वाले, असामयिक व्यस्क को अपने माता-पिता द्वारा बदसलूकी का अधिक खतरा होता है। यह इसलिये होता है कि यह तो वे अपने माता-पिता से अधिक अपेक्षाएं (आर्थिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक रूप से) रखते हैं या माता-पिता को ऐसा महसूस होता है कि उनके समय और शक्ति की लागत के बदले वे पर्याप्त तुष्टि (sufficient gratification) प्रदान नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार जब पिता को यह लगता है कि पितृत्व की कीमत प्रतिफल से अधिक है, तो वह अपने बच्चों के प्रति हिंसा का प्रयोग करता है। इवन नाई ने भी इसके पहले गोल्स की भांति पीटर ब्लाऊ के सिद्धान्त को बाल दुर्व्यवहार को समझाने के लिये मान लिया था। उसने कहा है कि बच्चों को पीटना ऐसे परिवारों में कम सामान्य है जिनके संबंधी और/या मित्र पास में

रहते हैं। नाई के प्रस्ताव को नया रूप देते हुये गेल्स और कार्नेल ने यह कहा है कि बच्चों को पीटना उस स्थिति में अधिक सामान्य है, जहां संबंधी, मित्र और पड़ोसी (यानि कि जो परिवार के सदस्य नहीं हैं) प्रतिदिन की पारिवारिक आपसी बातचीत की प्रथा के अंग बनने के लिये या तो उपलब्ध नहीं हैं या असमर्थ हैं या अनिच्छुक हैं और इस प्रकार वे सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक अथवा अनौपचारिक अभिकर्ता के रूप में कार्य कर नहीं कर पाते। गेल्स की यह भी मान्यता है कि पारिवारिक संबंधों में (यानि कि माता-पिता के रूप में कार्य करते हुए) जितनी लागत उनके अनुसार लगती है और उस लागत पर उनके अनुसार जितना लाभ मिलता है, इन दोनों में जितना अन्तर होगा, उतनी ही यह संभावना अधिक होगी कि वहां हिंसा होगी। यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि पांच से सात वर्ष की आयु के बच्चे, 14 से 16 वर्ष की आयु के बच्चों की तुलना में क्यों अधिक शिकार हो सकते हैं। छोटे बच्चों के माता-पिता को बड़े बच्चों के माता-पिता की अपेक्षा यह अधिक महसूस होता है कि वे अपने बच्चों पर अधिक व्यय कर रहे हैं और उसके अनुपात में उन्हें सही अर्थ में कम (प्रतिफल) प्राप्त हो रहा है।

इस व्याख्या की निम्न कारणों से आलोचना की गई कि: (1) यह मानना असंगत है कि माता-पिता के बच्चों से संबंध लेनदेन पर आधारित है और बच्चों से माता-पिता का व्यवहार लाभ और लागत के आंकलन से निर्धारित होता है। (2) यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो यह क्यों होता है कि सभी माता-पिता तो ऐसा आंकलन नहीं करते, केवल कुछ ही करते हो और सभी माता-पिता तो अपने बच्चों को नहीं पीटते, कुछ ही ऐसा करते हैं। क्या यह व्याख्या हिंसा के प्रयोग में व्यक्तित्व के कारक को अनदेखा नहीं कर देती? जो बच्चे काम करते हैं उन्हें (काम नहीं करने वाले बच्चों की तरह) उनके माता-पिता द्वारा क्यों पीटा जाता है, जबकि वहां पर तो माता-पिता के रूप में कार्य करने की एवज में उन्हें कुछ प्रतिफल की प्राप्ति होती है?

4.3.3 संसाधन व्याख्या (Resource explanation):

विलियम गुडे (William Goode) ने 1971 में दी। इसके अनुसार एक व्यक्ति का बल-प्रयोग इस पर आधारित है कि वह संसाधनों-सामाजिक, व्यक्तिगत और आर्थिक-पर कितना नियन्त्रण या अधिकार रखता है। जितने अधिक संसाधन एक व्यक्ति के पास होंगे, उतना ही कम बल प्रयोग को वह खुले रूप से करेगा। इस प्रकार यदि एक पिता अपने परिवार में प्रभुत्वशाली व्यक्ति बनना चाहता है परन्तु वह अधिक शिक्षित नहीं है, छोटी नौकरी करता है, उसकी आय कम है और उसमें वैयक्तिक निपुणताओं का अभाव है, तो वह अपनी प्रभुत्वशाली स्थिति को बनाये रखने के लिये अपने बच्चों के साथ हिंसा का प्रयोग कर सकता है।

4.3.4 सामाजिक पारस्परिक क्रिया व्याख्या (Social interactional explanation)

बर्गस (Burgess) ने 1979 में प्रतिपादित की। यह बाल-दुर्व्यवहार के कारणों का अध्ययन भूतपूर्व घटनाओं (उदाहरणतया, बचपन में दुर्व्यवहार की अवस्थिति) और वर्तमान की घटनाओं (उदाहरणतया बहुत अपेक्षा रखने वाला बच्चा) दोनों में व्यक्ति के परिवार और सामाजिक कारणों के पारस्परिक प्रभाव की भूमिका से करती है। माता-पिता की शिक्षा प्राप्ति का इतिहास, अलग-वैयक्तिक अनुभव और अन्तर्भूत क्षमताओं को पहले से ही प्रवृत्त (pre-disposing) विशेषताएं माना जाता है जो कि अपमानजनक संरूप में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इस व्याख्या में दुर्व्यवहार के होने में बच्चे की अन्तर्निहित भूमिका को भी स्वीकार किया जाता है। जिन परिस्थितियों में बच्चे का पालन पोषण होता है और जिन तरीकों का माता-पिता द्वारा प्रयोग किया जाता है, विशेषकर उनके दंड देने के तरीकों का, यह बतलाने में सहायक हो सकते हैं कि कुछ विशेष निर्धारित परिस्थितियों में कुछ प्रौढ़ व्यक्ति अपमानजनक व्यवहार करने के लिये पहले से ही क्यों प्रवृत्त होते हैं।

यद्यपि यह व्याख्या परिवार या समाज के संदर्भ में दुर्व्यवहार करने वाले पिता के वर्तमान के व्यवहार से विशेषकर से संबंधित है, फिर भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं (mechanisms) जैसे घटनाओं का बोध और व्याख्यायें (perceptions and interpretations of events) भी पिता-बच्चे की पारस्परिक क्रियाओं को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण कारक माने जाते हैं (वुल्फ)। पारस्परिक क्रियाओं वाली व्याख्या इस प्रकार आवश्यकतारूप से केवल दृष्टिगोचर व्यवहार (observable behaviour) तक ही सीमित नहीं है (जैसे माता-पिता की आलोचनाएं या गुस्से के प्रदर्शन) परन्तु इसमें संज्ञानात्मक (cognitive) एवं प्रभावशाली प्रक्रियाएं (जैसे बुद्धि, मनोवृत्तियां) भी सम्मिलित हैं, जो कि व्यवहार में परिवर्तनों के लिये माध्यम के रूप में कार्य (mediate) कर सकती हैं।

4.3.5 सामाजिक ज्ञान व्याख्या (Social learning explanation)

यह सिद्धान्त माता-पिता के रूप में कार्य करने के पाण्डित्य स्वरूप (learned nature of parenting) पर और इस तथ्य पर कि कई पिताओं में बच्चे के पालन के अत्यधिक जटिल कार्य को करने के लिये समुचित ज्ञान और प्रवीणता का अभाव होता है, बल देता है। उनमें (बच्चों के पालन के लिये) मूलभूत प्रवीणताओं का ही केवल अभाव नहीं होता अपितु तनाव से निपटने के लिये आवश्यक रणनीतियों का भी अभाव हो सकता है जिसके कारण तनाव उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है और उसका सामना करने की क्षमता नहीं होती है।

4.4 दुर्व्यवहार के शिकार (The Victims of Abuse)

राजस्थान में 1990 में जी.एस. केवलरमानी द्वारा बाल दुर्व्यवहार पर दुर्व्यवहार के स्वरूप, विस्तार, संरूपों और कारणों का निर्धारण करने, दुर्व्यवहार करने वालों और उनके शिकारों की विशेषताओं का चित्रण करने और बच्चे की भूमिका पालन और विकास पर दुर्व्यवहार के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये एक आनुभाषिक अध्ययन किया गया। अध्ययन 10-16 आयु समूह के 167 बच्चों पर केन्द्रित था। 167 मामलों से जिनका अध्ययन किया गया 125 शारीरिक दुर्व्यवहार के मामले थे, 23 लैंगिक दुर्व्यवहार के, और 103 भावात्मक दुर्व्यवहार के थे। इसके अतिरिक्त कुल मामले जिनका अध्ययन किया गया, उनमें 61.7% लड़के और 38.3% लड़कियां थीं। लड़कों में से 42.7% कार्यरत थे और 57.3% कार्यरत नहीं थे; लड़कियों में 46.9% कार्यरत थीं और 53.1% कार्यरत नहीं थीं। साक्षात्कार किये गये बच्चों के आयु समूह थे: 10-11 वर्षों वाले 20.4%, 12-13 वर्षों वाले 25.7%, 14-15 वर्षों वाले 24.6%, और 16 वर्ष वाले 29.3%।

तीन प्रकार के बाल-दुर्व्यवहार (अर्थात् शारीरिक, लैंगिक और भावात्मक) पर किये गये उपरोक्त एवं अन्य अध्ययनों के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं।

(अ) शारीरिक दुर्व्यवहार (Physical Abuse): लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की अधिक पीटाई होती है। स्कूल जाने वाले बच्चों को स्कूल नहीं जाने वालों की अपेक्षा शारीरिक दुर्व्यवहार का अधिक खतरा होता है। अधिक आयु (14-16 वर्ष) के बच्चों के साथ कम आयु के बच्चों की अपेक्षाकृत अधिक शारीरिक दुर्व्यवहार होता है। बच्चे जो कार्यरत नहीं हैं उन्हें कार्यरत बच्चों की तुलना में अधिक पीटा जाता है। अधिकांश दुर्व्यवहार के शिकार बच्चे निर्धन परिवारों के होते हैं। केवल छोटी सी संख्या (लगभग 2.0%) संपन्न परिवारों की होती है। यह इस बात को दर्शाती है कि निर्धनता और शारीरिक दुर्व्यवहार का महत्वपूर्ण संबंध है। बड़ी संख्या में इन मामलों में शारीरिक दुर्व्यवहार करने वाले परिवार के सदस्य (पिता, माता, सहोदर भाई और बहन) होते हैं। लैंगिक दुर्व्यवहार करने वाले दूसरे लिंग के बच्चों की अपेक्षा अपने ही लिंग के बच्चों के साथ अधिक संख्या में दुर्व्यवहार करते हैं। पिताओं की अपेक्षा माताएं बच्चों से अधिक दुर्व्यवहार करती हैं। फिर भी पुरुषों का बच्चों के साथ दुर्व्यवहार महिलाओं की तुलना में अधिक कठोर होता है। बच्चों के पीटने के प्रमुख तरीके होते हैं, थप्पड़ और घूंसे मारना, भिन्न-भिन्न चीजों से मारना, लात मारना, गला दबाना और/या घोंटना, रस्सी से बांधना, और बाल नोचना। अधिकांश मामलों में पीटने से बच्चे के चोट नहीं लगती। बच्चे के साथ शारीरिक हिंसा विभिन्न किस्मों की होती है। रोज़ाना (routine) पीटना और गैर-रोज़ाना (non-routine) पीटने से भिन्न होता है। पहले में तो माता-पिता यह सोचते हैं कि बच्चा इसी के 'लायक' (deserve) है और बच्चे भी सोचते हैं कि उन्होंने ही "निमन्त्रण दिया था"। गैर रोज़ाना पीटना वह होता है जो बच्चे के द्वारा भड़काया जाता है। द्वैतीयक (secondary)

हिंसा वह है जिसे माता और पिता में से एक न्यायपूर्ण और वैध समझाता है परन्तु दूसरा अन्यायपूर्ण मानता है (केवलरमानी, 1992)।

गैर-रोज़ाना हिंसा का इस प्रकार उपवर्गीकरण किया गया है: ज्वालामुखी (volcanic) हिंसा, मदिरा से संबंधित हिंसा, लिंग से संबंधित या ईर्ष्या-अभिमुख (jealousy oriented) हिंसा, अभिव्यंजक (expressive) हिंसा, सत्ता-अभिमुख या साधक (instrumental) हिंसा, और पीड़ित व्यक्ति द्वारा भड़काई (victim oriented) हिंसा। ज्वालामुखी-हिंसा वह है जिसका प्रयोग न तो वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जाता है और न कार्य को वैध करने के लिये। यह उस समय होती है जब दण्डित करने वाला (पिता, मालिक) बाहरी कारणवश उत्पन्न तनाव, जैसे नौकरी छूटना, या किसी के द्वारा अपमानित होना या नुकसान हो जाना, के कारण धैर्य खो बैठता है। मदिरा से संबंधित हिंसा वह है जहाँ हिंसा मदिरापान के कारण होती है। मदिरा आक्रामकता (aggression) को भड़काती है, व्यक्ति को विवेकहीन (irrational) बनाती है और अंतर्बाधा को सामाप्त करने की अभिकर्ता (disinhibitory agent) बन जाती है जो कि हिंसा के मनोवेगों को उभारती है। इस प्रकार की हिंसा केवल पुरुष-हिंसा होती है। ईर्ष्या-अभिमुख या लिंग संबंधी हिंसा वह है जहाँ एक लिंग का/की पिता/माता दूसरे लिंग के बच्चे को ईर्ष्या से प्रेरित होकर मारता/मारती है। सौतेले बाप का अपनी लड़की को मारना, या सौतेली माँ का अपने लड़के को मारना इस प्रकार की हिंसा के उदाहरण हैं।

अभिव्यंजक (expressive) हिंसा वह है जिसमें शारीरिक बल का प्रयोग ही अपने आप में उद्देश्य है। साधक (instrumental) या सत्ता-अभिमुख (power-oriented) हिंसा वह है जिसका उद्देश्य बच्चे को अपने व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिये ही प्रेरित करना तथा उन पर सत्ता जमाना भी है। पीड़ित बालक द्वारा भड़काई हिंसा वह है जिसमें हिंसा का शिकार अपने उत्पीड़न के लिये स्वयं योगदान देता है या तो अपने कार्यों से जो कि आक्रामक पिता द्वारा विचलित (deviant) समझे जाते हैं या उनका (माता-पिता) विरोध भड़का कर।

(ब) लैंगिक दुर्व्यवहार (Sexual Abuse): लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा लैंगिक दुर्व्यवहार की अधिक शिकार होती हैं। बड़े अनुपात में लैंगिक दुर्व्यवहार के शिकार उस समय होते हैं जब वे 14 या 14 वर्ष से अधिक आयु के होते हैं। चौदह वर्ष से कम आयु के शिकार और 14 वर्ष से अधिक आयु के शिकार का अनुपात लगभग 1:5 है। लिंग और दुर्व्यवहार करने वालों (abusers) की संख्या का घनिष्ठ संबंध है। लड़कों के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार प्रायः एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है, जब कि साधारणतय लड़कियों के साथ दुर्व्यवहार एक व्यक्ति से अधिक द्वारा किया जाता है। बल प्रयोग अथवा शारीरिक क्षति बिरले ही होती है। पीड़ितों (victims) को दुर्व्यवहार करने वाले मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने प्रति वफादारी या प्रेम

उत्पन्न करके या अपने ऊपर निर्भरता जता कर फुसला लेते हैं। लैंगिक दुर्व्यवहार के पीड़ित (sexually abused) साधारणतया निम्न सामाजिक-आर्थिक परिवारों के होते हैं। बच्चों के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार का धर्म या जाति की सदस्यता से कोई संबंध नहीं होता है। इसके कुछ प्रमाण हैं कि निम्न जाति की स्त्रियाँ उच्च जाति की स्त्रियों की अपेक्षा लैंगिक आक्रमण की अधिक शिकार होती हैं, परन्तु यह बचपन के लैंगिक दुर्व्यवहार की अपेक्षा बलात्कार से अधिक संबंधित हैं। जहाँ पीड़ितों के आयु वितरण में अधिक एकरूपता (homogeneity) है, आक्रमणकारियों के आयु वितरण में अधिक विषमता (heterogeneity) है, जैसे, बहुत कम आयु का, युवा, प्रारम्भिक मध्यवय दीर्घ मध्यवय। लगभग दो-तिहाई मामलों में दुर्व्यवहार करने वालों के पीड़ितों से द्वैवीयक संबंध होते हैं (मालिक, साथ काम करने वाले, अध्यापक, किरायेदार और परिचित व्यक्ति)। रक्त-संबंधी दुर्व्यवहार करने वालों की एक छोटी श्रेणी होती है। दूसरे शब्दों में अधिकतर बच्चे के साथ लैंगिक दुर्व्यवहार परिवार के बाहर होता है। लड़के साधारणतया 'रोजगार संबंधित दुर्व्यवहार' के पीड़ित होते हैं जबकि लड़कियाँ साधारणतया 'परिचय संबंधित दुर्व्यवहार' की पीड़ित होती हैं।

(स) भावात्मक दुर्व्यवहार (Emotional Abuse): लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के साथ अधिक भावात्मक दुर्व्यवहार होता है। कार्यरत बच्चों को उतनी ही उपेक्षा होती है जितनी कि जो कार्यरत नहीं है। स्कूल जाने वाले बच्चों के साथ स्कूल नहीं जाने वाले बच्चों की तुलना में अधिक दुर्व्यवहार होता है। भावात्मक दुर्व्यवहार के विभिन्न ढंगों में से देख-रेख का निरन्तर अभाव, अनादर किया जाना, झूठा दोषारोपण, अध्ययन और कल्याण की चिन्ता का अभाव, बहिष्करण, और सहोदर भाई-बहिनों में असमान व्यवहार पाया जाता है। इन मामलों में बड़ी संख्या में जो माता-पिता बच्चे की उपेक्षा करते हैं, वे लोग होते हैं जिनकी आयु कम होती है और दायित्व कई होते हैं; जो अर्ध-अवस्था के, निरक्षर या कम शिक्षित होते हैं; और जो कम प्रतिष्ठा के रोजगार करते हैं। माता-पिता की बड़ी संख्या जो अपने बच्चों से दुर्व्यवहार करते हैं; उन लोगों की होती है जिनके व्यवहार की विशेषताएँ आक्रामक, चिड़चिड़े और तानाशाही होने की होती हैं; और जिनमें निम्न-सम्मान और विरसता (alienation) की भावनाएँ होती हैं और सामाजिक विशेषताओं से समानुभूति (empathy) करने की क्षमता का अभाव होता है।

4.5 बाल दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Child Abuse)

बाल दुर्व्यवहार का प्रमुख कारण अधिकांशतया प्रौढ़ दुर्व्यवहार करने वालों (माता-पिता, मालिक) की अपने वातावरण (दोनों परिवार व कार्य स्थल) में अनुकूलन में असफलता या असमायोजन है, परन्तु कुछ सीमा तक इसके लिये वे प्रौढ़ भी होते हैं जो पारिवारिक सामाजिकरण के लिये उत्तरदायी हैं (केवलरमानी, 1992)। इस विषय पर चर्चा से पहले बाल-दुर्व्यवहार की तीन विभिन्न श्रेणियों के कारणों विश्लेषण निम्नलिखित है:-

अ) शारीरिक दुर्व्यवहार के कारण (Causes of physical Abuse): भिन्न भिन्न विद्वानों ने शारीरिक दुर्व्यवहार के भिन्न भिन्न कारण बतलाये हैं। कुछ विद्वान व्यक्तिगत अपराधकर्ताओं के मनोरोग-विज्ञान (psycho-pathology) को मुख्य कारक मानते हैं, दूसरे परिवारिक अन्तक्रिया के मनो-सामाजिक रोग-विज्ञान को प्रमुख कारण समझते हैं और कुछ और दूसरे घोर तनाव की स्थितियों पर विशेष बल देते हैं। तथापि, केवलरमानी द्वारा राजस्थान में किया गया आनुभाविक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि 'परिवारिक तनाव सम्बन्धी कारक' बाल-दुर्व्यवहार की यथेष्ट कारण-व्याख्या (causal explanation) करते हैं। परिस्थिति के तनावों ने बच्चे के शारीरिक दुर्व्यवहार के प्रमुख कारणों के चार रूप इंगित किये हैं: (अ) पति पत्नी की बीच संबंध, (ब) माता-पिता और बच्चों के बीच संबंध, (स) संरचनात्मक तनाव, और (द) बच्चे द्वारा उत्पन्न किया गया तनाव।

बच्चों को पीटने के जो कारण पाये गये वे हैं: बच्चों का निरन्तर माता-पिता की आज्ञा नहीं मानना, माता-पिता के बीच झगड़े और बच्चे को बलि का बकरा बना कर पीटना, बच्चे का अध्ययन में रुचि नहीं लेना, बच्चे का अधिक समय घर से बाहर बिताना, बच्चे को रोजी-रोटी कमाने से मना करना, बच्चे का प्रायः अपने भाई बहनों से लड़ना, बच्चे का प्रायः स्कूल से अनुपस्थित रहना, बच्चे का अपने माता-पिता/अभिभावकों को अपनी संपूर्ण कमाई को देने से इंकार करना, बाहर के व्यक्तियों से दुर्व्यवहार की शिकायतें सुनना, और बच्चे का विचलित (deviant) व्यवहार अपनाना जैसे चोरी करना, सिगरेट आदि पीना। ये सब कारक (माता-पिता की अवज्ञा करना, माता-पिता के बीच झगड़े, घर से बाहर अधिकांश समय बिताना, बच्चे का अध्ययन का कार्य में रुचि नहीं लेना) अपराधकर्ताओं (perpetrators) के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के दोषों को इतना नहीं बतलाते जितना कि उन प्रमुख कारणों को बतलाते हैं जिनके परिणामस्वरूप बाल दुर्व्यवहार होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि अपराधकर्ताओं के व्यक्तित्व की विशेषताओं को यद्यपि नकारा नहीं जा सकता है, फिर भी पारिवारिक वातावरण और तनावग्रस्त परिवार की स्थितियाँ बच्चे को पीटने में अधिक निर्णायक कारक होते हैं।

(ब) लैंगिक दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Sexual Abuse): लैंगिक दुर्व्यवहार के कारण जो अधिकांशतया दिये जाते हैं वे हैं: अपराधकर्ताओं की समायोजन (adjustment) की समस्या, परिवार का विघटन, पीड़ित के विशेष गुण, और दुर्व्यवहार करने वालों की मनोवैज्ञानिक विकृतियाँ। तथापि, बाल दुर्व्यवहार पर केवलरमानी द्वारा किया गया अध्ययन लैंगिक दुर्व्यवहार की समस्या को एक 'प्रणाली मॉडल' (System Model) के द्वारा समझाना चाहता है और इसको ऐसा व्यवहार मानता है जो विभिन्न स्तरों पर कई कारणों से प्रभावित होता है, यानी यह ऐसा व्यवहार है जो कि कारणों के एक पुंज के संचित (cumulative) प्रभाव का परिणाम है। वास्तव में इस अध्ययन ने प्रणाली उपागम का उपयोग न केवल लैंगिक दुर्व्यवहार के अपितु शारीरिक और भावात्मक दुर्व्यवहार के अध्ययन के लिये भी किया। लैंगिक

दुर्व्यवहार से संबंधित चार चर (variables) थे: पारिवारिक पर्यावरण, पारिवारिक संरचना, व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ, और स्थितियों से संबंधित कारक।

पारिवारिक पर्यावरण के विश्लेषण ने दर्शाया कि परिवार में भीड़-भाड़ लैंगिक दुर्व्यवहार से संबंधित नहीं है, परन्तु माता-पिता के झगड़े और अन्तर्बाधाओं (inhibitions) की कमजोरी जिससे बच्चों की उपेक्षा होती है, परिवार में माता-पिता और बच्चे में स्नेहपूर्ण संबंधों का अभाव जिससे बच्चे को बल और संरक्षण प्राप्त नहीं होता, जीविका उपार्जित करने वाले पुरुष सदस्य का मद्यपान, उसमें उत्तरदायित्वता का अभाव, बच्चों पर पर्याप्त नियन्त्रण का अभाव, माँ के किसी आदमी के साथ अवैध संबंध, सौतेले पिता का आधिपत्य, और परिवार का सामाजिक अलगाव (यानी परिवार का सामाजिक तन्त्रों या समाज की गतिविधियों में भाग नहीं लेना) वे कारक थे, जो लैंगिक दुर्व्यवहार में अधिक महत्वपूर्ण थे।

कार्य-स्थल का वातावरण भी लैंगिक उत्पीड़न में योग देता है। केवलरमानी के अध्ययन में ऐसे कई मामले सामने आये जब छोटी आयु के पीड़ितों पर मालिकों ने आक्रमण किया और साथ काम करने वालों ने उनको उत्पीड़ित किया जब वे घर/कार्य-स्थल/स्कूल में बिल्कुल अकेले थे। कम आयु वाली लड़कियों का अकेला होना अपराधकर्ताओं को अपराध करने के लिये उकसाता है।

(स) भावात्मक दुर्व्यवहार के कारण (Causes of Emotional Abuse): भावात्मक दुर्व्यवहार के चार महत्वपूर्ण कारणों की पहचान की जा सकती है: निर्धनता, माता-पिता का अपूर्ण नियन्त्रण, और परिवार में स्नेहपूर्ण संबंधों का अभाव, माता-पिता द्वारा अपने बचपन में दुर्व्यवहार का सामना करना या बाल-दुर्व्यवहार का अन्तर-पीढ़ी हस्तान्तरण और माता-पिता का मद्यपान। केवलरमानी ने भी भावात्मक दुर्व्यवहार में इन कारकों को महत्वपूर्ण पाया। दुर्व्यवहार करने वाले माता-पिता में आधे से अधिक की आयु कम थी (1000 रुपये प्रति माह से कम) और उन्हें 5-12 परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण करना पड़ता था। स्ट्रौस (1979) और डिश्नर (1984) ने भी बाल-दुर्व्यवहार में निर्धनता को महत्वपूर्ण बतलाया है। फिर भी अब लोग यह विश्वास करने लगे हैं कि बाल-दुर्व्यवहार केवल एक निम्न एस0ई0एस0 (सामाजिक-आर्थिक स्थिति) परिस्थिति नहीं है यद्यपि वह सर्वाधिक निम्न एस0ई0एस0 समस्या है।

4.6 बाल दुर्व्यवहार के कारणों का समाकलित मॉडल (Integrated Model of Causes of Child Abuse)

इस मॉडल का प्रमुख आधार वाक्य (premise) पिता, बच्चे और स्थिति में पारस्परिक निर्भरता है। यह मॉडल बाल दुर्व्यवहार में चार कारणों पर अधिक बल देता है: (i) पारिवारिक वातावरण, (ii) संरचनात्मक तनाव, (iii) माता-पिता के व्यक्तिगत विशेष गुण, और (iv) उप-सांस्कृतिक सीख। मॉडल में पाँच

विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी होनी चाहिये: (i) बाल विकास, (ii) सामाजीकरण की प्रक्रियाएँ, (iii) परिवार में अन्तर्क्रिया, (iv) सीखने के सिद्धान्त, और (v) रोष, आक्रमण, घृणा आदि के स्रोत।

ये क्षेत्र बतलाते हैं कि:

(अ) बाल दुर्व्यवहार को इससे समझा जा सकता है कि माता-पिता किस सीमा तक अपने बच्चों के साथ नकारात्मक अथवा अनुपयुक्त नियन्त्रण की रणनीतियाँ अपनाते हैं। सामान्य तरीकों का उपयोग (बच्चे की सब आवश्यकताओं की पूर्ति) पर्याप्त नियन्त्रण, निश्चित रूप से अनुशासित करना, और सुस्पष्ट संवाद (communication) बच्चे के (सामाजिक, भावात्मक और बौद्धिक) विकास में सहायक होते हैं जबकि 'असामान्य' तरीकों (बच्चे की आवश्यकताओं की उपेक्षा करना, अपर्याप्त नियंत्रण, नकारात्मक रूप से अनुशासित करना, अस्पष्ट संवाद और बल प्रयोग पर अत्यधिक विश्वास) से बच्चे का लालन-पालन करने से बच्चे के विकास में अन्तर्बाधा (inhibition) उत्पन्न होती है और यह बाल दुर्व्यवहार का कारण बनता है। आधिकारिक पितृत्व (authoritative parenting) (आदेश देने वाले माता-पिता), सत्तावादी पितृत्व (जो कि अपनी सत्ता का पूर्ण आज्ञापालन चाहते हैं), कृपालु पितृत्व (सभी इच्छाओं/रुचियों को तुष्टीकरण) और लापरवाही की पितृत्व (उदासीन और अनुत्तरदायी होना और उचित ध्यान नहीं देना) बच्चे के लक्षणों और व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सत्तावादी पितृत्व का रूप अत्यधिक हानिकारक होता है और बाल दुर्व्यवहार के लिये प्रेरक होता है।

(ब) तनाव असमायोजनपूर्ण प्रतिक्रियाओं को भी जन्म देते हैं क्योंकि दुर्व्यवहार करने वाले माता-पिता स्पष्ट रूप से सभी परिस्थितियों में हिंसात्मक नहीं होते। बेरोजगारी और नौकरी से असन्तोष जैसे कारक भी एक व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं और यह बाल दुर्व्यवहार का कारण बनता है।

(स) माता-पिता के वैयक्तिक लक्षण जैसे अन्तर्निष्ठ विशेषताएँ (चिड़चिड़ा स्वभाव, आत्मकेन्द्रित होना, कठोरता), बच्चे को पालने की प्रवीणता का अभाव, और संसाधनों का अभाव (कम प्रतिष्ठा, कम शिक्षा और कम आय) भी बाल दुर्व्यवहार के कारण होते हैं।

(द) उप-सांस्कृतिक सीख, यानी हिंसक घर में सामाजीकरण, या बचपन में हिंसा को झेलना भी बाल दुर्व्यवहार का एक और कारण है। ये सब कारण आपस में मिलकर इसकी व्याख्या करते हैं कि किस प्रकार वे अपराधकर्त्ताओं के व्यवहार को प्रभावित करते हैं जो कि अन्ततः बाल-दुर्व्यवहार का कारण बनता है।

4.7 बाल-श्रम की समस्या (The Problem of Child Labour)

बाल श्रमिकों का शोषण होता है, वे रोज़गार की खतरनाक परिस्थितियों के जोखिम उठाते हैं, और कई घंटे काम करने के बदले उन्हें अल्प वेतन दिया जाता है। शिक्षा को छोड़ने के लिये बाध्य होकर, अपनी आयु से कहीं अधिक दायित्वों का निर्वाह करते हैं, उस आयु में दुनियादार बनकर जब कि उनकी आयु के अन्य बालकों को अभी अपने माता-पिता की सुरक्षा के कवच को छोड़ना बाकी है। ये बच्चे कभी नहीं जान पाते कि बचपन क्या होता है। भारतीय संविधान में यह प्रतिष्ठापित है कि:

- चौदह वर्ष के कम आयु के किसी बालक को किसी फैक्ट्री में काम करने के लिये या किसी जोखिम वाले रोज़गार में नियुक्त नहीं किया जायेगा (अनु0 24)।
- बाल्यावस्था और किशोरावस्था का शोषण और नैतिक एवं भौतिक परित्यक्ता से बचाया जायेगा (अनु0 39 (एक))।

4.7.1 बाल-कार्य की प्रकृति (Nature of Child Work)

अधिकांश कार्यरत बच्चे ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। उनमें से लगभग 60.0% दस वर्ष की आयु से कम हैं। व्यापार एवं व्यवसाय में 23% समा जाते हैं, जबकि 30% घरेलू कार्यों में। शहरी क्षेत्रों में उन बच्चों की संख्या जो कैंटीन और रेस्तरां में काम करते हैं या जो चिथड़े उठाने और माल की फेरी लगाने में लगे हुए हैं विशाल है, परन्तु अनभिलिखित (unrecorded) हैं। अधिक बदकिस्मतों में वे हैं जो कि जोखिम वाले उद्यमों में कार्यरत हैं। उदाहरण के लिये, तमिलनाडु में रामनाथपुरम जिले के शिवकाशी में पटाखों और माचिस की इकाईयों में 45,000 बच्चे कार्यरत हैं। उत्तर प्रदेश में फ़िरोज़ाबाद के गिलास के कारखानों में 56,000 बच्चे और गलीचे के कारखानों में एक लाख बच्चे काम करते हैं। बच्चों की एक बड़ी संख्या जयपुर में बहुमूल्य पत्थरों की घिसाई की इकाईयों में, मुरादाबाद के पीतल के बरतनों के उद्यम में, अलीगढ़ में ताले बनाने की इकाईयों में, मर्कापुरा (आन्ध्रप्रदेश) और मंदसोर (मध्यप्रदेश) में स्लेट के उद्यम में, और जम्मू और कश्मीर, राजस्थान और कई अन्य प्रान्तों में गलीचे बनाने के कारखानों में कार्यरत हैं। (भारत में हर वर्ष लगभग एक हजार करोड़ रुपयों के गलीचे निर्यात होते हैं)। उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर जिले में गलीचे के उद्योग में काम करने वाले एक लाख बच्चों के यूनीसेफ (UNICEF) द्वारा किये गये एक अध्ययन में पाया गया कि 71% बच्चे भागने की कोशिश में पीटे जाते हैं या उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। इनमें से अधिकांश 5-12 आयु-समूह के बच्चे हैं। अध्ययन में हज़ारों बच्चे ऐसे पाये गये जिन्हें तीन-तीन वर्षों तक वेतन नहीं दिया गया था। जिन्हें वेतन दिया भी जाता है उन्हें 15 घंटों के काम के लिए (अथवा 3000 से 6000 गांठें बांधने के लिये) तीन रुपये से पांच रुपये तक दिये जाते हैं। काफी बच्चे टी0बी0, खून की कमी और आंखों की बीमारी से पीड़ित भी पाये गये।

मिज़ोरम में पत्थर की खानों में काम करने वाले 7,000 बच्चे पाये जाते हैं। 1991 के आंकड़ों के अनुसार इनकी संख्या केवल 3,000 थी जो 2001 में 7,000 हो गयी। पत्थरों की धूल से इनमें घातक बीमारियां पैदा होती हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ग्रामीण महिलाओं पर विकास के प्रभाव के अध्ययन में पाया कि 245 लड़कियों में से 83 लड़कियां 6-11 आयु-समूह की (लगभग 33.5%) किसी आर्थिक गतिविधि में लगी हुई थीं। 11-18 आयु-समूह की 52.0 प्रतिशत से अधिक लड़कियां इसी प्रकार काम कर रही थीं। यह अनुमान लगाया गया कि उत्तर प्रदेश में भदोई के आसपास दरी बुनने वाले 50,000 श्रमिकों में से 25% बच्चे थे, जबकि मिर्जापुर में 20,000 श्रमिकों में 8,000 बच्चे थे। कश्मीर में गलीचे बुनने वाला उद्यम कमर तोड़ने वाले काम में छोटी लड़कियों को नियुक्ति देता है। इस क्षेत्र की उन्नति करती हुई कारीगरी (उत्कृष्ट हाथ की कशीदाकारी) में बच्चों को कई घंटों तक एक ही मुद्रा में रहना पड़ता है और पेचीदे नमूनों पर आंख गड़ाये रखना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप प्रायः शारीरिक विकृतियां एवं आंखें क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। सूरत (गुजरात) में और आसपास कई बच्चे जो किशोर-अवस्था में हैं, बड़ी संख्या में हीरे काटने के काम में लगे हुए हैं। जिनका आंखों पर बहुत हानिकारण प्रभाव पड़ सकता है।

महानगरों के सर्वेक्षण सदमा पहुँचाने वाले रहस्योदघाटन करते हैं। मुम्बई में सर्वाधिक बाल श्रमिक हैं। सहारनपुर में हजारों बाल श्रमिक लकड़ी की नक्काशी के उद्यम में लगे हुए हैं और उन्हें 14 घण्टे प्रति दिन काम करने के उपरान्त केवल एक रुपया प्रतिदिन मिलता है। वाराणसी में हजारों, बच्चे रेशम बुनने के उद्यम में कार्यरत हैं। देहली में भी हजारों बच्चे दो या तीन रुपये की प्रतिदिन की मजदूरी पर ढाबों, चाय के स्टालों और रेस्तेरों में काम करते हैं। खानों के क्षेत्र में श्रमिकों में 56% 15 वर्ष से कम आयु के बच्चे हैं। अधिकांशतया बच्चों को अधिक पसन्द किया जाता है क्योंकि वे आज्ञापरायण होते हैं और इसलिये उनका शोषण किया जा सकता है।

बाल-श्रम विकट रूप से बंधुआ श्रम से जुड़ा हुआ है। आन्ध्र प्रदेश में 21% बंधुआ मजदूरों में 16 वर्ष से कम आयु के बच्चे हैं। कर्नाटक में 10.3% और तमिलनाडु में 8.7% इस आयु समूह के हैं। एक अध्ययन ने दिखलाया है कि बंधुआ बनते समय कई मजदूर केवल पाँच वर्ष के होते हैं। उड़ीसा में ऋण चुकाने का एक आम तरीका आठ से दस वर्ष की पुत्रियों को ऋणदाताओं को नौकरानी के रूप में बेचना है। देश के कई भागों में बंधुआ पिता जो 40 वर्ष से अधिक आयु के हैं, अपने पुत्रों को बंधुआ बना कर स्वयं को मुक्त करते हैं।

असम के चाय के बागानों में जहाँ 12 वर्ष से कम बच्चों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध है, लड़कियों को जो अपनी कार्यरत माँ के लिये खाना लाती हैं प्रोत्साहित किया जाता है कि वे रुक जायें और काम में सहायता करें। खानों के कार्यों में बच्चे, अधिकांशतया लड़के, महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आदमी खानों में खुदाई करते हैं और बच्चे कोयले को जमीन की ऊपरी सतह तक पहुँचाते हैं। बारह वर्ष से कम की आयु

के बच्चे ज्यादा पसन्द किये जाते हैं क्योंकि उनके कद के कारण वे सुरंगों में बिना झुके चल सकते हैं। असंगठित क्षेत्रों में बाल श्रमिकों को अधिक पसन्द किया जाना ज्यादा आम है क्योंकि इनको नौकर रखने से तुलनात्मक रूप से कानूनों के कपट से बचना अधिक सरल होता है। कारखानों के निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण किये जाने के दौरान बच्चों को छुपा दिया जाता है, उनकी आयु उन्हें नौकरी के पात्र करने के लिये मनमाने ढंग से बढ़ा दी जाती है, या उन व्यक्तियों की, जो बालिग व्यक्ति की मजदूरी के पात्र हैं, मालिक कार्यों में चालाकी से कम उम्र दिखला देते हैं और इस प्रकार उन्हें अपने वैध हिस्से (मजदूरी) से वंचित कर देते हैं।

4.7.2 बाल श्रम के कारण (Causes of Child Labour):

भारत जैसे देश में जहाँ जनसंख्या के 40% से अधिक व्यक्ति घोर दरिद्रता की स्थितियों में रह रहे हैं, वहाँ बाल श्रम एक बहुत ही पेचीदा विषय है। बच्चे दरिद्रता के कारण नौकरी करते हैं और उनकी कमाई के बिना (चाहे वह कितनी ही कम हो) उनके परिवारों का जीवन-स्तर और भी गिर सकता है। उनमें से कईयों के तो परिवार ही नहीं होते या सहारे के लिये उनसे आशा नहीं कर सकते। ऐसी परिस्थितियों में काम का विकल्प बेरोजगारी, गरीबी या इससे भी अधिक खराब विकल्प अपराध है।

मालिक अपने दोष की भावनाओं को दबाने के लिये बच्चों को नौकर रखने को बड़ी दिलचस्प सफाईयों पेश करते हैं। वे कहते हैं कि नौकरी उन्हें भूखा मरने से रोकती है। यह उन्हें अपराध करने से रोकती है जो कि नौकरी नहीं होने की दशा में वे करते। अधिकारीगणों का यह कहना है कि बाल श्रम का संपूर्ण उन्मूलन दुष्कर है क्यों कि सरकार उन्हें पर्याप्त वैकल्पिक नौकरियाँ उपलब्ध नहीं करा सकती। सामाजिक वैज्ञानिक यह कहते हैं कि बाल बाल श्रम का प्रमुख कारण निर्धनता है। बच्चे या तो अपने माता-पिता की आय को बढ़ाते हैं या परिवार में वे अकेले ही वेतनभोगी होते हैं। दूसरा कारण यह है कि बाल श्रम सस्ते मजदूर पाने के लिये निहित स्वार्थों द्वारा जानबूझ कर उत्पन्न किया जाता है। बाल श्रम के होने के लिये तीसरा कारण यह दिया जाता है कि इससे उद्यमों को लाभ होता है।

4.7.3 बाल श्रमिकों की काम करने की स्थितियाँ (Working Conditions of Child Labourers)

बच्चे हानिकर प्रदूषित कारखानों में काम करते हैं जिनकी ईट की दीवारों पर कालिख जमी रहती है और जिनकी हवा में विषादजनक बू होती है। वे ऐसी भट्टियों के पास काम करते हैं जो 1400⁰ सेल्सियस के तापमान पर जलती हैं। वे आर्सनिक और पोटेशियम जैसे खतरनाक रसायनों को काम में लेते हैं। वे कॉच-धमन (glass blowing) की इकाईयों में कार्य करते हैं जहाँ इस काम से उनके फेंफड़ों पर जोर पड़ता है जिससे तपेदिक जैसी बीमारियाँ होती हैं।

कार्यरत बच्चों में कई अपने परिवार में प्रमुख अथवा प्रधान वेतनभोगी होते हैं जो अपने आश्रितों के भरण पोषण के लिये सदैव चिन्तित रहते हैं। प्रवासी बाल श्रमिक जिनके माता-पिता दूर किसी शहर अथवा गाँव में रहते हैं, साधारणतया निराश रहते हैं। जब कारखाने पूरी तरह चालू रहते हैं तो उन्हें 500 रुपये प्रतिमाह तक मिल जाते हैं और कमाई हुई सम्पूर्ण राशि वे अपने अभिभावकों को दे देते हैं और वे अभिभावक उन्हें रात की पारी के लिये एक रुपया भी चाय के लिये नहीं देते। ऐसा भी कई बार होता है कि जब उनके बदन में दर्द होता है, दिमाग परेशान होता है, उनके दिल रोते हैं और आत्मा दुखी होती है, उस समय भी मालिकों के आदेशों पर उन्हें 15 घण्टे लगातार काम करना पड़ता है।

देहली, तमिलनाडू, आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र के कारखानों में जाने से यह पता लगता है कि बड़ी संख्या में बाल श्रमिकों की छातियाँ बैठी हुई हैं और हड्डियों के जाल पतले हैं जिस कारण वे दुर्बल दिखाई पड़ते हैं। वे चिथड़ों की गुड़िया की भाँति लगते हैं जो बिना नहाये और दुर्बल हैं। वे मोटे और खराब सिले हुए कपड़े पहनते हैं। उनमें से कई के हाथों, बाहों और टाँगों पर खाज होती है। कुछ के सिर मुड़े होते हैं क्योंकि कदाचित उनकी सिर की त्वचा पर कोई बड़ी छूत की बीमारी हो गई है।

बाल श्रमिकों की एक बड़ी संख्या छोटे कमरों में अमानुषित स्थितियों और अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहती हैं। इनमें से अधिकांश बच्चे बहुत ही निर्धन परिवारों के होते हैं। या तो वे स्कूल छोड़े हुए होते हैं या कभी भी स्कूल गये हुए नहीं होते। उन्हें बहुत कम मजदूरी मिलती है और वे अत्यन्त खतरनाक स्थितियों में काम करते हैं। जोखिम भरी स्थितियाँ उन्हें नुकसान पहुँचाती हैं। बच्चों को फेंफड़ों की बीमारियाँ, तपेदिक, आँख की बीमारियाँ, अस्थमा, ब्रौन्काइटिस, और कमर के दर्द होते हैं। कुछ आग की दुर्घटनाओं में जख्मी हो जाते हैं। कई बीस वर्ष की आयु में ही नौकरी करने योग्य नहीं रहते। यदि वे उख्मी अथवा अपंग हो जाते हैं तो उन्हें मालिकों द्वारा निर्दयतापूर्वक निकाल दिया जाता है।

1.7.4 सरकारी उपाय, विधि तथा सुधार की राष्ट्रीय नीति (Government Measures, National Policy of Law and Amelioration)

भारत में बाल मजदूरी तथा बच्चों के शोषण पर अनेक कानूनी प्रतिबंध लगे हुए हैं। संविधान के अनुसार 14 वर्ष से काम आयु वाले बच्चे को किसी भी कारखाने में नहीं रखा जा सकता। कारखाना अधिनियम 1948, बाल अधिनियम 1960 (संशोधित 1978), बाल श्रमिक अधिनियम 1986 तथा अन्य अनेक कानूनों में भी बच्चों को अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में श्रम पर लगाने पर प्रतिबंध है। परन्तु व्यवहार में इन कानूनों से बचने के लिए अनेक साधन ढूँढ़ लिए जाते हैं।

सरकार का मानना है कि बाल श्रम को बिल्कुल समाप्त करना सरल नहीं है। इसलिये उसने उनकी काम करने की स्थितियों को सुधारने का प्रयास किया है अर्थात् काम के घण्टों को कम करना, न्यूनतम मजदूरी

और स्वास्थ्य एवं शिक्षा को सुनिश्चित करना। यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय नीति के तीन प्रमुख उपादान हैं, यथा कानूनी कार्यवाही जो सार्वजनिक कल्याण पर केन्द्रित है, बाल श्रमिकों और उनके परिवारों के लिये विकास कार्यक्रम, और परियोजना पर आधारित एक कार्य योजना। प्रारम्भ में दस परियोजनाएँ प्रस्तावित थीं जो कि उन क्षेत्रों में लागू होनी थीं जहाँ बाल श्रम व्यापक है। उनमें सूरत, जयपुर, फ़िरोज़ाबाद के कारखाने और मुरादाबाद का पीतल के बरतन बनाने का उद्यम सम्मिलित थे। इस नीति में यह भी सोचा गया था कि बाल श्रमिकों और उनके परिवारों के लिये जारी योजनाओं में उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, नौकरी की संभावनाओं का पता लगाने का भी प्रावधान है और सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का जो इन बच्चों को इतनी कम आयु में काम करने के लिये बाध्य करती हैं का अध्ययन भी किया जाये। असंगठित क्षेत्रों में बच्चों के संरक्षण का अभाव है और असंगठित क्षेत्र में ही (जैसे घरेलू नौकर, फ़ेरी लगाने वाले, चिथड़े उठाने वाले, कागज बेचने वाले, कृषि श्रमिक और ताले बनाने वाले उद्योग जैसे औद्योगिक कारोबार भी) बच्चों का अधिक शोषण होता है।

बाल श्रम (निषेध और नियमन) कानून, के बनने से यह आशा जाग्रत हुई थी कि बाल श्रमिकों के भाग्य सुधरेंगे परन्तु इसने राज्य सरकारों या केन्द्र को सीमित रूप से भी किसी प्रकार का उद्देश्योन्मुखी कार्य करने के लिये प्रेरित नहीं किया। इस उदासीनता को श्रम मंत्रालय द्वारा अगस्त, 1987 में घोषित कार्य योजना का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम सिद्ध करता है। जबकि इस कार्य योजना को श्रम मंत्रालय ने बाल श्रम की राष्ट्रीय नीति का एक अत्यावश्यक अंग माना था। इस कानून को लागू करने के लिये बनाई गई योजना के अन्तर्गत दस परियोजनाएँ बनाई गई थी जिनमें फ़िरोज़ाबाद का काँच उद्यम, मिर्जापुर में गलीचे बुनने का उद्यम, सूरत में हीरों की पॉलिश करने का उद्यम और शिवाकाशी में माचिस बनाने का उद्यम जैसे अतिसंवेदनशील क्षेत्रों में कल्याण के निवेशों को उपलब्ध कराना था। उनमें से केवल एक का प्रायोगिक आधार पर आरम्भ किया गया है। यह मानते हुए कि माचिस उद्योग में ही यह अकेली परियोजना जारी है जिसे कार्य योजना से जोड़ दिया गया है, यह कहना उपयुक्त होगा कि इस नीति की घोषणा ने राज्यों और केन्द्र के उत्तरदायित्व को प्रस्तुत करने से अधिक कोई उपलब्धि प्राप्त नहीं की है। यदि इस पायलट परियोजना, जो लगभग पौने दो करोड़ के बाल श्रम के केवल 30,000 को लाभान्वित करने के लिये बनाई गई थी, का यह भाग्य है तो इस कानून के अन्तर्गत शेष आने वालों का भाग्य असंगठित क्षेत्र में अल्पवेतन पर परिश्रम कर रहे संख्या में इनसे कहीं अधिक श्रमिकों के भाग्य से कोई अधिक अच्छा नहीं होगा। ऊपरी तौर से कार्य योजना के बनाने के पीछे यह विचार था कि ऐसे क्षेत्रों में जहाँ बाल श्रम प्रचलित है, नये कानून और दूसरे कानूनों के सम्बंधित प्रावधानों को जो बच्चों को प्रभावित करते हैं कार्यान्वित करके एक शुरुआत की जाये। अब इन परियोजनाओं की असफलता से ऐसा लगता है कि निर्धनता-विरोधी कार्यक्रमों को समाज के उन खण्डों तक ले जाना जहाँ से अधिकांश बाल श्रमिक आते हैं की योजना भी सफल नहीं हो पायेगी।

इस सीमा तक कानून का बनना अप्रभावी सिद्ध हो सकता है कि वह उन बच्चों को सुरक्षा प्रदान नहीं कर पाया जो बढ़ती हुई ग्रामीण दरिद्रता और शहरी क्षेत्रों में जीवन संघर्ष के कारण कमाई करने के लिये बाध्य होते हैं। कानून को इस युक्तियुक्त आधार वाक्य पर बनाया गया था कि क्योंकि निर्धनता के मूल कारण को रातोंरात मिटाया नहीं जा सकता तो उसका व्यावहारिक उपागम यह है कि बाल श्रम के व्यवसाय को नियंत्रित कर दिया जाये। इसके अनुसार 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों को संगठित खण्ड के चुनिन्दा क्षेत्रों में नौकर रखने की अनुमति प्रदान कर दी गई और उसके साथ-साथ सुरक्षा उपाय भी रखे गये, जिससे उनका शोषण नहीं हो सके और इसके साथ-साथ उनकी शिक्षा एवं मनोरंजन की सुविधाओं का भी प्रावधान किया गया। परन्तु इस कानून में एक बड़ी कमी प्रवर्तन मशीनरी से संबंधित थी जिसकी ढिलाई के कारण मालिकों ने कानून के प्रावधानों की निडर होकर अवहेलना की। यद्यपि नये कानून के उल्लंघन के लिये सजा को और अधिक सख्त कर दिया गया है, फिर भी बच्चों द्वारा मुहैया कराया गया सस्ता, नमनशील एवं अपरिवादी (non-complaining) श्रमिक वर्ग इस प्रथा को जारी रखने में निहित स्वार्थ को उत्पन्न करता है। जब तक एक कार्यकुशल और सख्त निरीक्षण मशीनरी नहीं होगी, तब तक मालिकों को कानूनी प्रावधानों का उल्लंघन करने से कोई नहीं रोक सकेगा क्योंकि उन्हें इसकी पूरी जानकारी है कि बाल श्रमिक स्वयं उसको छिपाने में सहर्ष सहापराधी (accomplices) बन जायेंगे। कानून में दूसरी कमी यह है कि उसने इसकी परिभाषा नहीं की है कि कैसी नौकरियों को जोखिमभरी (hazardous) नौकरियाँ कहा जा सकता है और जिस समिति को अनुज्ञेय (permissible) नौकरियों की पहचान के लिये गठित किया गया है ने अधिक प्रगति नहीं की है।

कानून की अनुपालना (compliance) सुनिश्चित करने का एक ही तरीका है कि इसके उल्लंघन की सजा को और अधिक कठोर बनाया जाये, इसमें आकस्मिक परीक्षण का प्रावधान सम्मिलित किया जाये और एक अलग से निगरानी प्रकोष्ठ का गठन किया जाये। मजदूरों के हितों के संबंध में सभी मालिकों के लिये यह अधिदेशात्मक (mandatory) कर दिया जाये कि वे एक बाल श्रमिक, चाहे वह कारखाने में काम करता हो या घरेलू नौकर हो या दुकान पर काम करता हो, के बौद्धिक, व्यावसायिक और शैक्षिक कल्याण के लिये कदम उठायेंगे।

इस संदर्भ में उन नीतियों का, जो भले ही विशेष रूप से बच्चों के लिये नहीं हों परन्तु जो निर्धनता और असमानता का उपशमन (alleviate) करती हैं, और निर्णायक प्रभाव पड़ सकता है। इन नीतियों में कृषि संबंधी सुधार, रोज़गार उत्पन्न करने वाली परियोजनाएँ, निर्धनों में उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रसार, अनौपचारिक क्षेत्र का उन्नयन (promotion), सहकारी समितियों का गठन और सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम सम्मिलित हो सकते हैं। कानून और नियमों की अनुपालना में प्रभावी प्रवर्तन (enforcement) मशीनरी को सहायता करनी चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि श्रम-निरीक्षण और इससे संबंधित

सेवाओं को सुदृढ़ बनाया जाये। आयु सत्यापन (verification) को सुविधाजनक बनाने के लिये राजकीय अधिकारी वर्ग को जन्म पंजीकरण की एक प्रभावी प्रणाली को जारी करना चाहिये। सब मालिकों के लिये यह अधिदेशात्मक कर देना चाहिये कि वे ऐसे रजिस्टर और कागजात तैयार करें, जिनमें सभी नौकर बच्चों के नाम और आयु हो।

बच्चों को मजदूरी करनी पड़े यह दुख की बात है, परन्तु यह पूर्णतया अस्वीकार्य है कि उन्हें ऐसी स्थितियों में काम करना पड़े जो उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिये खतरनाक हैं। बाल श्रम की समस्या के समाधान को तब तक के लिये भी नहीं टाला जा सकता कि जब तक आर्थिक स्थितियों और सामाजिक संरचनाओं में मूलभूत सुधार हो जाये।

4.8 सारांश

बर्गस ने बाल दुर्व्यवहार की स्वीकार्य एवं व्यापक परिभाषा दी है। इनके अनुसार बाल दुर्व्यवहार ऐसे किसी भी बच्चे की ओर संकेत करता है जिसे माता पिता, अभिभावकों और मालिकों के कार्यों और अनाचरण की त्रुटियों के कारण बगैर दुर्घटना के शारीरिक और मनोवैज्ञानिक चोट लगती है। मौखिक दुर्व्यवहार, शारीरिक हिंसा की धमकियाँ और अत्यधिक शारीरिक दण्ड, जिन्हें डाक्टरी उपचार की आवश्यकता नहीं होती को भी बाल दुर्व्यवहार की इस परिभाषा में सम्मिलित किया गया है। बाल दुर्व्यवहार समान्यतया शारीरिक, लैंगिक एवं भावात्मक होता है। बाल दुर्व्यवहार के उत्प्रेरक कारकों को समझाने के लिए कई सैद्धान्तिक व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। इनमें महत्वपूर्ण हैं मनोविकृति, सामाजिक सांस्कृतिक, संसाधन, सामाजिक पारस्परिक प्रभाव एवं सामाजिक ज्ञान व्याख्यायें। सामाजिक सांस्कृतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत ही सामाजिक परिस्थिति, सामाजिक निवासस्थानिक तथा सामाजिक नियंत्रण व्याख्या शामिल है।

शारीरिक दुर्व्यवहार की कुछ विशेषतायें हैं कि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों पर इसका अभ्यास अधिक है। स्कूल जाने वाले और जो कार्यरत नहीं है, उन बच्चों के प्रति ऐसा दुर्व्यवहार आम है। निर्धनता एवं शारीरिक दुर्व्यवहार में संबंध है। लैंगिक दुर्व्यवहार की शिकार लड़कियाँ होती हैं। इसके पीड़ित मुख्यतः मानसिक रूप से फुसलाए जाते हैं जो अधिकांशतः निम्न सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले परिवारों से होते हैं। ऐसा दुर्व्यवहार रोजगार के स्थान पर या घर में या बाहर परिचितों द्वारा किया जाता है। भावात्मक दुर्व्यवहार लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के साथ अधिक होता है। इन मामलों में अधिकतर माता पिता दोषी होते हैं। विशेषतः वे जिनकी आयु कम, जिम्मेदारी अधिक है। बाल दुर्व्यवहार के कारणों में मुख्य हैं परिवारिक वातावरण, संरचनात्मक तनाव, माता पिता के व्यक्तिगत गुण तथा उपसांस्कृतिक सीख।

4.9 सन्दर्भ सूची

1. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा- सामाजिक समस्याय (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा० अवतार सिंह-भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा० गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो० इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय, भोपाल)-डा० शैफाली यादव
10. डा० कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा० अभय सिंह-सूचना का अधिकार अधिनियम 2005, (2009)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा० आर०के० अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा० इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।

4.9.1-सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सी०पी० अरोरा-विविध अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
2. डा० टी०पी० त्रीपाठी-सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)- इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
3. प्रो० इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।
4. डा० एस०के० कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन।

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) बाल दुर्व्यवहार की स्वीकृत परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रकारों की चर्चा कीजिए।
- (2) बाल दुर्व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या कीजिए।
- (3) बाल दुर्व्यवहार के क्या कारण हैं? संक्षेप में विवेचना कीजिए।
- (4) बाल श्रम की समस्या की विकरालता पर प्रकाश डालिए।
- (5) भारत में बाल श्रमिकों की क्या स्थिति है? अपनाए गए सरकारी उपायों एवं नीतियों का वर्णन कीजिए

एलएलओएमओ प्रथम वर्ष

भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-3- महिलायें/बालक एवं विधि

इकाई-5- विधि के परिवर्तन में न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक अवरोध

इकाई संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 उद्देश्य
- 5.3 न्यायिक सक्रियता की अवधारणा
- 5.4 न्यायिक सक्रियता – शब्द की उत्पत्ति एवं परिभाषा
- 5.5 न्यायिक सक्रियता के सिद्धान्त
 - 5.5.1 शून्य पूर्ति का सिद्धान्त
 - 5.5.2 सामाजिक आवश्यकता का सिद्धान्त
- 5.6 भारत में न्यायिक सक्रियता का मूल एवं विकास
- 5.7 न्यायिक सक्रियता- सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू
- 5.8 न्यायिक अवरोध
- 5.9 न्यायिक अतिसूक्ष्मवाद
- 5.10 सारांश
- 5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.12 महत्वपूर्ण शब्दावली
- 5.13 संदर्भ ग्रन्थ
 - 5.14 सहायक/उपयोगी पुस्तकें
- 5.15 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना –

न्यायालय को संविधान के संरक्षक की संज्ञा प्रदान की गई है। संविधान का अनुच्छेद 13 न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करता है। जिस शक्ति के माध्यम से उच्चतम न्यायालय (अनुच्छेद 32) एवं उच्च न्यायालय (अनुच्छेद 226) विधान मण्डलों द्वारा पारित किसी विधि की संविधान की दृष्टि से समीक्षा करके उसे असंवैधानिक भी घोषित कर सकते हैं।

भारतीय संविधान द्वारा एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गयी है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध करवाना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। परन्तु विधायिक और कार्यपालिका द्वारा अपना यह कर्तव्य ठीक से न निभा पाने के कारण न्यायालय जनहित के अनेक मामलों में सरकार और प्राधिकारियों को संविधान और अन्य विधियों के अन्तर्गत उनके कर्तव्यों का पालन करने के लिये विवश कर रहा है। उच्चतम न्यायालय की यही कार्यवाही 'न्यायिक सक्रियता' को जन्म दे रही है। जिसके बारे में हम प्रस्तुत इकाई में अध्ययन करेंगे।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात आप समझ सकेंगे।

- न्यायिक सक्रियता की अवधारणा
- न्यायिक सक्रियता की उत्पत्ति के कारण।
- न्यायिक सक्रियता के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू
- न्यायिक अवरोध
- न्यायिक अतिसूक्ष्मवाद

5.3 न्यायिक सक्रियता की अवधारणा

किसी भी लोकतन्त्र में तीन प्रमुख स्तम्भ होते हैं— न्यायपालिका, विधायिका एवं कार्यपालिका, जिनका एक दूसरे में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। अठारहवीं सदी में फ्रांसीसी दर्शनिक मांटेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शाक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के अनुसार सरकार की तीनों शक्तियों (न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधायिका) को एक में निहित न होकर अलग-अलग होना चाहिए। किसी एक के हाथ में सभी शक्तियां केन्द्रित होने से निरंकुशता उत्पन्न होने का खतरा रहता है और तानाशाही की प्रवृत्ति पनपने लगती है। अमेरिका का

संविधान इसी सिद्धान्त पर कार्य करता है। वहाँ कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में, विधायी शक्ति कांग्रेस में एवं न्यायपालिका शक्ति उच्चतम न्यायालय में निहित है।

भारतीय संविधान में हालांकि शक्तियों का पृथक्करण तो किया गया है परन्तु इस नियम का कठोरता से पालन नहीं किया गया है। भारत में कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमंडल में निहित होती है जिसका सदस्य होने के लिये विधानमण्डल का सदस्य होना आवश्यक है, राष्ट्रपति को न्यायिक कृत्य के अन्तर्गत अनुच्छेद 72 के अधीन क्षमादान की शक्ति है वहीं अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करने की विधायी शक्ति भी प्राप्त है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका का पूर्णतः अलग होना सम्भव नहीं है इसलिये संविधान में इसका ध्यान रखा गया है कि सरकार का कोई अंग निरंकुश न हो जाये अतः कार्यपालिका को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है और न्यायपालिका को यह शक्ति दी गयी है कि कार्यपालिका या विधायिका के बेलगाम होने पर उनके सांविधानिक सिद्धान्तों के विरुद्ध क्रियाकलापों को अविधिमान्य घोषित करके उन्हें उनके दायित्वों का अहसास कराके सीमा के अन्दर कार्य करने को बाध्य कर सके। अनुच्छेद 105 एवं 194 जहाँ संसद और विधानमण्डल के सदस्यों के भाषण एवं मत देने की स्वतन्त्रता के संदर्भ में न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप पर रोक लगाता है, वहीं अनुच्छेद 13, 32 एवं 226 न्यायपालिका को विधायिका द्वारा अतिक्रमण की स्थिति में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार भारतीय संविधान में सरकार के विभिन्न अंगों के मध्य शक्ति संतुलन का पूरा प्रयास किया गया है।

आज हमारी विधायिका और कार्यपालिका विभिन्न कारणों से अपने दायित्वों का निर्वाह करने में अक्षम साबित हो रही हैं, आये दिन उस पर भ्रष्टाचार के अनेकों आरोप लगते हैं, संविधान में वर्णित लोक कल्याणकारी राज्य की भावना, भ्रष्टाचार एवं स्वार्थ के चलते तिरोहित होती जा रही हैं। विधान मण्डल द्वारा संविधान के बारम्बार संशोधनों द्वारा जब संविधान के आधारिक लक्षणों¹ पर चोट की जाने लगी तो न्यायालय को संविधान का संरक्षक होने के नाते हस्तक्षेप करना ही पड़ा। इन्हीं सब कारणों से न्यायिक सक्रियता की अवधारणा ने जन्म लिया।

5.4 न्यायिक सक्रियता

शब्द की उत्पत्ति एवं परिभाषा

सर्वप्रथम आर्थर एम. शेलेसिंगर (।तजीने डमपमत 'बीमसेपदहमतए श्रतण) ने 'फारचून मेगजीन' में 'जेम 'नचतमउ ब्वनतज' नाम के आर्टिकिल में न्यायिक सक्रियता शब्दावली का उपयोग किया। हालांकि उन्हें उस समय (1947) इस शब्दावली को लेकर काफी आलोचनाओं का सामना करना पड़ा था।

Black's Law Dictionary के अनुसार जब न्यायाधीश अपने निर्णय को देते समय दूसरे विषयों के साथ-साथ लोक नीति पर अपने निजी विचार भी व्यक्त करने लगते हैं, तब उसे न्यायिक सक्रियता का नाम दिया जाता है। लोक प्रशासन के प्रोफेसन ब्रेडली केनन (ठतंकसमल बंदवद) ने वे छः आयाम बताये हैं जिनके अन्तर्गत न्यायालय को सक्रियतावादी माना जा सकता है। वे छः आयाम हैं:-

1. बहुमतवाद (डंरवतपजंतपंदपेउ)
2. व्याख्यात्मक स्थिरता (Interpretive Stability)
3. व्याख्यात्मक सच्चाई (Interpretive Fidelity)
4. तात्विकध्लोकतान्त्रिक प्रक्रिया
5. नीति की विशिष्टता
6. वैकल्पिक नीति निर्माता की उपलब्धता (availability of an alternative Policymaker)

जार्ज बुश के सोलिसिटर जनरल रहे थियोडोर आलसन ने अपने एक साक्षात्कार में कहा कि बहुत से लोग न्यायिक सक्रियता शब्द का उपयोग उन निर्णयों के परिप्रेक्ष्य में करते हैं जिन्हें वे पसंद नहीं करते। अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के जज एन्थोनी न्यायिक सक्रियता को सही नहीं मानते उनके अनुसार यह व्यक्तिपरक निर्णयों पर आश्रित होता है।

5.5 न्यायिक सक्रियता के सिद्धान्त

न्यायिक सक्रियता की अवधारणा से सम्बन्धित दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं:-

1.5.1 शून्य पूर्ति का सिद्धान्त (The Theory of Vacuum filling)

इस सिद्धान्त के अनुसार जब सरकार के किसी अंग की अक्रमण्यता एवं आलस के कारण व्यवस्था में शून्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो यह देश के लिये अहितकारी होती है और यह लोकतन्त्र के अन्य स्तम्भों को भी नुकसान पहुँचा सकती है। यह शून्यता उत्पन्न होने के कई कारण हैं, उदाहरण के तौर पर अकर्मठता, विधि का सम्मान न करना, अनदेखी, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति, चारित्रिक हनन आदि। जब ये सब बीमारियाँ सरकार के दो अंगों विधायिका और कार्यपालिका में पैर पसारने लगती हैं तो तीसरे अंग न्यायपालिका के पास और कोई विकल्प नहीं शेष रहता सिवाय इसके कि वह अपने आयामों में विस्तार लाये और बाकी दोनों अंगों में विस्तारित शून्य की भरने का प्रयास करे।

अतः इस सिद्धान्त के अनुसार न्यायिक अतिसक्रियतावाद इसी शून्य को भरने की कोशिश में जन्म लेता है, अर्थात् कार्यपालिका एवं विधायिका की निष्क्रियता की परिणीति न्यायिक सक्रियता के रूप में सामने आती है।

1.5.2. सामाजिक आवश्यकता का सिद्धान्त (Theory of Social want)

इस सिद्धान्त के अनुसार न्यायिक सक्रियता की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब वर्तमान विधायिका देश की मौजूदा समस्याओं का सामना करने में असफल साबित होती है। ऐसे में न्यायपालिका का कर्तव्य होता है कि वह स्वयं सामने आये और समस्याओं को हल करने का रास्ता तलाश करे। इसे प्राप्त करने में मौजूदा विधि की अपारम्परिक व्याख्या की जाती है। इस तरह न्यायिक सक्रियता पनपती है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार सामाजिक बदलाव में न्यायिक सक्रियता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। न्यायपालिका ही मृतपाय विधि में नये प्राण फूँकती है। इस तरह न्यायिक सक्रियता के माध्यम से न्यायपालिका परिवर्तन में उत्प्रेरक का काम करती है।

5.6 भारत में न्यायिक सक्रियता का मूल एवं विकास

अगर भारत में न्यायिक सक्रियता का इतिहास देखें तो 1883 का वाकया मिलता है, जब न्यायमूर्ति महमूद ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में विचाराधीन एक मामले में विसम्त निर्णय दिया था। उस विचाराधीन मामले में प्रार्थी वकील का खर्चा नहीं उठा सकता था। तब प्रश्न यह था कि क्या सिर्फ वाद के तथ्यों को कागजों पर पढ़कर ही निर्णय दे दिया जाये, तब न्यायमूर्ति महमूद ने संबंधित विधि की व्यापक संभव व्याख्या दी थी एवं पढ़ने का विरोध किया था कि किसी भी वाद में पहली शर्त यह है कि मामले को सुनकर ही निपटारा किया जाये। तब उन्होंने न्यायिक सक्रियता के बीज बोये थे। भारत में न्यायिक सक्रियता के संदर्भ में हम सामाजिक आवश्यकता के सिद्धान्त को लागू कर सकते हैं। आधुनिक रूप में भारत में न्यायिक सक्रियता का जन्म बहुत बाद में तब हुआ जब कार्यपालिका की ज्यादातियों और अधिकार हनन के मामलों में न्यायपालिका को हस्तक्षेप करना पड़ा। नौकरशाही की प्रवृत्ति जनता के लिये काम करने की न होकर अपने लिये काम करने की हो गयी। राजनीतिक प्रणाली में भ्रष्टाचार एवं शोषण सन्निहित हो गया। धन बल एवं बाहुवल से प्रजा का शोषण अपनी सीमाएं पार करने लगा, ऐसे में कुछ इस प्रकार की परिस्थितियां बनकर उभरी जिसमें न्यायपालिका का यह कर्तव्य हो गया कि वह आम जनता को कुछ राहत पहुँचाये। सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन² वाद में न्यायमूर्ति वी0आर0 कृष्णा ने

परिस्थिति को निम्न शब्दों में व्याख्यित किया, “हालांकि कानून सबसे अच्छा समाधान था परन्तु जब विधि निर्माता बहुत वक्त लेने लगे और सामाजिक धैर्य पीड़ित होने लगे तो न्यायालयों को दूर संगमरमर की प्रतीक्षा किये बिना लकड़ी पर वक्र एवं पत्थर पर खोदकर ही व्याख्या लिखनी पड़ेगी।”

मेनका गांधी बनाम भारत संघ³ के वाद में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 को एक नया आयाम प्रदान किया। उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त “प्रक्रिया” का अर्थ कोई प्रक्रिया नहीं है बल्कि ऐसी प्रक्रिया है जो ऋजु, न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त हो। न्यायाधीश श्री भगवती ने बहुमत से निर्णय सुनाते हुए कहा कि अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त “दैनिक स्वतन्त्रता पदावली का सामान्य एवं स्वभाविक अर्थ लगाना चाहिए और उकसा ऐसा सीमित अर्थ नहीं लगाना चाहिए जिससे दैनिक स्वतन्त्रता के वे तत्व उसमें से निकल जायें जिनका अनुच्छेद 19 में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि आवश्यक नहीं है कि किसी अधिकार का उल्लेख किसी अनुच्छेद में किया जाये तभी वह मूल अधिकार की श्रेणी में आयेगा। यदि कोई अधिकार किसी अधिकार के प्रयोग के लिए आवश्यक है तो वह मूल अधिकार होगा भले ही उसका स्पष्ट उल्लेख संविधान के किसी अनुच्छेद में नहीं किया गया हो।

गोपालन के मामले में दिये गये अपने निर्णय को उच्चतम न्यायालय ने मेनका गांधी वाद में उलट दिया। इसी प्रकार अनेकों उदाहरण हैं जिसमें उच्चतम न्यायालय द्वारा न्यायिक सक्रियता का उदाहरण देश दिया गया। मुरली एस0 देवरा बनाम भारत संघ⁴ में न्यायालय ने सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान रोकने का निर्देश दिया।

23 सितम्बर 2006 को उच्चतम न्यायालय ने एक ऐतिहासिक निर्णय में देश के विश्वविद्यालयों और विद्यालयों में होने वाले छात्र संघ के चुनावों को स्वच्छ रूप से कराने के लिये अनेक प्रभावकारी निर्देश दिये हैं। इसी प्रकार अपने एक दूसरे ऐतिहासिक निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने देश के पुलिस संगठन में व्यापक सुधार का आदेश दिया है।

2 मई, 2002 को उच्चतम न्यायालय ने अपने महत्वपूर्ण निर्णय में निर्वाचन आयोग को निर्देश दिया कि वह चुनाव में खड़े होने वाले प्रत्याशियों के बारे में अपराधिक रिकार्ड, शिक्षा सम्पत्ति और देनदारी आदि का विवरण जनसंचार एवं समाचार के माध्यमों पर मतदाताओं को दें। न्यायालय ने कहा कि मतदाता को अपने प्रत्याशियों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना उनका संवैधानिक अधिकार है। चुनावों में भ्रष्टाचार रोकने की दिशा में यह एक सराहनीय कदम था। दिल्ली डेमोक्रेटिक वाकिंग वूमेन्स फोरम बनाम भारत संघ⁵ के मामले में महिलाओं के साथ बढ़ते यौन अपराधों के प्रति गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हुए उच्चतम

न्यायालय ने ऐसे मामलों के शीघ्र परीक्षण तथा उन्हें प्रतिकर प्रदान करने एवं उनके पुनर्वास के लिए विस्तृत मार्गदर्शक सिद्धान्त विहित किया। इसी प्रकार कामकाजी महिलाओं को कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से संरक्षण दिलाने के लिये विशाखा बनाम राज्यस्थान राज्य⁶ के मामले विस्तृत मार्गदर्शक सिद्धान्त विहित किया एवं निर्धारित किया कि जब तक विधान मण्डल इस विषय में समुचित विधि नहीं बनाता तब तक न्यायालय द्वारा विहित निर्देश लागू रहेंगे।

कुछ समय पहले तक आम जनता यह मानती थी विधायिका सर्वोच्च अंग है एवं यह कार्यपालिका एवं न्यायपालिका दोनों को ही नहीं बल्कि संविधान से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। परन्तु उच्चतम न्यायालय द्वारा नितीश कटारा काण्ड, अति चर्चित तंदूर काण्ड, मामलों में उच्च राजनीतिक रसूख एवं धन-बल एवं बाहुबल वाले अपराधियों को न्यायिक सक्रियता के माध्यम से सजा देकर न्यायालय ने न केवल आम जन में न्यायालय के प्रति पुनः विश्वास जागृत कर दिया है बल्कि स्वयं को कार्यपालिका एवं विधायिका से ऊपर संविधान एवं आम जनता के संरक्षक के रूप में स्थापित किया है।

5.7 न्यायिक सक्रियता—सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलू

सबसे ज्वलंत प्रश्न जो उठता है, वह यह है कि न्यायिक सक्रियता सही है या गलत, समय समय पर इसकी आलोचना भी होती रही है।

1. एक धारणा के अनुसार न्यायिक सक्रियता हमारे लोकतन्त्र के लिये हानिकारक है, इसके कारण जनता का विश्वास नौकरशाह और सरकारी तन्त्र से उठता जा रहा है। कोई भी संदेह के घेरे से बाहर नहीं यहाँ तक देश का प्रधानमंत्री भी।

2. पिछले दशक के दौरान हमारे उच्चतम न्यायालय ने अनेकों नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जैसे— “आधारिक लक्षण”, “आधारिक संरचना”, “भविष्यलक्ष्मी आरोहण” या “अप्रमाणित मूल अधिकार”, इनके लिये संविधान में कोई स्पष्ट आधार नहीं है, यदि यह प्रवृत्ति रोकी नहीं गई तो इसके गलत परिणाम होंगे।⁷

3. इसके कारण भ्रम और अनिश्चितता उत्पन्न होगी, लिखित संविधान का उद्देश्य राजनीतिक प्रणाली में निश्चितता और व्यवस्था लाना होता है किन्तु इतने सारे संविधान संशोधनों और उस पर न्यायालय द्वारा नवीन सिद्धान्तों के प्रतिपादन से अनिश्चितता और भ्रम बढ़ते जा रहे।

4. संशोधनों और न्यायिक सक्रियता से जब विधान मण्डल और न्यायपालिका के मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो कड़वाहट बढ़ती है जो देश के लिए सही नहीं है।

5. न्यायिक अतिरेकवाद न्यायपालिका का सूखियों में आने के आवेश का परिणाम है। दूसरे प्रशासनों की खामियाँ न्यायिक प्रशासन में भी हैं। न्यायमूर्ति पी०बी० सावंत की टिप्पणी भी इसी ओर इशारा करती है, “न्यायपालिका नेताओं की तुलना में अधिक खतरनाक है, क्योंकि इसके खिलाफ कोई सहारा नहीं है, बचाने वाला ही मारने वाला, रक्षक ही कैदी बनाने वाला बन जाता है।

6. आलोचक लोकहितवाद के दुरुपयोग की आशंका व्यक्त करते हैं। उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने भी विधिक समुदाय को इसके प्रति आगाह किया है उन्होंने इन मामलों के उचित विनियमन की जरूरत पर बल दिया।

7. यह कोई नहीं कह सकता कि न्यायिक सक्रियता द्वारा किन-किन क्षेत्रों में नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायेगा, क्योंकि इनमें अंतिम वचन उच्चतम न्यायालय का ही होगा, इसका परिणाम यह होगा कि संविधान का संशोधन न्यायपालिका के द्वारा होगा जबकि संविधान का अनुच्छेद 368 विनिर्दिष्ट रूप से यह शक्ति विधायी तन्त्र को सौंपता है। इसका उदाहरण उच्चतम न्यायालय का यह निर्देश है कि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का सृजन होना चाहिए। अनुच्छेद 312 यह अधिकथित करता है कि अखिल भारतीय सेवा के सृजन के लिए राज्य सभा के उपस्थिति सदस्यों के 2/3 बहुमत संकल्प पारित करना चाहिए और उसके वह बाद विधि बनाकर उस सेवा का उपबंध कर सकती है। न्यायालय का निर्देश संविधान के स्पष्ट उपबंध का स्थान नहीं ले सकता। निर्वचन के नाम पर वास्तव में यह संविधान का संशोधन है।⁸

न्यायिक सक्रियता के अनेक सकारात्मक पहलू भी हैं—

1. न्यायिक सक्रियता द्वारा अनेक घोटालों का पता लग पाया है, जैसे— हवाला घोटाला, चारा घोटाला, सेंट किट्स घोटाला, सरकारी घरों एवं पेट्रोल पम्पों का विधि विरुद्ध आवंटन, उर्वरक घोटाला आदि।

2. न्यायपालिका, विधायिका की तरह ही मनुष्य द्वारा ही संचालित की जाती है। अतः मानव जनित गलतियाँ होनी स्वभाविक हैं।

3. सुप्रीम कोर्ट द्वारा ही अनेकों वादों में लोकहित वाद के दुरुपयोग की तरफ ध्यान दिलाते हुए चेताया है अर्थात् वह कमजोरियों को दूर करने में प्रयासरत है न कि गलतियाँ दोहराने में।

4. संविधान द्वारा न्यायालय को संरक्षक की भूमिका प्रदान की गयी है, इसके अतिरिक्त आज विधायिका एवं कार्यपालिका राजनीतिक कारणों से नागरिक समस्याओं का निपटारा करने में अत्यन्त अक्षम एवं असहाय हो गये हैं। आज सामान्य जनता के लिये लोकहित वाद के माध्यम से न्यायिक सक्रियता वरदान सिद्ध हुई है, देश के बड़े पदों पर आसीन लोगों के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश उच्चतम न्यायालय ने ही किया है।

न्यायपालिका को स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष बनाए रखने का हम सभी का उत्तरदायित्व है, इसी में लोकतन्त्र की सफलता निहित है।

5. आज साधारण नागरिक अपने अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायपालिका का दरवाजा खटखटाने को विवश है। महानगरों में जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह न्यायालय जा रहा है। चाहे वह पीने के लिये स्वच्छ जल की समस्या हो, आधुनिक जीवन में बढ़ते हुए भयंकर प्रदूषण का मामला हो, वीरप्पन जैसे अपराधियों को पकड़ने की समस्या हो, उत्तर प्रदेश में पंचायत चुनाव कराने का मामला हो, राजनीति में भ्रष्टाचार का मामला हो, महिलाओं व बच्चों के शारीरिक शोषण का मामला हो, सभी मामलों में न्यायालय ने सरकार को समुचित कदम उठाने के निर्देश दिये हैं, ऐसा जनहितवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा ही सम्भव हो पाया है।⁹

5.8 न्यायिक अवरोध:-

इसे न्यायिक संयम भी कहा जाता है। न्यायिक सक्रियता के उलट इसमें विधि की सीमित व्याख्या की जाती है।

न्यायिक अवरोध या संयम न्यायिक व्याख्या का एक सिद्धान्त है, जिसमें न्यायाधीशों को अपनी शक्ति का सीमित उपयोग करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है कि जहाँ तक हो सके विधि को ही सर्वोपरि रखना चाहिए। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यायाधीश स्टेयर डिसाइसिस (जंतम कमबपेपे) के सिद्धान्त का पूर्णतः पालन करने पर जोर देते हैं एवं न्यायिक पूर्ण निर्णयों को पूर्णतः मान्यता प्रदान करते हुए उन्हें सर्वोपरि रखते हैं।

जस्टिस ओलिवर वेन्डेल होम्स (वसपअमत मूदकमसस भवसउमे) इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों में से एक माने जाते हैं जिन्होंने अपनी कई पुस्तकों में न्यायिक संयम के महत्व का वर्णन किया है।

5.9 न्यायिक अतिसूक्ष्मवाद

इसे हम न्यायिक अतिरेकवाद का विलोम भी कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यायाधीश न्यायिक पूर्व निर्णयों एवं जंतम कमबपेपे पर पूर्णतः अमल करते हैं एवं इस बात पर जोर देते हैं कि न्यायाधीशों को, संवैधानिक विधि की स्थिरता बनाये रखने के लिये उनमें बहुत कम वृद्धि सम्बन्धी परिवर्तन करने चाहिए। न्यायिक अतिसूक्ष्मवादियों का मानना है कि एक स्थिर संवैधानिक विधि सभी के लिये लाभकारी है।

निर्देश :-

1. केशवानन्द भारत केस

2-AIR 1978 SC 1675

3-AIR 1978 SC 597

4-AIR 2002 SC 40

5-(1995) 1 SCC 14

6-AIR 1997 SC 3011

7. आचार्य डा० डी०डी० वसु भारत का संविधान एक परिचय पुनमुद्रण नौवा संस्करण, पृष्ठ 426

8. उच्चतम न्यायालय अधिवक्ता बनाम भारत संघ (1993) 4 SCC 441

9. डा० जय नारायण पाण्डे, भारत का संविधान, 44वां संस्करण, पृष्ठ 358-359

अभ्यास प्रश्न:-

1. जनहित वाद को जन्म दिया है-

क. न्यायिक अतिरेकवाद ने

ख. न्यायिक अवरोध ने

ग. न्यायिक सक्रियता ने

घ. न्यायिक अतिसूक्ष्मवाद ने

2. संविधान के अनुच्छेद के द्वारा न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है।

क. 12

ख. 13

ग. 32

घ. 226

3. न्यायिक सक्रियता का जन्म होता है-

क. विधायिका की अक्षमता से

ख. कार्यपालिका की अक्षमता से

ग. उपरोक्त दोनों

घ. उपरोक्त में कोई नहीं,

4. अमेरिकी संविधान शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का पालन करता है।

5. न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक अवरोध एक दूसरे के हैं।
6. किसी भी लोकतन्त्र में न्यायपालिका, विधायिका एवं कार्यपालिका, तीन प्रमुख स्तम्भ होते हैं। सत्य/असत्य
7. उच्चतम न्यायालय को संविधान के संरक्षक की भूमिका प्राप्त है। सत्य/असत्य
8. भारत में न्यायिक सक्रियता का जन्म सामाजिक आवश्यकता के सिद्धान्त से माना जा सकता है। सत्य/असत्य
9. न्यायिक अवरोध एवं न्यायिक अतिसूक्ष्मवाद एक ही हैं। सत्य/असत्य

5.10 सारांश

भारतीय संविधान के अन्तर्गत एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गयी है। जिसके अन्तर्गत नागरिकों को जीवन की मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध करवाना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। सरकार द्वारा अपने दायित्व का वहन ठीक से न कर पाने के कारण आम जनता त्रस्त होकर न्यायालय का द्वार खटखटाने को बाध्य हो गयी है। जिसके कारण न्यायालय सरकार को निर्देश जारी करने के लिये बाध्य हो गया है। न्यायालय की यही भूमिका न्यायिक सक्रियता कहलाती है।

फ्रांसीसी विद्वान मांटेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी लोकतन्त्र के तीनों अंगों—न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधायिका में शक्तियों का बंटवारा होना चाहिए एवं तीनों की कमान अलग-अलग व्यक्तियों/निकाय के हाथों में होनी चाहिए, ताकि शक्तियों का केन्द्रीयकरण न हो, केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति निरंकुशता को जन्म देती है।

भारत के संविधान में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का पूर्णतः पालन नहीं किया गया है। भारत में न्यायपालिका संविधान के संरक्षक की भूमिका में हैं।

न्यायिक सक्रियता से संबंधित दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम शून्य पूर्ति का सिद्धान्त, जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका एवं विधायिका की अकर्मण्यता के कारण उसमें शून्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसकी भरपाई करने हेतु न्यायपालिका को अपने क्षेत्र में विस्तार करना पड़ता है। द्वितीय सिद्धान्त है— सामाजिक आवश्यकता का सिद्धान्त, जिसके अनुसार जब कार्यपालिका एवं विधायिका समाज की आकांक्षाओं की पूर्ति करने हेतु अक्षम सिद्ध होती है जो जनसाधारण की दृष्टि न्यायालय की ओर उठ जाती है जिसकी पूर्ति हेतु न्यायिक सक्रियता का जन्म होता है। भारत में न्यायिक सक्रियता ने इसी

सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जन्म लिया है। न्यायालय ने प्रत्येक क्षेत्र में सक्रियता दिखाते हुए हालांकि आमजन को बेहद राहत का अनुभव कराया है, परन्तु इसकी आलोचना भी होती रही है। न्यायिक सक्रियता से कई बार इसकी बाकी अंगों से टकराव की स्थिति भी बन जाती है जो देश के लोकतन्त्रात्मिक ढाँचे के लिये सही नहीं है। अतः इसमें न्यायालय को भी कदम फूँक कर रखने की जरूरत है।

न्यायिक अवरोध, न्यायिक सक्रियता का विरोधाभाषी शब्द है जिसमें न्यायाधीशों को अपनी शक्ति का सीमित उपयोग का पाठ पढ़ाया जाता है। इसी से मिलता जुलता न्यायिक अतिसूक्ष्मवाद है जिसके अन्तर्गत वर्तमान विधि की स्थिरता पर बल दिया जाता है।

5.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

निरंकुशता—एक ऐसी स्थिति जिसमें अपार शक्तियों को पाने पर व्यक्ति/निकाय मनमानी पर उतर आता है।

विधायिका—विधि का निर्माण करने वाली संस्था। कार्यपालिका—विधि को कार्यरूप प्रदान करने वाली संस्था। संविधान—देश का सर्वोच्च कानून।

5.12 संदर्भ ग्रन्थ—

1. वसु आचार्य डा. दुर्गा दास, भारत का संविधान – एक परिचय, नौवा संस्करण पुनर्मुद्रण 2009, लक्सिस नेक्सिस बटरवर्थ वाधवा मागपुर।

2. पाण्डे, डा0 जय नारायण, भारत का संविधान, 44वाँ संस्करण, सेन्द्रल ला एजेन्सी

3. भारत का संविधान, द्विभाषी संस्करण, कानून प्रकाशन, संस्करण 2008

4-en.wikipedia.org

5- www.scribd.com

5.13 सहायक/उपयोगी सामग्री

1. दुर्गा दास वसु, शार्टर कन्स्टीयूशन ऑफ इंडिया।

2. डा0 जे0जे0 आर उपाध्याय, भारत का संविधान

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में न्यायिक सक्रियवाद की उत्पत्ति का वर्णन करें?
2. न्यायिक अतिरेकवाद क्या है? इसके नकारात्मक पहलू कौन से हैं?
3. न्यायिक अवरोध से आप क्या समझते हैं? यह किस तरह न्यायिक सक्रियता से भिन्न है?

एलएलओएमओ प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-4: आधुनिकीकरण और समुदाय विधि

इकाई-1: समुदाय (जाति) : सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

इकाई संरचना

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणायें
- 1.3 जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति
 - 1.3.1 जाति और वर्ण
 - 1.3.2 जाति एवं उपजाति
 - 1.3.3 जाति एवं जनजाति
 - 1.3.4 जाति और वर्ग
- 1.4 जाति की विशेषतायें
 - 1.4.1 व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषतायें
 - 1.4.2 इकाई के रूप में जाति की विशेषतायें
- 1.5 जाति की उत्पत्ति
 - 1.5.1 परम्परागत सिद्धान्त
 - 1.5.2 ब्रह्मणीय सिद्धान्त
 - 1.5.3 प्रजातीय सिद्धान्त
 - 1.5.4 व्यावसायिक सिद्धान्त
 - 1.5.5 केतकर का सिद्धान्त
 - 1.5.6 सेनार्ट का सिद्धान्त
 - 1.5.7 हट्टन का माना सिद्धान्त
- 1.6 सारांश
- 1.7 सन्दर्भ सूची
 - 1.7.1 सहायक सन्दर्भ सूची
- 1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया है: भारतशास्त्रीय (Indological), समाज-मानवशास्त्रीय (socio-anthropological) तथा समाज-शास्त्रीय (sociological)। भारतशास्त्रियों ने जाति का अध्ययन धर्म ग्रंथी (scriptural) दृष्टिकोण से किया है, समाज मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया है तथा समाजशास्त्रियों ने स्तरीकरण के दृष्टिकोण से किया है।

भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतशास्त्रियों ने जाति प्रथा की उत्पत्ति उद्देश्य एवं इसके भविष्य के विषय में धर्मग्रन्थों का सहारा लिया है। उनका मानना है कि 'वर्ण' की उत्पत्ति विराट पुरुष-ब्रह्मा से हुई है तथा जातियाँ इसी वर्ण व्यवस्था के भीतर खण्डित (fissioned) इकाइयाँ हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाह प्रथाओं के परिणामस्वरूप हुआ। इन इकाइयों या जातियों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत एक दूसरे के संबंध में अपना-अपना दर्ज (rank) प्राप्त हुआ। चारों वर्णों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कृत्य व संस्कार (rituals) स्तरीकृत (status-bound) हैं। कालान्तर में जाति संबंधों को क्षेत्र, भाषा तथा मतों में अन्तर ने भी प्रभावित किया है। भारतशास्त्रियों के अनुसार जाति की उत्पत्ति का उद्देश्य श्रम का विभाजन करना था। जैसे-जैसे लोगों ने समाज में चार समूहों अथवा क्रमों व वर्गों में विभाजन स्वीकार करना प्रारम्भ किया, वे अधिक कठोर होते गए और जाति की सदस्यता तथा व्यवसाय वंशानुगत होते गए।

हट्टन, रिज़ले, होबेल, क्रोबर आदि सामाजिक मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को चार दिशाओं में स्पष्ट किया है: संगठनात्मक (Organisational), संरचनात्मक (Structural,) संस्थात्मक (Institutional), तथा संबंधात्मक (Relational)। हट्टन आदि की संगठनात्मक एवं संरचनात्मक विचारधारा के अनुसार जाति प्रथा केवल भारत में ही पाई जाने वाली अद्वितीय व्यवस्था है। दोनों विचारों (संगठनात्मक व संरचनात्मक) में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम विचार जाति व्यवस्था की उत्पत्ति पर केन्द्रित है और दूसरा विचार जाति व्यवस्था के विकास एवं संरचना में आने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है। रिज़ले एवं क्रोबर जैसे विद्वानों का संस्थात्मक दृष्टिकोण जाति को केवल भारत के प्रसंग में ही अनुकूल नहीं मानता, बल्कि प्राचीन मिश्र, मध्यकालीन यूरोप और वर्तमान दक्षिण संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इसे अनुकूल मानता है। संबंधात्मक दृष्टिकोण वाले विद्वानों का मानना है कि जाति जैसी स्थितियाँ सेना, व्यापार-प्रबन्ध, फैक्ट्री आदि में भी पाई जाती हैं तथा समाज में जाति व्यवस्था की उपस्थिति या अनुपस्थिति समूहों में गतिशीलता की उपस्थिति या अनुपस्थिति से सम्बद्ध होती है। यदि गतिशीलता सामान्य होगी तो जाति व्यवस्था नहीं होगी किन्तु यदि इसमें रुकावट हो तो जाति व्यवस्था होती है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति व्यवस्था को समाज में स्तरीकरण के रूप में तथा सामाजिक असमानता की प्रघटना के रूप में देखा गया है। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार समाज के कुछ संरचनात्मक पक्ष होते हैं

और समाज अपने सदस्यों को विभिन्न सामाजिक स्थितियों (positions) में बाँट देता है। इन सदस्यों के बीच की अन्तःक्रिया सामाजिक संरचनाओं का आधार होती है और अन्तःक्रिया के प्रकार व सम्बद्ध आदर्श (norms) सामाजिक संरचनाओं को श्रेणीबद्ध करते हैं।

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-4 की इकाई-1 का उद्देश्य है कि आप जाति की संरचनात्मक, सांस्कृतिक एवं सैद्धान्तिक अवधारणाओं से परिचित हो सकें। संक्षेप में आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ सकें।

- जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणायें
- जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति
- जाति की विशेषतायें
- जाति की उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त

1.2 जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणाएं (Structural and Cultural Concepts of Caste)

जाति को एक इकाई (unit) एवं व्यवस्था (system) की दृष्टि से देखा जा सकता है। इसे सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक घटनाओं की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। “इकाई” के रूप में जाति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है: “जाति एक बन्द कोटि वाला स्थिति समूह है”, अथवा एक ऐसा समूह है जिसमें सदस्यों की प्रस्थिति, उनका व्यवसाय, जीवन-साथी को चुनने का क्षेत्र तथा दूसरे सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया सभी कुछ निश्चित होता है। “व्यवस्था” के रूप में जाति का संबंध अन्तर्सम्बन्ध प्रास्थितियों (interrelated statuses) और जातियों के बीच उस प्रतिमानित (patterned) अन्तःक्रिया से है जो विभिन्न प्रतिबन्धों के संग्रह (collectivity) पर आधारित है; जैसे, सदस्यता परिवर्तन पर प्रतिबन्ध, व्यवसाय परिवर्तन पर प्रतिबन्ध, विवाह पर प्रतिबन्ध एवं सहभोज संबंधों पर प्रतिबन्ध। जाति को व्यवस्था के रूप में दृष्टिगत रखने के पीछे एक पूर्व मान्यता (presupposition) यह है कि कोई भी जाति एकाकी रहकर अस्तित्व में नहीं रह सकती तथा प्रत्येक जाति दूसरी जातियों से आर्थिक, राजनैतिक एवं संस्कारों के संबंधित जाल में निकट से सम्बद्ध रहती है। जाति व्यवस्था की “बन्द कोटि समूह” (closed rank group) होने की विशेषता इसकी संरचना की भी व्याख्या करती है। एक “सांस्कृतिक घटना” के रूप में जाति को “मूल्यों, विश्वासों तथा प्रचलनों के संग्रह” के रूप में देखा जा सकता है।

अधिकतर विद्वानों ने जाति को एक संगठन के रूप में माना है, न कि मूल्यों एवं प्रवृत्तियों के समूहन के रूप में। बूगल (Bougle) ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जाति वंशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रूप से गठित (hierarchically arranged) समूह है। उन्होंने जाति की तीन विशेषताएँ बताई हैं: पैतृक विशिष्टता (hereditary specialisation), श्रेणीबद्धता (hierarchy), तथा तिरस्कार (repulsion)। तिरस्कार की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि विविध जातियाँ एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने की अपेक्षा एक दूसरे का तिरस्कार करती हैं। तिरस्कार की यह भावना अन्तर्विवाह, सहभोज प्रतिबन्धों तथा सम्पर्क में स्पष्ट होती है।

क्रोबर (Kroeber) ने जाति की परिभाषा करते हुए कहा है: "जाति नृवंशीय (ethnic) इकाई का एक अन्तर्विवाही, वंशानुगत उप विभाग (sub-division) है जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य ऐसे भागों की तुलना में ऊँची या निम्न होती है।" क्रोबर के अनुसार जातियाँ सामाजिक वर्गों के विशेष स्वरूप हैं जो कम से कम प्रवृत्ति में प्रत्येक समाज में मिलती हैं। अतः क्रोबर की जाति की धारणा वर्तमान समाजशास्त्र में प्रचलित स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त से सम्बद्ध है। कैथलीन गुफ के अनुसार, "जाति स्थिति के आधार पर उच्च व निम्न पद (rank) वाले समूह होते हैं जो आमतौर पर अन्तर्विवाही होते हैं तथा एक पेशे से जुड़े होते हैं।" सेनार्ट (Senart) ने कहा है, "जाति एक वंशानुगत बन्द संगठन (corporation) है जो कि दूसरी जातियों से सामान्य पेशों (occupations) से जुड़ा रहता है और जिसमें एक परिषद (council) भी होती है जो अपने सदस्यों पर कुछ दण्ड विधान लागू करके उनके व्यवहार को नियमित करती है।"

बेली (Bailey) और श्रीनिवास ने जाति की परिभाषा की समस्या को दूर ही रखा है। उन्होंने जातियों को संरचनाएं (structures) माना है। केतकर, दत्त, तथा ओपलर ने भी जाति की परिभाषा देने की अपेक्षा जाति व्यवस्था के अनुमानात्मक (inductive) लक्षणों को ही बताया है। केतकर (1909) के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं: वंशानुगत सदस्यता और अन्तर्विवाह।

सभी विद्वान जाति व्यवस्था को समेकताओं से संरचित (composed of solidarities) व्यवस्था मानते हैं। उनके दृष्टिकोण या तो सभ्यता के दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं या संस्कृति के मानवशास्त्रीय सिद्धान्तों से या फिर समाज के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों से।

1-3 जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति (Caste, Varna, Sub-Caste and Tribe)

तर्कपूर्वक आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति, "वर्ण" का विकसित रूप है। जो प्राचीन भारत के वर्ग के रूप में प्रारम्भ हुए थे और धीरे-धीरे इन्हें धार्मिक मान्यता प्राप्त हो गई। जाति व्यवस्था का समर्थन

करते हुए यही धार्मिक सिद्धान्त जाति व्यवस्था और स्तरीकरण में भेद करता है जो कि अमेरिका व अन्य देशों में प्रदत्त प्रस्थिति, अन्तर्विवाह, तथा निम्न स्थिति के रूप में पाया जाता है (जैसे नीग्रो में)।

1.3.1 जाति और वर्ण (Caste and Vorna)

जाति और वर्ण दोनों भिन्न धारणाएं हैं। सेनार्ट प्रथम व्यक्ति था जिसने यह बताया कि जाति व वर्ण समान नहीं है। हिन्दू सामाजिक संगठन की विशिष्टता यह है कि यह “वर्णाश्रम” व्यवस्था पर आधारित है। यद्यपि “वर्ण” व्यवस्था तथा “आश्रम” व्यवस्था दो अलग-अलग संगठन हैं फिर भी वे एक साथ हैं, क्योंकि वे मनुष्य की प्रकृति व पालन पोषण की समस्याओं के विषय में बताते हैं। आश्रम व्यवस्था मनुष्य के जीवन के विविध अवस्थाओं में व्यक्ति के सांसारिक व्यवहार के विषय में मार्गदर्शक है और वर्ण-व्यवस्था के स्वभाव के अनुसार काम करने की स्थिति का निर्देश देती है। इन दोनों व्यवस्थाओं के अध्ययन की धारणा भिन्न है। आश्रम व्यवस्था में जीवन में चार अवस्थाओं के अन्तर्गत व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा अथवा पालन-पोषण का संबंध है: ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यास। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की उसके निजी स्वभाव एवं प्रवृत्तियों के संदर्भ में अपने समूह में स्थिति पर विचार किया जाता है।

‘वर्ण’ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में (4000 बी0सी0 में लिखा गया) सबसे पहले प्रयोग किया गया है और प्रारम्भ में केवल “आर्य” और “दास” दो वर्णों का ही वर्णन है। इसी वेद में समाज के तीन व्यवस्थाओं (order) में विभाजन का भी वर्णन है: ब्रह्म (पण्डित), क्षात्र (योद्धा), और विस (सामान्य जन)। चौथी व्यवस्था “शूद्र” का वर्णन नहीं है, यद्यपि आर्यों के द्वारा घृणा किए जाने वाले समूहों—“अयोग्य”, “चाण्डाल”, तथा “निषाद” शब्दों— का वर्णन मिलता है।

यही चार व्यवस्थाएं आगे चलकर चार “वर्ण” हो गए। प्रारम्भ में “शूद्रों” को अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। श्रीनिवास ने भी माना है कि चौथी व्यवस्था के “शूद्र” अस्पृश्य नहीं थे, बल्कि इस समूह में किसान, श्रमिक एवं सेवक थे। “शूद्रों” को घरेलू नौकरों के रूप में ही नहीं बल्कि रसोइए के रूप में भी लगाया जाता था। इस प्रकार वैदिक काल में उच्च या निम्न “वर्ण” जैसा कुछ भी नहीं था। समाज का इन चार वर्णों या व्यवस्थाओं में विभाजन श्रम विभाजन पर आधारित था। ब्राह्मण पुजारी के रूप में, क्षत्रिय शासक व योद्धा के रूप में, वैश्य व्यापारी के रूप में, तथा शूद्र “सेवक” के रूप में कार्य करते थे।

वर्णों में विवाह संबंधों में प्रतिबन्ध नहीं थे और न ही खानपान में व सामाजिक संबंधों में थे। यहाँ तक कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण में सदस्यता परिवर्तन के लिए भी कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। बाद में जैसे हम वैदिक काल से ब्राह्मण काल में आते हैं, इन चारों वर्णों में श्रेणीक्रम प्रारम्भ हो गया और इसमें ब्राह्मण सर्वोच्च स्थिति में तथा “शूद्र” निम्नतम स्थिति में हो गए।

एक और विचारधारा के अनुसार “वर्णों” में अन्तर व श्रेणीक्रम का संबंध रंग भेद से था। इसके अनुसार “वर्ण” का अर्थ “रंग” है और इसी रंग के आधार पर “आर्य” और “दास” में अन्तर किया गया होगा क्योंकि आर्यों का रंग “साफ” (fair) और दासों का रंग काला माना गया है। “रंग” की धारणा इतनी बलवती हो गई कि कालान्तर में जब “वर्गों” को नियमित रूप से “वर्ण” माना गया, चार वर्णों के सदस्यों की चार रंगों से ही पहचान होने लगी। ब्राह्मणों को गौर या सफेद रंग, क्षत्रियों को लाल रंग, वैश्यों को पीला रंग तथा शूद्रों को काला रंग दिया गया।

जातियों की उत्पत्ति का संबंध “वर्णों” से नहीं है, यद्यपि जातियों के विकास की प्रक्रिया में उन्हें “वर्णों” से सम्बद्ध किया गया और जाति श्रेणीक्रम (hierarchy) और जाति गतिशीलता को “वर्ण” से जोड़ कर बताया गया। श्रीनिवास की भी यह मान्यता है कि “वर्ण” ने एक सामान्य सामाजिक भाषा प्रदान की है जो समूचे भारत के लिए एक जैसा है, अर्थात् वर्ण ने सामान्य व्यक्तियों को जाति व्यवस्था को समझने की एक सरल व स्पष्ट योजना दी है जो सारे भारत में लागू है। ह्यू (Hsu) की मान्यता है कि वर्ण तो समूचे हिन्दू समाज के लिए मात्र विचारात्मक योजना (conceptual scheme) है, जबकि जाति हिन्दू समाज की यथार्थ स्थिति को दर्शाती है।

1.3.2 जाति एवं उपजाति (Caste and Subcaste)

जाति एवं उपजाति में स्पष्ट अन्तर बताना आसान नहीं है क्योंकि दोनों की प्रवृत्तियाँ समान ही हैं। तथापि उपजाति जाति का उपविभाजन है। उदाहरणार्थ, कायस्थ एक जाति है और इसे अनेक उपजातियों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे, सक्सेना, श्रीवास्तव, निगम एवं भटनागर आदि। इसी प्रकार अग्रवाल जाति का उप विभाजन “दसा” व “बीसा” उपजातियों में है। ब्रह्मण एक “वर्ण” है तथा अनेक जातियों का एक मण्डल है। इस प्रकार कान्यकुब्ज, सरयूपारी तथा गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण हैं और भारद्वाज, गौतम, कश्यप आदि ब्राह्मण गोत्र के उदाहरण हैं। जाति और उपजाति दोनों ही अन्तर्विवाही (endogamous) समूह हैं, किन्तु गोत्र बहिर्विवाही (exogamous) समूह है।

उपजातियों की उत्पत्ति कैसे हुई? इस पर दो दृष्टिकोण हैं: एक तो यह कि इनका उद्गम माता-पिता के समूह के विखण्डन (fission) से है; दूसरा यह कि इनकी उत्पत्ति स्वतंत्र समूहों से हुई है। धुर्ये के अनुसार उपजाति जाति से इन कारणों की वजह से भिन्न मानी जाने लगी: (1) अलगाव के कारण (जैसे, गुजराती और मालवी जुलाहे मध्य प्रदेश में, मेवाड़ी और मारवाड़ी नाई राजस्थान में); (2) मिश्रित उत्पत्ति के कारण (जैसे, मध्य प्रदेश के “मिलाला” जिनकी उत्पत्ति भील व राजपूत माता-पिता से मानी जाती है); (3) पेशों में अन्तर के कारण (जैसे, कुम्हार जो कि बर्तन का काम करते हैं “गधेड़े” कहलाते हैं तथा खेत में काम करने वाले “खेतड़” कहलाते हैं); (4) धन्धे के तकनीकी विशिष्टताओं के कारण (जैसे, चमड़े का काम

करने वालों में मोची उपजाति जो नये जूते बनाते हैं); (5) रिवाजों की असमानता के कारण (जैसे, विधवा पुनर्विवाह से संबंधित हो, और) (6) उपनाम के कारण।

इरावती कर्वे ने यह दृष्टिकोण स्वीकार किया है कि उपजातियां या तो जातियों के विखण्डित भाग हैं या वे स्वतन्त्र उत्पत्ति के हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है “धार्मिक चलनों व तरीकों से यह प्रदर्शित होता है कि इन इकाइयों का अलग अस्तित्व व इतिहास ही इनकी बड़ी इकाइयों से अलग होने का कारण हो सकता है। रिज़ले, हट्टन व मजूमदार ने कहा है कि उपजातियाँ टूटकर मुख्य जातियों के बराबर अपनी स्थिति को उठाने के प्रयत्नस्वरूप अस्तित्व में आईं।

1.3.3 जाति एवं जनजाति (Caste and Tribe)

जाति तथा जनजाति में अन्तर करने का कोई मान्य आधार नहीं है। आन्द्रे बेतेड (Andre Betails) का विचार है कि “जनजाति” की धारणा को मौजूदा परिभाषाओं के आधार पर नहीं समझना चाहिए, अपितु भारत में परम्परागत रूप से मानी जाने वाली जनजातियों की विशेषताओं एवं उनके विश्लेषण के द्वारा समझना चाहिए। नाडेल (Nadel) जैसे सामाजिक मानवशास्त्रियों जनजाति को “एक राजनैतिक, भाषाई एवं सांस्कृतिक सीमाओं वाला समाज” कहा है। इसका यह अर्थ हुआ कि जनजाति एक ऐसा ‘समाज’ है जिसके सदस्य सामान्य सरकार चलाते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति, विश्वास एवं प्रथाओं का अनुपालन करते हैं। यद्यपि कई जनजातियों की स्पष्ट सांस्कृतिक एवं भाषा संबंधी सीमाएं होती हैं, भले ही राजनैतिक न हों ऐसे अनेक जनजातीय समूह हैं जिनमें सरकार नहीं होती और न ही कोई केन्द्रीय अधिकार रखने वाला व्यक्ति समूह ही होता है। इसी प्रकार एक जनजाति में सांस्कृतिक समरूप (homogeneity) भी भ्रामक होती है क्योंकि इस युग में ऐसी कोई सीमा रेखा नहीं है जहां एक “संस्कृति” समाप्त होती है और दूसरी प्रारम्भ। परन्तु जनजाति की अपनी एक बोली (dialect) अवश्य होती है। अतः जनजाति की मौजूदा परिभाषा अपर्याप्त है। धुर्ये, नाइक, बेली तथा वैरियर एलविन जैसे विद्वानों ने जाति एवं जनजाति में भेद करने के लिए विभिन्न आधार प्रयोग किए हैं। कुछ आधार इस प्रकार हैं: धर्म, भौगोलिक पृथक्करण, भाषा, आर्थिक, पिछड़ापन तथा राजनैतिक संगठन।

बेली ने कहा है कि “जाति तथा जनजाति में भेद करने के लिए एक मात्र हल यह है कि ऐसी निरन्तरता (continuum) की कल्पना करें जिसके एक ओर तो समाज है जिसकी राजनैतिक व्यवस्था पूरी तरह खण्डात्मक और समानता पर आधारित (egalitarian) प्रकार की है और जिसमें निर्भर रहने वाले लोग नहीं होते, और दूसरी ओर वह समाज है जिसमें खण्डात्मक राजनैतिक संबंध बहुत कम लोगों में होते हैं और अधिकतर लोग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। ऐसे समाज की राजनैतिक व्यवस्था की तुलना एक जैविकीय व्यवस्था से की जा सकती है।”। लेकिन बेली का कहना है कि निरन्तरता के उस बिन्दु को पहचानना कठिन है जहां जनजाति समाप्त होकर जाति प्रारम्भ होती हो।

भारत में यह स्थिति और भी जटिल है क्योंकि ऐसी शायद ही कोई जनजाति हो जो अलग समाज के रूप में अपना अस्तित्व रखती हो। किसी भी जनजाति की भारत में अलग से कोई राजनैतिक सीमा नहीं है। बड़ी जनजातियां, जैसे भील, सन्थाल, ओराँव आदि क्षेत्रीय आधार पर बिखरी हुई हैं। फिर लगभग सभी जनजातियां विविध सीमाओं तक बड़े समाज में समा भी गई हैं। आर्थिक दृष्टि से भी जनजातीय अर्थव्यवस्था क्षेत्रीय व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार वे जनजातियां जो मानवशास्त्रियों द्वारा “आदर्श रूप” (ideal type) मानी गई हैं, मुश्किल से ही पाई जाती हैं। आन्द्रे बेतेज़ (1969) की मान्यता है कि भारत में सभी जनजातियां परिवर्तन के दौर से गुजर रही हैं। लेकिन कुछ समुदायों को जनजाति की मान्यता दी गई है और उन्हें अनुसूचित जनजाति की सूची में सम्मिलित किया गया है।

1.3.4 जाति और वर्ग (Caste and Class)

जाति और वर्ग दोनों ही प्रस्थिति (status) समूह हैं। एक प्रस्थिति समूह व्यक्तियों का एक संकलन है जिन (व्यक्तियों) की एक विशिष्ट जीवन शैली होती है और एक प्रकार की चेतना रखते हैं। जाति एक वंशानुगत समूह होता है जिसकी एक निश्चित कर्मकांडी (ritual) प्रस्थिति होती है, जबकि वर्ग उत्पादन के संबंधों के आधार पर परिभाषित होता है। एक वर्ग के सदस्यों की दूसरे वर्ग के सदस्यों के साथ एक ही सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति होती है, जबकि एक जाति के सदस्यों की दूसरी जातियों के सदस्यों की तुलना में उच्च या निम्न प्रस्थिति होती है। एक सामाजिक वर्ग संगठित नहीं होता, किन्तु व्यक्ति और परिवार जो उसके सदस्य हैं अपेक्षाकृत समान शैक्षिक, आर्थिक व सामाजिक स्तर के होते हैं। जो लोग एक ही सामाजिक वर्ग के वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं उनके जीवन-अवसर (life chances) भी समान होते हैं। कुछ समाजशास्त्री सामाजिक वर्ग को मूलतः स्वभावतः आर्थिक (economic in nature) मानते हैं, जबकि दूसरे जीवन शैली, सम्मान तथा प्रवृत्ति जैसे कारकों पर बल देते हैं।

वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति निश्चित करने के तीन आधार आमतौर पर प्रयोग किए जाते हैं: वस्तुपरक (objective), व्यक्तिपरक (subjective) तथा प्रसिद्धिपरक (reputational)। वस्तुपरक आधार हैं: आय, शिक्षा और व्यवसाय प्रसिद्धिपरक आधार हैं: समुदाय के सदस्यों की मनोवृत्तियां (attitudes) और निर्णय (judgment); और व्यक्तिपरक आधार है व्यक्तियों की समाज में अपनी स्थिति बनाना।

जाति एक बन्द सामाजिक स्तुत (stratum) है जिससे उसके सदस्यों का सम्मान व्यवसाय और सामाजिक संबंध निश्चित होते हैं। प्रत्येक जाति में दूसरी जाति के सदस्यों के साथ संबंध सीमित होते हैं और निश्चित प्रकार से बने होते हैं। दूसरी ओर वर्ग में एक वर्ग के सदस्यों के दूसरे वर्ग के सदस्यों के

साथ संबंध परिस्थितिबन्ध बंधे होते हैं। जाति और वर्ग का समाज में सह अस्तित्व होता है। कई अवसरों पर जातियां, वर्ग का कार्य भी कर सकती हैं।

1.4 जाति की विशेषताएं (Characteristics of Caste)

बूगल (Bogle) ने जाति के तीन तत्व बताये हैं— वंशानुगत विशेषज्ञता, श्रेणीबद्धता, एवं आकर्षण व विरोध। होकार्ट ने धार्मिक क्रिया-कलापों की पवित्रता और अपवित्रता पर बल दिया है। जबकि रिज़ले ने अन्तर्विवाह (endogamy) तथा वंशानुगत पेशे (occupation) पर बल दिया है। धुर्ये, केतकर, एन०के० दत्त, आदि ने भी इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत किया है। यह माना जा सकता है कि एक इकाई के रूप में जाति की ये विशेषताएं हैं: वंशानुगत सदस्यता, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय, तथा जाति समितियां, जबकि व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषताएं हैं: श्रेणीक्रम, खानपान पर प्रतिबन्ध तथा शारीरिक व सामाजिक दूरियों पर प्रतिबन्ध।

1.4.1 व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषताएं (Characteristics of Caste as a System)

(क) जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम (Hierarchy based on birth)

किन्हीं भी दो जातियों की एक समान प्रस्थिति नहीं होती। एक जाति का दूसरी जाति से संबंध का स्तर ऊँचा या नीचा होता है। जाति श्रेणीक्रम व्यवस्था में प्रत्येक जाति का निश्चित या अनुमानित स्तर या प्रस्थिति का निर्धारण करना यदि असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। श्रेणीक्रम के निर्धारण में दो तरीके अपनाये गये हैं, अवलोकन विधि और मत-मूल्यांकन विधि। अवलोकन विधि में जाति की प्रस्थिति निर्धारण के लिए या तो संकेतनात्मक (attributonal) विधि या अन्तःक्रियात्मक (interactional) विधि प्रयोग की गयी है। संकेतनात्मक विधि जाति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके व्यवहार से करती है; उदाहरणार्थ, अपमानजनक व्यवसाय करना, इसकी प्रथाएं, शाकाहारी होना, तथा मद्यपान आदि आदतें। अन्तःक्रियात्मक विधि दो जातियों के एक दूसरे के संबंध में प्रस्थिति का मूल्यांकन उनके खान-पान की अन्तःक्रियाओं तथा विवाह संबंधों का अवलोकन द्वारा करती है। यदि "अ" जाति "ब" जाति की लड़की से विवाह करना स्वीकार कर लेती है, लेकिन उस जाति में अपनी लड़की नहीं देती तो "अ" का स्तर "ब" के स्तर से ऊँचा होगा।

मत-मूल्यांकन (opinion-assessing) विधि में सामूहिक श्रेणीक्रम में विभिन्न जातियों की प्रस्थिति के निर्धारण में विविध जातियों के उत्तरदाताओं के मत पर ध्यान दिया जाता है। ए०सी० मेयर, एम०एन० श्रीनिवास, डी०एन० मजूमदार, एस०सी० दुबे, पालिन महार, आदि विद्वानों ने जाति श्रेणीक्रम में जाति की

स्थिति के विश्लेषण में अवलोकन विधि का प्रयोग किया था, जबकि मैकिम मेरियट व स्टैनले फ्रीड ने मत-मूल्यांकन विधि का प्रयोग किया है। एस0सी0 दुबे ने जाति श्रेणीक्रम व्यवस्था में तेलंगाना में तीन गांवों में जाति प्रस्थिति निर्धारण के लिए एक ही आधार प्रयोग किया, जिसमें उन्होंने बताया कि कौन-कौन सी जातियां किन-किन जातियों के साथ भोजन कर सकती हैं। मेयर ने दूसरी ओर सहभोज के आधार को प्रयोग किया, जिसके अन्तर्गत खाना-पानी तथा विभिन्न जातियों के बीच "हुक्का" प्रयोग का आदान-प्रदान सम्मिलित है। पालिन महार ने बहु-अनुमाप (multiple-scaling) प्रविधि द्वारा जातियों की स्थिति निर्धारण उनकी धार्मिक (कर्मकांड) पवित्रता तथा अपवित्रता के आधार पर किया।

(ख) सहभोज पर प्रतिबन्ध (Commensal restriction)

एक व्यक्ति के विभिन्न जातियों के सदस्यों के साथ खान-पान संबंधी अनेक व विस्तृत नियम प्रचलन में हैं। इस विषय पर ब्लन्ट (Blunt) के अनुसार सात महत्वपूर्ण निषेध (taboos) प्रचलित हैं: (i) सहभोज निषेध, जो व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ भोजन खाने के नियम निर्धारित करता है; (ii) रसोई निषेध, जिसमें रसोई बनाने संबंधी नियम हैं कि कौन-कौन व्यक्ति किन-किन व्यक्तियों के खाने योग्य भोजन बना सकते हैं; (iii) खाने के निषेध, जिसमें भोजन के समय अपनाए जाने वाले धार्मिक कृत्यों के विवरण एवं नियम हैं; (iv) पीने के निषेध, जो दूसरे व्यक्तियों के हाथ से पीने का पानी लेने के नियम बताते हैं; (v) भोजन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार का भोजन (कच्चा, पक्का, हरी सब्जी, आदि) एक जाति का सदस्य दूसरी जाति के सदस्यों के साथ खा सकता है; (vi) तम्बाकू या धूम्रपान संबंधी निषेध, जो यह बताता है कि किस व्यक्ति का हुक्का किस जाति का व्यक्ति प्रयोग कर सकता है; (vii) बर्तन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार के बर्तन व्यक्ति को अपवित्रता से बचने के लिए प्रयोग करना या बचना चाहिए।

(ग) सामाजिक भागीदारी पर धार्मिक मान्यताओं की बाध्यता (Compelling religious sanctions on social participation)

सामाजिक अन्तर्क्रिया कलापों पर प्रतिबन्ध लगाने का कारण यह विश्वास है कि शारीरिक सम्पर्क से अपवित्रता (pollution) का सम्प्रेक्षण होता है। इसी प्रकार के विश्वासों के कारण ही जो निम्न जाति के लोग निकृष्ट धन्धों में लगे होते हैं, उन्हें उच्च जाति के लोग अपने से दूर ही रखते हैं। इसी प्रकार गोमांस खाने वाले अनेक निम्न जाति के लोग तथा चमार, धोबी, डोम, आदि सामान्यतया अस्पृश्य माने जाते हैं, और उन्हें हिन्दू लोगों द्वारा पृथक ही रखा जाता है। इसी प्रकार उच्च जाति तथा मध्य जाति के

लोगों के साथ अन्तःक्रिया के लिए, आदर-सत्कार के लिए, दैनिक व्यवहार के लिए तथा धार्मिक क्रिया-कलापों से संबंधित निश्चित व भिन्न-भिन्न नियम बने हुए हैं।

(घ) जातिबाह्य अथवा अस्पृश्य उपस्तर (The Out Caste substratum)

जो जातियां निकृष्ट व मलिनता फैलाने वाले पेशों में लगी होती हैं, उन्हें अस्पृश्य माना जाता है। उन्हें बाह्य जातियां (दलित वर्ग), या अनुसूचित जातियां भी कहा जाता है। इन जातियों के विषय में माना जाता है कि वे आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में रहने वाली प्रजातियों से अवतीर्ण हुईं। बाद में उन्होंने हिन्दू समाज के निम्नतम स्थितियों को स्वीकार कर लिया। इन जातियों के सदस्य आमतौर पर गाँव या बस्ती के बाहर की ओर रहते हैं और मैला साफ करने, जूता बनाने, चमड़ा शोधन, आदि कार्यों से जीविका चलाते हैं। उन्हें उन कुओं से पानी लेने की अनुमति नहीं होती जिनसे उच्च जातियों के लोग पानी लेते हैं। उन्हें जन-सड़कों, स्कूलों, मन्दिरों, शवदाह स्थलों, होटलों तथा चाय की दुकानों आदि के प्रयोग से भी वंचित रखा जाता है। वे उन दैत्यों को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि भी देते हैं जो उनके जीवन पर अधिकार रखते हैं। उनकी उपस्थिति व स्पर्श भी दूसरों को दूषित/अपवित्र कर देंगे, ऐसा माना जाता है।

वर्तमान में जातिवादी लोगों द्वारा थोपे गए निषेध काफी कम हो गए हैं। यद्यपि ये निषेध वैधानिक रूप से हटा दिए गये हैं और अधिकतर उच्च जातियों के हिन्दुओं द्वारा अपवित्रता के डर को भी सामाजिक रूप से नहीं माना जा रहा है, फिर भी कुछ धार्मिक क्रिया-कलापों में प्रतिबन्ध जारी हैं, यद्यपि लौकिक दैनिक जीवन में इन्हें लागू नहीं किया जाता है।

1.4.2 इकाई के रूप में जाति की विशेषताएं (Characteristics of Caste as a unit)

(क) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)

जाति में व्यक्ति की सदस्यता उसके जन्म से निर्धारित होती है। प्रत्येक जाति का अन्य जातियों की तुलना में क्योंकि एक निश्चित दर्जा (rank) होता है, अतः व्यक्ति की उच्च व निम्न प्रस्थिति इस पर निर्भर करती है कि जिस जाति में उसका जन्म हुआ है उसकी कर्मकांडीय प्रस्थिति क्या है। वास्तव में, एक परम्परानिष्ठ हिन्दू के जीवन का प्रत्येक पहलू उसके जन्म पर अटका होता है। उसके घरेलू संस्कार व रीति-रिवाज, उसकी मन्दिर आदि में पूजा, उसकी मित्र मण्डली, और उसका व्यवसाय, सभी कुछ उस जाति के स्तर पर आधारित होते हैं जिसमें उसने जन्म लिया है।

(ख) अन्तर्विवाह (Endogamy)

प्रत्येक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना होता है। इस प्रकार अन्तर्विवाह जाति समूहों के बीच एक स्थायी बाध्य स्थिति है।

(ग) निश्चित व्यवसाय (Fixed Occupation)

प्रत्येक जाति का निश्चित वंशानुगत पेशा होता है। एक पुरानी कहावत है कि एक ब्राह्मण सदैव ब्राह्मण होता है और चमार सदैव चमार होता है। कुछ व्यवसाय गन्दे (unclean) समझे जाते हैं जिस कारण जो व्यक्ति इनमें लगे होते हैं वे अस्पृश्य हो जाते हैं और यदि कोई अन्य इन व्यवसायों को अपनाता है, तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है ताकि वह जाति को दूषित न कर सके। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि ब्राह्मण जाति में सभी ब्राह्मणों को पंडिताई व्यवसाय में ही सदैव लगा रहना है या फिर सभी राजपूतों को रक्षा कार्य में लगने के कारण सेना में ही शामिल होना है। कुछ परिस्थितियों वश एक जाति के सदस्य को दूसरा व्यवसाय करने की अनुमति मिल जाती थी। इसी प्रकार एक ही जाति की विभिन्न उपजातियाँ विविध व्यवसाय अपना लेती है। उदाहरणार्थ, खटिक (कसाई) जाति की चार उप-जातियाँ उत्तर प्रदेश में कसाई, (बेलनवाला), राजगीर (राजगर), रस्सी बनाने वाले (सोमबट्टा) तथा फल बेचने के व्यवसाय में (मेवाफरोष) लगे हैं। व्यवसाय परिवर्तन से जाति परिवर्तन आवश्यक नहीं होता था जब तक कि स्थिति में परिवर्तन न हो। ब्लन्ट के अनुसार जब प्रस्थिति में इस प्रकार का परिवर्तन होता है तब वह तीन रूप धारण कर लेती है : (i) एक नई जाति में पृथक होना (ii) नये समूह का पहले से अस्तित्व वाली जाति में विलय (iii) मौलिक जाति के भीतर ही एक अन्तर्विवाही उपजाति की रचना।

जाति द्वारा थोपे गए व्यवसायिक प्रतिबन्धों के पीछे सामान्यतः धार्मिक उद्देश्य होता है, लेकिन कभी-कभी उनका विशुद्ध आर्थिक उद्देश्य भी होता है। उदाहरण के लिए, ओमैले ने मध्यप्रदेश के एक जिले के सुनारों के सन्दर्भ में कहा है कि वे लोग एक दावत का आयोजन करते हैं जिसमें वे कसम खाते हैं कि वे उन लोगों को जाति से बाहर निकालने का डर दिखाते हैं जो यह रहस्य खोलेंगे कि सोने में कितनी अन्य धातुएं किस मात्रा में मिलाई जाती हैं।

(घ) जाति पंचायत (Caste Panchayats)

प्रत्येक जाति की अपनी समिति होती है जिसे जाति पंचायत कहते हैं। लम्बे समय तक इन पंचायतों का अपने सदस्यों पर काफी प्रभाव था। यद्यपि आज कुछ जाति पंचायतों की समूचे देश में शाखाएं भी हैं क्योंकि संचार माध्यमों का समुचित विकास हुआ है, परन्तु कुछ दशाब्दियों पूर्व तक इन (शाखाओं) का कार्यक्षेत्र इतना सीमित था कि सदस्य आसानी से इकट्ठे हो सकें और एक दूसरे के प्रति जानकारी रख सकें। संचार सुविधा तथा अन्य स्थानीय दशाएं इन पंचायतों का कार्य क्षेत्र निर्धारित करती हैं। इस प्रकार क्योंकि समूची जाति या उप-जाति के लिए एक ही पंचायत होने के आदर्श को प्राप्त करना असम्भव है,

अतः एक जाति या उप-जाति के सदस्य एक संबंधित समूह का निर्माण करते हैं जिसे "बिरादरी" (नातेदारों की समिति) कहा जाता है। यह बिरादरी एक बहिर्विवाही (exogamous) इकाई के रूप में अन्तर्विवाही जाति या उप-जाति की तरह कार्य करती हैं। वह समूह (बिरादरी) जाति या उपजाति के लिए कार्य करता है तथा अपने सदस्यों को अपनी कार्य परिधि के भीतर ही मान्यताओं को मनवाने के लिए बाध्य करता है। इन पंचायतों ने जो अपराध के मामले अपने कार्य क्षेत्र में लिए थे उनमें से प्रमुख थे—दूसरी जाति व उपजाति में भोजन के मामले, जिनके साथ भोजन निषेध था, दूसरी जाति की स्त्री को रखैल के रूप में रखना, विवाहित महिला के साथ अवैध संबंध रखना, विवाह के वायदे को तोड़ना, अदायगी से इनकार करना, छोटे-मोटे झगड़े रीति-रिवाजों का उल्लंघन, आदि। ऐसा करने पर जो दण्ड का विधान अपनाया जाता था उसमें जाति से निकालना, अर्थदण्ड, जाति के लोगों को दावत देना, या शारीरिक दण्ड आदि प्रमुख थे। जाति के सभी सदस्य पंचायत के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होते थे। ब्रिटिश काल में भी ये पंचायतें इतनी शक्तिशाली होती थीं कि न्यायालय द्वारा निर्णय किए गए मामलों को भी पुनर्विचार के लिए ले लेती थीं। इस प्रकार जाति पंचायत एक अर्ध-प्रभुता सम्पन्न (semi sovereign) संस्था थी।

वर्तमान में इन पंचायतों का अस्तित्व क्षीण हो गया है परन्तु अपवादस्वरूप ये काम कर रही हैं।

1.5 जाति की उत्पत्ति (Origin of Caste)

भारत में जाति की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं लेकिन कोई भी सिद्धान्त सही व्याख्या नहीं करता। रिज़ले ने जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भिन्नताओं (racial differences) के कारण बताई, नेसफील्ड तथा इबेट्सन ने पेशे को इसका कारण बताया, अबे डुबॉयस ने ब्राह्मणों की भूमिका को इसका कारण बताया, और हट्टन ने "माना" (Mana) को।

1.5.1 परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)

कुछ पश्चिमी एवं गैर-भारतीय विद्वानों जैसे ह्यू (Hsu) ने हिन्दू समाज को अन्ध विश्वासों पर केन्द्रित समाज बताया है, जिसमें लोग भावमय (abstract) सत्य से प्रलोभित होते हैं तथा इस सत्य को रहस्यवाद द्वारा ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं न कि विज्ञान द्वारा। ये विद्वान मानते हैं कि हिन्दू लोग चरम सत्य (ultimate reality) से निकटता ढूँढ़ते हैं और प्रत्येक वस्तु एवं घटना की व्याख्या ईश्वर तथा धर्म में ढूँढ़ते हैं। जाति जैसी संस्था की उत्पत्ति को ये "ब्रह्मा" के शरीर में खोजते हैं। परम्परात्मक सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रणाली दैवी विधान (divine ordinance) द्वारा स्थापित की गई है या फिर कम से कम ईश्वर के अनुमोदन (divine approval) से तो अवश्य ही। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की मान्यता है कि

जाति प्रणाली मानव निर्मित (man-made) है या फिर कृत्रिम रूप से रचित (artificially-created) है और यह स्तरीकरण की प्रदत्त (ascriptive) प्रणाली है जिसमें प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण जन्म से होता है। परम्परागत सिद्धान्त जाति प्रणाली को एक स्वाभाविक (normal) व प्राकृतिक प्रणाली मानता है। इस सिद्धान्त के दो रूप हैं: मिथकीय (mythical) और आध्यात्मिक (metaphysical)।

मिथकीय कथन एवं पुराण-कथा के अनुसार चार वर्ण ही चार जातियां हैं और ये चारों जातियां ब्रह्म के शरीर के चार अंगों से निकली हैं। इसके अनुसार जाति सामाजिक कार्यों का प्राकृतिक रूप से निर्धारित एक संगठन है तथा एक विशेष जाति में व्यक्ति की सदस्यता धर्म और कर्म संबंधी सिद्धान्तों के आधार पर समझाई जा सकती है।

जाति का आध्यात्मिक (metaphysical) रूप जाति के लक्षणों, कार्यों तथा संस्तरण पर बल देता है। प्रत्येक जाति का अलग कार्य (function) होता है और यह कार्य उस (जाति) के सदस्यों के 'स्वभाव' तथा 'गुणों' पर आधारित होता है। हिन्दू दृष्टिकोण से व्यक्ति का स्वभाव दो गुणों में निहित हैं: गोत्रिका और नामिका। "गोत्रिका" का अर्थ वंशानुगत गुणों से है जो व्यक्ति अपनी वंश परम्परा अथवा गोत्र से प्राप्त करता है, और जिसकी वह अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ भागीदारी करता है। "नामिका" व्यक्ति के गुणों से संबंध रखती है जो कि विशेष रूप से व्यक्ति के अपने होते हैं तथा वह व्यक्ति उन गुणों की परिवार के सदस्यों के साथ भागीदारी नहीं करता है।

'स्वभाव' तथा 'कार्य' (व्यवसाय) को परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। यह जाति के दूसरे लक्षण की व्याख्या करता है; वह है: "निश्चित व्यवसाय"। प्रकार्य (functions) दो प्रकार के होते हैं: सामान्य (ordinary) तथा असामान्य/असाधारण (extraordinary)। सामान्य प्रकार्य वे हैं जिनमें किसी विशेष दक्षता या कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है, जबकि असाधारण प्रकार्य वे हैं जिनको करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। असाधारण प्रकार्य फिर तीन प्रकार के होते हैं: तकनीकी-आर्थिक प्रकार्य (techno-economic) राजनैतिक वैधानिक प्रकार्य (politico-legal) सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकार्य (cultural-religious)। ब्राह्मण सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकार्यों में लगे हैं, क्षत्रिय राजनैतिक-वैधानिक प्रकार्यों में, वैश्य तकनीकी-आर्थिक प्रकार्यों में, और शूद्र सामान्य प्रकार्यों में। प्रथम तीन "द्विज" श्रेणी में आते हैं, क्योंकि उनको पूर्व जन्म में प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था। उपरोक्त तथ्य चार वर्णों की संस्तरणात्मक व्यवस्था की व्याख्या करते हैं, जिन्हें परम्परात्मक सिद्धान्त में चार जातियाँ मानी गयी है। प्रकार्यों में अन्तर के आधार पर संस्तरणात्मक संगठन में खानपान संबंधी बन्धनों का अस्तित्व स्वाभाविक ही है। इन प्रतिबन्धों के अभाव में प्रकार्य विभाजन का उद्देश्य ही पीछे रह जायेगा। अतः समूहों के विभिन्न धार्मिक

क्रियाकलापों एवं विवाह प्रतिबन्धों की व्याख्या स्वयं ही हो जाती है। यही परम्परात्मक सिद्धान्त का आध्यात्मिक पक्ष है।

जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में परम्परात्मक सिद्धान्त विद्वानों द्वारा विशेष रूप से दो कारणों से अस्वीकार किया गया है— प्रथम, यह सिद्धान्त जाति को स्वाभाविक घटना मानता है; द्वितीय, यह चार वर्णों को ही चार जातियां बताता है। इस सन्दर्भ में एम0एन0 श्रीनिवास ने भी लिखा है कि जाति के आधार पर समाज का चार भागों में विभाजन तथ्यों का एक विशुद्ध सरलीकरण मात्र है। जाति व्यवस्था की वास्तविक इकाई ‘वर्ण’ नहीं अपितु ‘जाति’ है, जो एक छोटा अन्तर्विवाही समूह है, जो परम्परागत व्यवसाय अपनाता है तथा जिसे कुछ सांस्कृतिक, धार्मिक व न्यायिक स्वायत्तता प्राप्त है।

1.5.2 ब्राह्मणीय सिद्धान्त (Brahminical Theory)

फ्रांसीसी विद्वान अबे डुबॉयस (Abe Dubois) का मानना है कि भारत में जाति प्रथा का उद्भव और विकास ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई एक चतुर योजना है जो कि ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता चिरस्थायी रखने के लिए रची थी। ब्राह्मणों ने गैर-ब्राह्मणों के साथ खाने-पीने, विवाह तथा सामाजिक संबंधों में प्रतिबन्ध लगा दिए जिससे उनकी धार्मिक पवित्रता बनी रहे जो कि उनके द्वारा किए जाने वाले पुरोहिती कृत्य करने के लिए आवश्यक है। साथ ही उन्होंने स्वयं को ‘ब्राह्मण’ और अन्य ग्रन्थों में ऊँचा पद दिया और अपने लिए विशेषाधिकार और परमाधिकार बना लिए और अन्य सभी लोगों को निम्न पद प्रदान किये।

धुर्य का भी विश्वास है कि जाति की उत्पत्ति में ब्राह्मणों की प्रमुख भूमिका है। अतः वे ब्राह्मण सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनकी मान्यता है कि वे सभी विविध कारक जो जाति-समाज की विशेषता बताते हैं, ब्राह्मणों के उन प्रयत्नों का फल हैं जो उन्होंने स्वयं को आदिवासियों तथा शूद्रों के धार्मिक व सामाजिक सम्पर्क से पृथक रखने तथा ब्राह्मण सभ्यता को ऊँचा बनाए रखने के लिए किए थे।

समाज में जो सामाजिक प्रतिमान इस सर्वसम्माननीय वर्ग (यानि कि ब्राह्मणों) ने स्थापित किया, वह अन्य समूहों ने सम्मान प्राप्त करने के लिए नकल करना शुरू किया। इस प्रकार विवाह संबंधी तथा खान-पान संबंधी मौलिक प्रतिबन्ध, जो समाज में केवल चार वर्गों के विचार पर आधारित थे, प्रत्येक समूह की विशेषताएं बन गए। अतः धुर्य ने स्पष्टतः लिखा है कि ‘‘भारत में जाति इण्डोआर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो कि गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है’’।

हट्टन बहरहाल अनुभव करते हैं कि जाति की उत्पत्ति के विषय में ब्राह्मणीय सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन है। उन्होंने इसके विपक्ष में दो तर्क दिए हैं:

- (i) यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो इसका अर्थ होगा कि जाति का उद्भव तब हुआ होगा जब ब्राह्मणों ने राजनैतिक शक्ति प्राप्त की होगी। लेकिन हट्टन का मानना है कि जाति का उद्भव इतनी विलम्ब से नहीं हुआ होगा।
- (ii) जाति के समान गहरी जड़ों वाली संस्था किसी प्रशासनिक उपाय के द्वारा थोपी नहीं जा सकती है।

1.5.3 प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)

हरबर्ट रिज़ले इस सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रतिपादक रहे हैं, यद्यपि इनके इस सिद्धान्त का अनुमोदन धुर्ये, मजूमदार, वैस्टरमार्क और अन्य विद्वानों ने भी किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृतियों के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति के निर्माण की प्रक्रिया सम्भव हुई। विश्व इतिहास में जब कभी किन्हीं लोगों ने दूसरे लोगों को अपने आधीन किया, विजेताओं ने पराजित लोगों की स्त्रियों को न केवल अपनी रखैल या पत्नी बनाया, अपितु अपनी लड़कियाँ उन्हें देने से मना कर दिया। जब ये दो समूह (पराजित व विजेता) एक ही प्रजाति के तथा एक ही रंग आदि के होते हैं, तो इनमें पूर्ण सम्मिश्रण (amalgamation) हो जाता है। लेकिन यदि वे अलग-अलग प्रजाति या रंग के हों तो विकास की दिशा अलग रास्तों पर चलती है। इस प्रकार उच्च समूह की स्त्रियाँ और निम्न समूहों के पुरुषों के अनियमित मेल-जोल के कारण एक अर्द्ध-नस्ल (half-breed) का वर्ग बन जाता है जिसके सदस्य केवल आपस में ही विवाह करते हैं तथा हर दृष्टि से एक जाति के रूप में कार्य करते हैं।

भारत में भी प्रवासी आर्यों के संस्कारों के बारे में अपने ही विचार थे। वे मूल निवासियों को अपने से निकृष्ट समझते थे। इसके अतिरिक्त, आर्य लोग पितृवंशीय थे जबकि पराजित मूल निवासी मातृवंशीय थे। उन्होंने आदिवासियों की लड़कियों से विवाह तो किया किन्तु अपनी लड़कियों को उन्हें नहीं दिया। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को समाज में निम्नतम स्थान प्रदान किया गया और उन्हें "चाण्डाल" कहा गया। अतः अर्द्ध-नस्ल समूह की उत्पत्ति तथा प्रजाति श्रेष्ठता की भावना परिणामतः जाति व्यवस्था के उत्पत्ति का कारण बन गये।

रिज़ले के प्रजातीय सिद्धान्त का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है। धुर्ये के अनुसार मूल निवासियों की तुलना में अधिक सभ्य एवं गौर वर्ण (fair) होने के नाते आर्यों ने अपना अलगपन दर्शाने की चेष्टा की है। सामाजिक व्यवहार में एकांतिक तथा संस्कारों की पवित्रता में उनका विश्वास मूल निवासियों से भिन्न था। वे मूल निवासियों के बारे में कठोर शब्द प्रयोग करते थे और उनके साथ सामाजिक क्रियाओं में अनेक प्रतिबन्ध लगाते थे।

एन0के0 दत्त, डी0एन0 मजूमदार और वेस्टरमार्क ने भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी प्रजातीय सिद्धान्त का समर्थन किया है। वेस्टरमार्क का कहना है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में श्याम वर्ण के लोग रहते थे। मूल निवासियों की आर्यों के प्रति विद्वेष की भावना तथा आर्यों की उदासीनता जो मूल निवासियों के प्रति उनमें थी, दोनों ही तथ्यों ने आर्यों और अनार्यों में तीव्र भेद विकसित किये। इन्हीं भेदों के कारण जाति व्यवस्था का जन्म हुआ। हट्टन के विचार से भी प्रजाति जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में एक आवश्यक कारक है।

यदि रिज़ले के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाये तब तो जाति व्यवस्था ने केवल भारत में होनी चाहिए बल्कि उन सभी समाजों में भी होनी चाहिए जिन पर अन्य प्रजातीय समूहों ने विजय प्राप्त की। रिज़ले का स्वयं का मत भी यही है कि जाति प्रथा भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह तो स्पष्ट रूप से दक्षिण अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको आदि में भी विद्यमान है।

क्या जाति व्यवस्था भारत की एक अद्वितीय घटना है? (Is Caste System Unique Indian Phenomenon?)

लीच, ड्यूमान्ट, पोकाक, बूगल, होकार्ट, हट्टन, सेनार्ट, हैरोल्ड गूल्ड और श्रीनिवास आदि विद्वानों की मान्यता है कि जाति एक ऐसी घटना है जो कि केवल भारत की ही विशेषता है, जबकि रिज़ले, विलियम क्रुक, आदि की मान्यता है कि जाति एक सार्वभौमिक घटना है। ऐसे विद्वान भी हैं जिन्होंने जाति को नृशास्त्रीय श्रेणी (ethnographic category) में रखा है और इस रूप में जाति भारत में ही हिन्दू सामाजिक संगठन की विशेषता है। लेकिन जो लोग जाति को समाजशास्त्रीय श्रेणी में रखते हैं, वे मानते हैं कि यह (जाति) एक असाधारण कठोरता (exceptional rigidity) वाली वर्ग संरचना है। फ्रेडरिक नार्थ जिन्होंने मुस्लिम समाज की स्तरीकरण प्रणाली का उत्तरी पाकिस्तान में स्वात में अध्ययन किया, यह पाया कि यद्यपि संकीर्ण सांस्कृतिक संदर्भ में वहाँ का प्रतिमान हिन्दू समाज से काफी भिन्न है, फिर भी जाति व्यवस्था वहाँ भी इस रूप में मौजूद है कि सामाजिक समूह व्यवसाय से जुड़े हैं और श्रेणीबद्ध स्थितियाँ (hierarchical ranking) व श्रम संगठन की व्यवस्था हिन्दू जजमानी व्यवस्था के समान है। अतः उसने माना कि सांस्कृतिक घटना के रूप में नहीं परन्तु संरचनात्मक घटना के रूप में जाति व्यवस्था उत्तरी पाकिस्तान में मिलती है। लीच और ड्यूमान्ट तथापि मानते हैं कि संरचनात्मक दृष्टि से भी जाति केवल भारत में ही सीमित है। वे कहते हैं कि जाति संरचनात्मक संगठन की एक विशेष किस्म (species) का संकेत करती है जो सर्व-भारतीय सभ्यता के चिरस्थायित्व रूप से जुड़ी हुई है। यलमैन ने बौद्ध सिंहालियों के अध्ययन में पाया कि वहाँ जाति का सैद्धान्तिक रूप तो है किन्तु व्यवहार में वह नहीं है और यह सिद्धान्त या विचार अन्तर्विवाह, अपवित्रता और पद स्थिति में वहाँ मौजूद हैं। तथापि ये विचार

स्वेच्छा से स्वीकार कर लिए जाते हैं क्योंकि वे धार्मिक आधार पर नहीं बल्कि निकट संबंधी समूह की वरीयता पर आधारित हैं।

1.5.4 व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)

जाति प्रणाली की उत्पत्ति के विषय में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ने सफील्ड व उसके समर्थक डेन्जिल इब्बेटसन विश्वास करते हैं कि जाति की उत्पत्ति को प्रजाति या धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है, बल्कि पेशा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। नेसफील्ड मानते हैं कि एक पेशा की तकनीकी दक्षता वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दे दी जाती थी तथा लोग एक ही पेशे को लम्बे समय तक अपनाते रहते थे और इस प्रकार “व्यावसायिक संघों” (occupational guilds) का अस्तित्व प्रारम्भ हुआ जिनको बाद में “जाति” कहा जाने लगा। उनके अनुसार, जाति प्रथा में संस्तरण (hierarchy) व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता व हीनता की भावना का नतीजा है। उनका मानना है कि किसी भी जाति का उच्च या निम्न दर्जा इस बात पर निर्भर करता है कि तत्संबंधी उद्योग जिसका जाति प्रतिनिधित्व करती है, वह संस्कृति के विकसित या पिछड़ेपन की अवस्था से संबद्ध है। वे धातु शिल्पियों (artisans) का उदाहरण देते हैं जो टोकरी बनाने वालों और धातु का प्रयोग न करने वाले पेशों में लगे लोगों से स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं। यह समझाते हुए कि ब्राह्मणों ने जातीय संस्तरण व्यवस्था में किस प्रकार श्रेष्ठ पद बना लिया, वे कहते हैं कि ब्राह्मण भी “पेशा” की दृष्टि से संस्कारों, बलि देने, यज्ञ, व जप में विशिष्टता लिए हुए थे। क्योंकि उस समाज में सामाजिक जीवन में यज्ञ और बलि का बड़ा महत्व था, इसलिये ब्राह्मण समाज में महत्वपूर्ण और सम्माननीय बन गए। इस प्रकार ब्राह्मण जाति व्यवस्था में प्रथम थे और इसी मॉडल पर अन्य शेष जातियां बनीं। नेसफील्ड ने जाति उत्पत्ति के दो कारण दिए हैं: पेशा या व्यवसाय, और जनजाति का संगठन।

नेसफील्ड का समर्थन करते हुए डेन्जिल इब्बेटसन ने भी जाति की उत्पत्ति को तीन कारकों का परिणाम माना है: (i) जनजाति (ii) संघ (guilds) (iii) धर्म। वह कहते हैं कि जनजातियाँ पेशेवर संघों के रूप में विकसित हुईं और वे (संघ) धार्मिक रूप से कार्य करने लगे और इस प्रकार सामाजिक विकास की प्रक्रिया में उनका जातियों के रूप में विकास हुआ।

अनेक विद्वानों ने नेसफील्ड और इब्बेटसन के सिद्धान्तों की आलोचना की है। सेनार्ट (Senart) ने एक प्रश्न रखा है कि चूंकि अनेक जातियां एक से अधिक पेशों में लगी हैं, वे अपने नाम किस प्रकार रखती हैं? क्या वे अपने प्रमुख (dominant) व्यवसाय पर नाम रखती हैं? सेनार्ट दावा करते हैं कि रूस में अनेक गाँव ऐसे हैं जहाँ समूची जनसंख्या एक ही पेशे में लगी होती है, जैसे, जूते बनाने में या वर्तन बनाने, आदि में। ये गाँव केवल समूहों का एकत्रीकरण नहीं हैं जो कि एक ही समुदाय के रूप में उदित

हुए बल्कि ऐसे समुदाय के रूप में हैं जो केवल एक ही उद्योग में लगे हैं। व्यवसाय समूहीकरण का कारण ही है, अपितु समूहीकरण ही पेशेवर समुदाय के लिए उत्तरदायी होता है। तब फिर भारत में ऐसा क्यों नहीं है?

डी०एन० मजूमदार (1952:292) ने भी नेसफील्ड के विचारों की आलोचना की है, विशेषकर जातीय संस्तरण की, जिसमें पेशों के आधार पर श्रेष्ठता व हीनता की भावना का विकास बताया गया है। उनकी मान्यता है कि जातियों की प्रस्थिति पेशे की श्रेष्ठता व हीनता पर निर्भर नहीं करती है, बल्कि रक्त की शुद्धता की मात्रा और समूहों के एकाकीपन की सीमा पर निर्भर करती है। हट्टन भी विश्वास करते हैं कि नेसफील्ड का व्यावसायिक सिद्धान्त विभिन्न कृषक जातियों के सामाजिक स्तर की व्याख्या नहीं करता है।

1.5.5. केतकर का सिद्धान्त (Ketskars' Theory)

केतकर ने जाति की उत्पत्ति प्रारम्भिक जनजातियों से तथा मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक पक्षपाती प्रवृत्तियों (prejudicial tendencies) से मानी है। उनका विश्वास है कि जातियां विकसित जनजातियां या परिवर्तित (converted) वर्ग हैं। अनेक जनजातियां जो भारत के विभिन्न भागों में रहती थीं, विभिन्न इकाइयों के रूप में मौजूद थीं और अन्तर्विवाह प्रथा के चलन में आने के बाद वे सब यूरोपियन जनजातियों की तरह एक दूसरे से नहीं मिलीं। इनमें से अनेक जनजातियां आपस में संघर्षरत रहीं क्योंकि उनके सरदारों ने या तो सीमा के प्रश्न पर संघर्ष किया था या फिर एक कबीले के किसी व्यक्ति ने दूसरे कबीले की किसी लड़की का अपहरण कर लिया था। इन संघर्षों के कारण लोग दूसरी जनजातियों में विवाह की अवहेलना करते रहे और हर प्रकार से अपनी ही जनजाति के सदस्यों के बीच अन्तर्क्रिया करते रहे। केतकर आगे और मानते हैं कि "जाति व्यवस्था की उत्पत्ति" के विषय में बात करने की अपेक्षा, हमें "जाति के विविध लक्षणों की उत्पत्ति" के विषय में बात करनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक लक्षण के पीछे उसकी उत्पत्ति का एक इतिहास है न कि पूरी जाति व्यवस्था का, क्योंकि जाति व्यवस्था के विभिन्न लक्षणों के विकास की प्रक्रिया में 3000 वर्ष का समय लगा। इस प्रकार केतकर के अनुसार "जाति की उत्पत्ति" कथन का कोई अर्थ नहीं है, यद्यपि अन्तर्विवाह की अपनी उत्पत्ति है, वंशानुगत पेशे और खानपान के प्रतिबन्धों की अपनी उत्पत्ति का इतिहास है, पुरोहितों की प्रभुता (ascendency) और उनकी प्रथाभाव की अपनी उत्पत्ति है, तथा पवित्रता और अपवित्रता की भी अपनी उत्पत्ति है। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक घटना (लक्षण) की उत्पत्ति हो सकती है, लेकिन जब तक "जातियां" जैसे शब्द सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में रहेंगे तब तक "जाति व्यवस्था" की उत्पत्ति के विषय में विचार भी नहीं किया जा सकता।

1.5.6 सेनार्ट का सिद्धान्त (Senarts' Theory)

सेनार्ट ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का स्रोत आर्यों को माना है। उनकी मान्यता है कि जाति व्यवस्था के लक्षण आर्य प्रजाति की सभी शाखाओं में समान रूप से उपयोग और परम्पराओं का अंग हैं और ये समान लक्षण हैं: व्यक्तिगत जीवन, विवाह-भोजन, तथा संस्कारों को नियमित करने का क्षेत्राधिकार, कुछ आराधना के व्यवहार तथा निगमित संगठन आदि। भारतीय, यूनानी और रोमवासी सभी तो आर्य हैं और उनकी सभ्यताएं प्राचीनतम हैं। सेनार्ट इन तीनों में कुछ समानताएं पाते हैं। जिस प्रकार भारत में तीन प्रमुख समूह हैं परिवार, गोत्र और जाति उसी प्रकार जेन (gen), क्यूरिया (Curia) और जनजाति (tribe) रोम में, तथा परिवार, फ्रत्रिय (Pharatria) और फाइल (Phyle) यूनान में हैं। जिस प्रकार गोत्र भारत में बहिर्विवाही समूह है उसी प्रकार रोम में जेन तथा यूनान में फ्रत्रिय भी अपने ही समूह में विवाह संबंध सीमित रखते हैं। भारतीय ब्राह्मण और रोमन पादरी दोनों ही को अनुलोम (Hypergamous) विवाह के अधिकार हैं। उसी प्रकार, जिस तरह भारत में विवाह के बाद स्त्री के गोत्र का परिवर्तन उसके पति के गोत्र में हो जाता है उसी तरह का रिवाज रोम में भी प्रचलित है। भारत के "हुक्का पानी बन्द" (बहिष्कार) रिवाज की तुलना रोम में एक रिवाज (Interdict aquae igni) से की जा सकती है। जैसे भारत में जाति पंचायतें हैं और सरपंच उसका मुखिया और सबसे अधिक शक्तिमान नेता होता है, उसी प्रकार रोम और यूनान में भी इसी प्रकार की शक्तिवान समितियां होती हैं। इस तुलना के आधार पर सेनार्ट मानते हैं कि जाति, प्राचीन आर्यों की संस्थाओं की सामान्य विकसित रूप है। भारत में, तथापि विशेष दशाओं के कारण, जाति ने विशेष रूप धारण किया है।

लेकिन दैहलमन तथा नरमदेश्वर प्रसाद जैसे विद्वानों ने सेनार्ट के सिद्धान्त की आलोचना की है। नरमदेश्वर प्रसाद की मान्यता है कि सेनार्ट से सहमति कठिन है क्योंकि उनके द्वारा दिए गए ऐतिहासिक समानान्तर साक्ष्य उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था थी ही नहीं जैसा कि सेनार्ट ने बताया, बल्कि यह तो ब्राह्मण युग में विकसित हुई।

1.5.7 हट्टन का "माना" सिद्धान्त (Hutton's Theory of Mana)

हट्टन ने आदिम अवधारणा (conception) "माना" पर जातियों की उत्पत्ति के लिए जोर डाला है, जिसका समर्थन शरद चन्द्र राय, राइस तथा स्मार्ट जैसे विद्वानों ने किया है। हट्टन के अनुसार "माना" एक अवैयक्तिक, अलौकिक तथा अदृश्य शक्ति है जो व्यक्तियों, वस्तुओं व स्थानों में मिलती है। यह विश्वास किया जाता है कि "माना" को व्यक्तियों को हानि पहुंचाने की शक्ति है। जहां पर भी "माना" में विश्वास प्रचलित है वहाँ एक संरक्षक (protective) उपाय के रूप में "निषेध" में भी विश्वास मिलता है। अतः एक जनजाति के सदस्यों को दूसरी जनजातियों के "माना" से बचाने के लिए उन पर खान-पान, अन्तर्विवाह और पारस्परिक अन्तःक्रिया संबंधी निषेध लगाये गये थे। हट्टन का कहना है कि जनजातियां अपरिचितों के खाने को खतरनाक मानती हैं। अतः दूसरों के साथ सहभोज पर प्रतिबन्ध तथा सम्पर्क रखने

पर रोक इस विश्वास पर आधारित है कि ये (सहभोज और सम्पर्क) अपरिचितों के खतरनाक “आत्मा-पदार्थ” (soul-matter) से संदूषित (infected) हो सकते हैं।

सहभोज के निषेधों की तरह ही अन्य निषेध भी लोगों को “माना” से बचाने के लिए लगाए गए। हट्टन मानना है कि “माना” सिद्धान्त अन्य धर्मों में भी माना जाता है। बौद्धों में यह “इधि” (Iddhi), मुसलमानों में “कुदरत” और हिन्दुओं में “शक्ति” नाम से यह परिचित है। तथापि ऐसा लगता है कि ऋग्वैदिक आक्रमणकारियों के रूप में जब आर्य भारत में आये तो उनमें जो श्रेणीकृत (graded) सामाजिक वर्ग थे उनके सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव के कारण ही हमारे उस समाज में सामाजिक प्राथमिकता का सिद्धान्त स्थापित हुआ जो पहले से ही निषेधों के कारण पृथक्कृत (isolated) समूहों में विभाजित था।

डी०एन० मजूमदार ने हट्टन की “माना” के आधार पर जाति की व्याख्या की आलोचना की है। वे मानते हैं कि दूसरे समाजों में भी जनजातियां “माना” में विश्वास करती हैं, लेकिन हमें वहाँ जाति व्यवस्था नहीं मिलती। भारत में यह (जाति व्यवस्था) प्रजातीय संघर्षों एवं भेदों का फल है।

अन्त में जाति की उत्पत्ति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि “विविध कारकों” वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह मानना अनुचित नहीं होगा कि भारत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कारकों में प्रमुख इस प्रकार हैं प्रजातीय-भिन्नताओं के कारण आर्यों की मूल निवासियों से श्रेष्ठता की भावना, ब्राह्मणों का एकाधिकार पूर्ण पुरोहितपन, पेशों की भिन्नता, और संस्कारों की पवित्रता और अपवित्रता से सम्बद्ध धार्मिक विचार जो कि आरम्भ में शूद्रों (मूल निवासियों) पर लागू किये गये थे और बाद में कुछ पेशों के प्रति वैचारिक अपवित्रता संबंधी विचार के कारण अन्य समूहों पर भी लागू किये गये। इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि जाति व्यवस्था के विकास में अनेक कारकों का योग रहा है। समूहों की विखण्डन की प्रवृत्ति, एवं एकता की भावना तथा प्रत्येक जाति में “हम भाव” को कुछ निम्न सामाजिक-राजनैतिक कारकों द्वारा प्रश्रय मिला; जैसे, राज्य द्वारा कठोर सैनिक नियंत्रण का अभाव, कानून और प्रथा संबंधी समान स्तर को लागू करने के लिए शासकों की अनिच्छा, विविध समूहों की भिन्न प्रथाओं को वैध मानने के लिए उन (शासकों) की तत्परता, तथा घटनाओं को अपने आप समायोजन करने के लिए समय देने की उनकी प्रवृत्ति। इन सभी कारकों ने कुछ भिन्नताओं पर आधारित जाति के निर्माण को प्रोत्साहित किया।

1.6 सारांश

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति व्यवस्था को समाज में स्तरीकरण के रूप में तथा सामाजिक असमानता की प्रघटना के रूप में देखा गया है। इसके अन्तर्गत समाज के कुछ संरचनात्मक पक्ष होते हैं और समाज अपने सदस्यों को विभिन्न सामाजिक स्थितियों में बाँट देता है। जाति को एक इकाई एवं व्यवस्था की दृष्टि से देखा जा सकता है। इकाई के रूप में जाति एक बन्द कोटि वाला स्थिति समूह है अथवा एक

ऐसा समूह है जिसमें सदस्यों की प्रस्थिति उनका व्यवसाय, जीवन साथी को चुनने का क्षेत्र तथा दूसरे सदस्यों के साथ अन्तर्क्रिया सभी कुछ निश्चित होता है। व्यवस्था के रूप में जाति का संबंध, अन्तर्सम्बन्ध प्रस्थितियों और जातियों के बीच उस प्रतिमानित अन्तःक्रिया से है जो विभिन्न प्रतिबन्धों के संग्रह पर आधारित हैं

जाति एवं वर्ण भिन्न धारणाएँ हैं। उपजाति, जाति का विभाजन है। जनजाति जाति से धर्म, भौगोलिक पृथक्करण, भाषा, आर्थिक पिछड़ेपन एवं राजनैतिक संगठन के आधार पर भिन्न है। जाति और वर्ग दोनों ही प्रस्थिति समूह हैं। जाति एक वंशानुगत समूह होता है जिसकी एक निश्चित कर्मकाण्डी प्रस्थिति होती है। जबकि वर्ग सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर परिभाषित होता है। व्यवस्था के रूप में जाति की विशेषताएँ हैं— जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम, सहभोज पर प्रतिबन्ध, धार्मिक मान्यताओं की बाध्यता, जाति वाह्य अथवा अस्पृश्य उपस्तर आदि। इकाई के रूप में जाति की विशेषताएँ हैं— प्रदत्त प्रस्थिति, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय, जाति पंचायत आदि।

1.7 सन्दर्भ सूची

1. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी— भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. तेजस्कर—ओजस्कर पाण्डेय—समाज कार्य दर्शन (2009)— भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल—लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)—इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा— सामाजिक समस्याय (2008)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा—भारतीय समाज (2007)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा० अवतार सिंह—भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा० गणेश पाण्डे—अपराध शास्त्र (2008)— राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—विधि शास्त्र(2006)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय, भोपाल)—डा० शैफाली यादव
10. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा० अभय सिंह—सूचना का अधिकार अधिनियम 2005, (2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा० आर०के० अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन

13.डा० इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.7.1-सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1.सी०पी० अरोरा-विविध अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
- 2.डा० टी०पी० त्रीपाठी-सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)- इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
- 3.प्र० इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
- 4.डा० एस०के० कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1)जाति की उत्पत्ति संबंधी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
- (2)जाति की सरंचनात्मक एवं सांस्कृतिक अवधारणा के विषय में आप क्या जानते हैं?
- (3)जाति, वर्ण, उपजाति तथा जनजाति किस प्रकार भिन्न हैं?
- (4)जाति की विशेषताओं की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

एलएलएम0 प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-4: आधुनिकीकरण और समुदाय विधि

इकाई-2: जातियों के सम्बन्ध में संवैधानिक उपबन्ध

इकाई संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 विघटनकारी तत्व के रूप में जाति

2.3 अनुसूचित जातियाँ

2.4 अनुसूचित जनजातियाँ

2.4.1 जनजाति शोषण एवं असंतोष

2.4.2 जनजाति समस्याएँ

2.5 अन्य पिछड़ी जातियाँ/वर्ग

2.6 सुधारवादी व कल्याणकारी कार्यक्रम

2.6.1 अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराध

2.7 महत्वपूर्ण संवैधानिक उपबन्ध एवं सशक्तीकरण

2.7.1 अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ

2.7.2 पिछड़े वर्गों के लिए उपबन्ध

2.7.3 अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचारों का निवारण) अधिनियम, 1989

2.7.4 अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए राष्ट्रीय कमीशन

2.7.5 नागरिक अधिकारों के संरक्षण का अधिनियम, 1955

2.7.6 पिछड़े वर्गों के लिए राष्ट्रीय कमीशन अधिनियम, 1993

2.8 सारांश

2.9 सन्दर्भ सूची

2.9.1 सहायक सन्दर्भ सूची

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के कारण जो ऊँच-नीच, भेदभाव, अस्पृश्यता, अपमान, अवसरों की असमानता तथा शैक्षित व आर्थिक पिछड़ापन व्याप्त है, उसे कोई भी कल्याणकारी राज्य सहन नहीं कर सकता है। अपने कल्याणकारी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु राज्य द्वारा विधि का उपयोग बहुतायत से किया जाता है। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राज्य द्वारा विधि के माध्यम से न केवल शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित की जाती है वरन् सामाजिक परिवर्तनों को भी प्रेरित किया जाता है। पूर्व में यह चर्चा की जा चुकी है कि विधि सामाजिक परिवर्तन का उपकरण है। इस दृष्टि से जाति व्यवस्था द्वारा उद्भूत उपरोक्त स्थिति को बदलने एवं समस्याओं से निपटने के लिए भारतीय विधि में अनेकानेक उपबन्ध किए गए हैं। अस्पृश्यता की समाप्ति, जाति के आधार पर भेदभाव का प्रतिषेध, अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण व्यवस्था आदि अनेक विधिक नीतियों को अपनाया गया है जो भारतीय संविधान में उपबन्धित हैं। इन्हीं नीतियों के अनुपालन में अनेक विधायी एवं प्रशासनिक उपाय किए गए हैं जिनसे अनुसूचित जातियों का सशक्तीकरण संभव हो सका है।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-IV की इकाई-2 का उद्देश्य है कि आप भारतीय समुदाय में व्याप्त जाति की अवधारणा एवं उसके परिणामों को समझ सकें। आप यह भी जान सकें कि विधि द्वारा अनुसूचित जातियों का क्यों एवं किस प्रकार सशक्तीकरण किया गया है। संक्षेप में इकाई का उद्देश्य है कि आप निम्नलिखित बिन्दुओं को आत्मसात कर सकें।

- विघटनकारी तत्व के रूप में जाति
- अनुसूचित जाति एवं जनजातियों की समस्यायें
- अन्य पिछड़ा वर्ग
- सुधारवादी व कल्याणकारी कार्यक्रम
- महत्वपूर्ण संवैधानिक उपबन्ध एवं सशक्तीकरण

2.2 विघटनकारी तत्व के रूप में जाति (Caste as a divisive factor)

दलितों (शूद्रों) पर ब्राह्मण काल या उत्तर वैदिक काल से ही अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। उन्हें यज्ञशाला में जाने की अनुमति नहीं थी। खाती, लोहार और धोबी के बर्तनों को साफ करके दूसरे लोग प्रयोग कर सकते थे, लेकिन शूद्र (चाण्डाल) द्वारा प्रयोग किए बर्तन कोई अन्य प्रयोग नहीं कर सकता था। कौटिल्य ने मौर्य युग में इन्हें इतना निम्न माना कि वह इनसे बचने की सलाह देते थे। मुस्लिम काल में, पूना, मद्रास, आदि स्थानों में शूद्रों पर कुछ प्रतिबन्ध लागू थे, जैसे कि वे सूर्यास्त के बाद नगर में प्रवेश नहीं कर सकते थे क्योंकि उनकी छाया उच्च जातियों को अपवित्र कर सकती थी। ब्रिटिश काल की अवधि में भी 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मंदिरों में शूद्रों का प्रवेश निषेध था। ग्रामों में उनके लिए पृथक कुएं थे। उनके प्रवेश के संदर्भ में महात्मा गांधी ने 1933 में लिखा था, कि मंदिर प्रवेश ही एक ऐसा आध्यात्मिक कार्य है जो 'अस्पृश्यों' की स्वतंत्रता का सन्देश होगा और उन्हें आश्वस्त करेगा कि वे ईश्वर के सामने जाति से बाहर नहीं है। लेकिन एक वर्ष बाद उन्होंने लिखा कि उनकी कोई इच्छा नहीं है कि शूद्रों के लिए मंदिरों को खोला जाये जब तक हिन्दू जाति का मत इसके लिए पक कर तैयार न हो जाये। उन्होंने कहा कि यह हरिजनों के मंदिर प्रवेश के स्वीकार करने का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह हिन्दू जाति के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वे शूद्रों के मंदिर प्रवेश को सुनिश्चित करें।

मैला सफाई व्यवसाय के कारण हरिजनों के बहिष्कार के संदर्भ में गांधी जी ने कहा कि पैतृक व्यवसाय स्वाभाविक व्यवस्था हो सकता है लेकिन आदर्श प्रचलन नहीं उन्होंने कहा कि यह आदर्श आधुनिक समाज के प्रजातांत्रिक आदर्शों के अनुकूल भी नहीं है। उन्होंने व्यावसायिक गतिशीलता की सीमाओं का भी सन्दर्भ दिया। इस कथन की प्रतिक्रिया स्वरूप अम्बेडकर ने व्यंग्यात्मक रूप में कहा: "एक मेहतर को यह बताने का क्या लाभ है कि एक ब्राह्मण भी मेहतर का काम करने को तैयार है जबकि यह स्पष्ट है कि भले ही ब्राह्मण सफाई का काम करे, वह उन नियोग्यताओं का शिकार कभी नहीं हो सकता है जो कि जन्मजात मेहतर (भंगी) को भोगनी पड़ती है।" यह सत्य है कि भारत में व्यक्ति उच्च या निम्न प्रस्थिति अपने जन्म से प्राप्त करता है, न कि कार्य से। अतः मेहतरों के झूठे अभियान के समक्ष निवेदन करना या उन्हें प्रेरित करना और बताना कि सफाई करने का कार्य आदर्श कार्य है और उन्हें शर्मिन्दा होना चाहिए, वास्तव में इन असहाय वर्गों की हंसी उड़ाना है।

बाह्य जातियों के विरुद्ध लगाए गए कुछ निषेध इस प्रकार रहे हैं जिन्होंने जाति को विघटनकारी बना दिया:

- आदि द्रविड़ सोने-चाँदी के आभूषण नहीं पहनेंगे।
- पुरुषों को घुटने से नीचे तथा कूल्हों (कमर) से ऊपर वस्त्र धारण करने की अनुमति नहीं होगी।

- पुरुष कोट, कमीज या बनियान नहीं पहनेंगे।
- आदि द्रविड़ को अपने बाल काटने की अनुमति नहीं होगी।
- आदि द्रविड़ को घरों में मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त कोई अन्य बर्तन प्रयोग करने की अनुमति नहीं होगी।
- उनकी स्त्रियाँ अपने शरीर का ऊपरी भाग नहीं ढकेंगी।
- उनकी स्त्रियों को फूल या मेहन्दी के प्रयोग की अनुमति नहीं होगी।
- पुरुषों को धूप या वर्षा से अपने शरीर को बचाने के लिए छाता प्रयोग करने की अनुमति नहीं होगी और न ही उन्हें चप्पल आदि पहनने की अनुमति होगी।

सत्य तो यह है कि आज भी अस्पृश्यों के प्रति लोगों का दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं हुआ है। जहाँ कहीं राजकीय विभागों व विभिन्न राज्य समर्थित एजेन्सियों द्वारा उनकी दशा सुधारने के उपाय एवं कल्याण कार्य प्रारम्भ किए गए हैं, वहीं समाज के शत्रुओं द्वारा सामाजिक तोड़फोड़ की कार्यवाही की गई है। उदाहरणार्थ, कुछ स्कूलों में अनुसूचित जाति के छात्रों को पृथक कर दिया जाता है और एक ही कक्षा में पृथक बेंचों या कोने में बैठाया जाता है। कुछ समय पूर्व एक राज्य के एक सरकारी विभाग के प्रधान द्वारा एक सूचना जारी की गई कि दो अक्टूबर को उस विभाग के अनुसूचित जाति सदस्यों एवं विभाग के अन्य कर्मचारियों के लिए एक सहभोज की व्यवस्था की जाये। सहभोज की व्यवस्था निःसन्देह की गई, लेकिन उच्च जाति के कर्मचारियों ने अनुसूचित जाति कर्मचारियों से कहा कि क्योंकि यह एक विशिष्ट अवसर था, अतः वे उन्हें पहले भोजन कराना चाहेंगे और उन्हें भोजन स्वयं परोसेंगे भी। जब अनुसूचित जाति कर्मचारी भोजन कर चुके तो उनसे कहा गया कि वे आराम करें और शेष लोग स्वयं सेवा करके भोजन कर लेंगे। एक दूसरे राज्य में एक छात्रावास में अनुसूचित जाति तथा शेष हिन्दू जाति के छात्र एक साथ रहते थे, किन्तु उन्हें पृथक कमरे देकर पृथक कर दिया गया। शेष छात्रों के भोजन पात्र कर्मचारियों द्वारा साफ किए जाते थे, लेकिन अनुसूचित जाति के छात्रों को अपने बर्तन स्वयं साफ करने पड़ते थे। कुछ वर्ष पूर्व जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में अनुसूचित जाति छात्रों द्वारा सामान्य मैस (common mess) में भोजन करने के विषय पर एक हड़ताल हुई। यह स्थिति कुछ भी नहीं है अगर इसकी तुलना कई राज्यों में अनुसूचित जातियों के कृषि श्रमिकों और उनकी पत्नियों के साथ अपमानजनक शोषक व्यवहार से की जाये। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है कि तभी बिहार में अपने 'शोषकों' को दण्डित करने के उद्देश्य से उच्च व निम्न जाति हिन्दुओं द्वारा पृथक-पृथक सेनाओं का गठन किया गया है। कुछ वर्ष पूर्व ही बिहार में हुए नर संहार वर्तमान स्थिति की ओर संकेत करने के लिए काफी है।

जब तक अनुसूचित जाति के लोगों पर विशेष ध्यान न दिया जायेगा तथा उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति को ऊंचा न उठाया जायेगा, तब तक ये लोग राष्ट्र को उपलब्ध सामान्य सुविधाओं का लाभ नहीं

उठा सकते। गांधी जी का भी मत यही था कि जब तक हम हरिजनों को अपने भाइयों जैसा नहीं मानते तब तक हम विश्व बन्धुत्व की बात नहीं कर सकते। अस्पृश्यता समाप्त करने के लिए चलाया जाने वाला सम्पूर्ण आन्दोलन इसी विश्व बन्धुत्व की स्थापना के लिए एक आन्दोलन है।

2.3 अनुसूचित जातियाँ (The Scheduled Castes)

अनुसूचित जाति शब्द साइमन कमीशन द्वारा 1935 में प्रयोग किया गया था जो कि अस्पृश्य लोगों के लिए प्रयोग में लाया गया। अम्बेडकर के अनुसार आदिकालीन भारत में इन्हें 'भग्न पुरुष' (broken men) या 'बाह्य-जाति' (out castes) माना जाता था। अंग्रेज उन्हें 'दलित वर्ग' (depressed class) कहते थे। 1931 की जनगणना में उन्हें 'बाहरी जाति' (exterior caste) के रूप में वर्गीकृत किया गया था। महात्मा गांधी ने उन्हें 'हरिजन' (ईश्वर के बालक) की संज्ञा से पुकारा। अस्पृश्य जाति में शिक्षित लोगों ने इस नामकरण को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे सोचते थे कि 'हरि के जन' कहकर असमानता को जन्म देने वाली व्यवस्था को समाप्त करने की अपेक्षा उनकी दशा में सुधार लाने के प्रयत्न किए जा रहे थे। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भी साइमन कमीशन द्वारा गढ़े गए शब्द का प्रयोग किया।

साइमन कमीशन ने किसी जाति को अनुसूचित जाति में सम्मिलित करने के लिए 13 आधार बताए हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

- क्या वह जाति उच्च जाति को अपने स्पर्श या निकटता से अपवित्र करती है?
- क्या वह जाति मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकती?
- क्या वह जाति स्कूलों, कुओं और अन्य सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग से वंचित की जाती है?
- क्या उस जाति के लिए ब्राह्मण पुरोहित का कार्य कर सकते हैं?
- क्या उस जाति के लिए धोबी, दर्जी, नाई कहार आदि कार्य कर सकते हैं?
- क्या वह जाति ऐसी है जिसके हाथ से हिन्दू पानी ले सकता है?
- क्या उस जाति का शिक्षित व्यक्ति सामान्य सामाजिक आदान-प्रदान में उच्च जाति के व्यक्ति के द्वारा समान समझा जाएगा?
- क्या वह जाति अपने ही अज्ञान, अशिक्षा व गरीबी के कारण 'दलित' है और क्या इनके (अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी) न होने से वह सामाजिक रूप से निर्योग्य नहीं हो सकती?
- क्या वह जाति अपने व्यवसाय के कारण 'दलित' मानी जाती है?

अनुसूचित जातियों की सूची में कुछ प्रमुख जातियाँ हैं: चुहड़ा, भंगी, चमार, डोम, पासी, रैगर, मोची, राजबन्सी, दोसड़, शानन, थियान, पेरेयां तथा कोरी।

डी0एन0 मजूमदार ने दलित जातियों की स्थिति की समीक्षा करते हुए कहा कि ये जातियाँ सब राज्यों में दलित नहीं हैं। एक ही जाति एक क्षेत्र में दलित हो सकती है, लेकिन दूसरे क्षेत्र में सामाजिक व राजनैतिक नियोग्यताओं से पीड़ित नहीं भी हो सकती है। कभी-कभी एक ही जाति के अधिकार व सामाजिक नियोग्यताएं आस-पास के जिलों में भी अलग-अलग होते हैं। जहाँ दलित जाति के सदस्यों की संख्या कम होती है। वहाँ नियोग्यताओं में कठोरता है और जहाँ संख्या की दृष्टि से वे बलवान होते हैं। वहाँ नियोग्यताएँ शिथिल होती जाती हैं। जहाँ जातियाँ एक ही नृजातीय मूल (ethnic stock) की होती हैं वहाँ सामाजिक नियोग्यताएँ अधिक नहीं होतीं और केवल उन्हीं पर लागू होती हैं जिनका कार्य अपमानजनक या पतित हो। जहाँ उच्च जाति के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं है और अधिकतर जनसंख्या दलितों की है, वहाँ समारोह संबंधी अपवित्रता का स्तर भी कम हो जाता है और निम्न जातियों के लिए नियोग्यताएँ भी कम हो जाती हैं। एक जाति हो सकती है, परन्तु उस जाति का वह सदस्य जो धनी हो गया है, जिसके पास सम्पत्ति है और जो जीवन में सफलताएँ प्राप्त कर चुका है, उसे उच्च सामाजिक स्तर में स्वीकार कर दिया जाता है और यहाँ तक कि उच्च जाति में से विवाह कर पत्नियाँ रख लेता है।

2.4 अनुसूचित जनजातियाँ

भारतीय जनजातियों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं कि उनमें से अधिकांश पृथक भूभागों में रहते हैं, उनकी आजीविका के प्रमुख स्रोत कृषि और वन उत्पादनों को एकत्रित करना है, वे लाभ के लिये खेती नहीं करते, वे अभी भी वस्तु-विनिमय (barter) पर निर्भर रहते हैं, वे अपनी आमदनी का अधिक भाग सामाजिक और धार्मिक उत्सवों पर व्यय करते हैं, और बड़ी संख्या में वे निरक्षर हैं और बेईमान जंगल के टेकेदारों और साहूकारों द्वारा सताये जाते हैं।

2.4.1 जनजाति शोषण और असंतोष (Tribal Exploitation and Unrest)

सदियों से जनजातियाँ भारतीय समाज का एक असभ्य भाग समझी जाती हैं। जनजातियों के लोग जंगलों में और पहाड़ियों पर रहते थे और उनका अपने तथाकथित सभ्य और विकसित पड़ोसियों से सम्पर्क आकस्मिक से अधिक नहीं था। चूँकि जनसंख्या के दबाव नहीं थे, इसलिये उनके क्षेत्रों में घुसने का और उन पर बाहरी मूल्य और विश्वास थोपने का कोई प्रयास नहीं किया गया। परन्तु जब अंग्रेजों ने देश में अपनी स्थिति को संगठित किया तो उनके उपनिवेशीय आकांक्षाओं और प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक हो गया कि पूरा देश एक प्रभाव संचार व्यवस्था से जोड़ दिया जाये। अंग्रेजों ने भूस्वामित्व और

भूराजस्व की प्रणाली को आरंभ किया। वार्षिक करों को तिगुना कर दिया गया जो कि जनजाति के किसानों की भुगतान क्षमता से परे था। जनसंख्या के बढ़ते दबाव के कारण कई बाहर के व्यक्ति भी जनजाति क्षेत्रों में बसने लगे। अपने पैसे की शक्ति से वे ऋण की सुविधा लोगों को घर बैठे उपलब्ध कराने लगे। प्रारम्भ में इसने जनजातियों को राहत पहुंचाई परन्तु धीरे-धीरे यह प्रणाली शोषण करने लगी। कानून की नई-नई खुली कचहरियों ने शोषकों की सहायता की। पहले आर्थिक और बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने जनजातियों के नेताओं को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने जनजातियों के लोगों को संगठित कर आंदोलन आरंभ किया। वंचना (deprivation) की भावनाओं के बढ़ने से जन आन्दोलन और संघर्ष भी बढ़े। प्रारम्भ में वे शोषण करने वालों और उनके अधिकारों को हड़पने वालों के विरुद्ध थे, परन्तु अन्त में वे सरकार और शासकों के विरुद्ध हो गये।

जनजाति अशान्ति और असंतोष इस प्रकार कई उत्तरदायी कारकों का संचित (cumulative) परिणाम था। इसके प्रमुख कारण थे :

- अकर्मण्यता, उदासीनता और प्रशासकों और अफसरों में जनजाति लोगों की शिकायतों को दूर करने में सहानुभूति का अभाव।
- जंगल के कानूनों और नियमों का कठोरपन।
- जनजाति के लोगों की जमीनों को अजनजाति के व्यक्तियों के कब्जे में जाने की रोक के लिये कोई कानून नहीं होना।
- ऋण की सुविधाओं का अभाव।
- जनजाति के लोगों के पुनर्वास के लिये सरकारी कार्यवाही में अकुशलता।
- जनजाति समस्याओं को हल करने में राजनीतिक अभिजनों में अभिरुचि और सक्रियता का अभाव।
- उच्चस्तरीय समितियों की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में विलम्ब।
- सुधारक (reformatory) उपायों की कार्यान्विति में पक्षपात।

संक्षेप में जनजाति अशान्ति के कारणों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कहा जा सकता है।

2.4.2 जनजाति समस्याएं (Tribal Problems)

जनजाति के व्यक्ति जिन प्रमुख समस्याओं का सामना करते हैं वे हैं:

- उनके पास अलाभकर ज़मीनें होती हैं जिससे उनकी पैदावार कम होती है और इस कारण वे सदैव कर्ज़ में डूबे रहते हैं।
- जनसंख्या का केवल एक छोटा सा प्रतिशत ही व्यावसायिक गतिविधियों के द्वितीय एवं तृतीय क्षेत्रों में भाग लेता है।
- आदिवासी क्षेत्रों में ज़मीन का काफी बड़ा हिस्सा कानून के ज़रिये गैर-आदिवासियों को हस्तान्तरित कर दिया गया है। आदिवासियों की मांग है कि ये ज़मीन उन्हें वापस की जाये। दरअसल में आदिवासी जंगल का उपयोग करने और उसके जानवरों का शिकार करने में अधिक स्वतंत्र थे। जंगल उन्हें न केवल मकान बनाने के लिये सामग्री उपलब्ध कराते हैं बल्कि उन्हें ईंधन, बीमारियों को ठीक करने के लिए जड़ी बूटियां, फल, जंगली शिकार इत्यादि भी देते हैं। उनका धर्म उन्हें विश्वास दिलाता है कि उनकी कई आत्माएं (वन देवता और वन देवी) पेड़ों और जंगलों में रहती हैं। उनकी लोक गाथाओं में मानवों और आत्माओं के संबंधों का प्रायः वर्णन मिलता है। इस प्रकार वन के प्रति भौतिक और भावनात्मक लगाव के कारण आदिवासियों ने सरकार द्वारा उनके पारंपरिक अधिकारों पर लगाये गये अंकुशों पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की है।
- जनजाति विकास कार्यक्रमों ने आदिवासियों के आर्थिक स्तर को उठाने में अधिक सहायता नहीं की। अंग्रेजों की नीति ने आदिवासियों का कई प्रकार से भीषण शोषण किया क्योंकि उन नीतियों ने ज़मींदारों, भूस्वामियों, साहूकारों, जंगल के ठेकेदारों और आबकारी, राजस्व और पुलिस अधिकारियों का पक्ष लिया।
- बैंकिंग सुविधाएं आदिवासी क्षेत्रों में इतनी अपर्याप्त हैं कि आदिवासियों को प्रमुखतया साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिवासियों की इसलिये यह मांग है कि कृषि ऋण राहत कानून बनाये जायें जिससे कि उन्हें उनकी गिरवी रखी हुई ज़मीन वापस मिल सके।
- आदिवासियों में से 90% खेती करते हैं और उनमें से अधिकांश भूमिहीन हैं और स्थान बदल-बदल कर स्थानान्तरित कृषि करते हैं। उन्हें खेती के नये तरीके अपनाने में मदद करनी चाहिये।
- रहे हैं और उन्होंने अस्पताल भी खोले हैं परन्तु वे आदिवासियों को अपनी संस्कृति से विमुख करने के भी उत्तरदायी हैं। ईसाई मिशनरियों ने कई बार उन्हें भारत सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये भी भड़काया है।

2.5 अन्य पिछड़ी जातियाँ/वर्ग (Other Backward Castes/Classes)

अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए आरक्षण की सुविधा स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संविधान द्वारा दी गई थी, किन्तु अन्य पिछड़ी जातियों/वर्गों के लिए आरक्षण 7 अगस्त 1990 को जनता दल सरकार द्वारा घोषित किया गया। 27% स्थानों को 3,742 पिछड़ी जातियों और वर्गों के लिए सुरक्षित किया गया। यह मण्डल आयोग की सिफारिशों के अनुपालन में किया गया। आयोग ने 31 दिसम्बर, 1980 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। 1982 में इस पर लोक सभा तथा राज्य सभा दोनों में ही चर्चा की गई थी। तत्पश्चात् यह प्रकरण परीक्षण हेतु सचिवों की एक समिति को भेज दिया गया था। यह प्रकरण संसद के दोनों सदनों में कई बार विचारार्थ प्रस्तुत किया गया किन्तु कोई भी निर्णय न लिया जा सका। मण्डल आयोग की सिफारिशों की अचानक घोषणा तत्कालीन प्रधानमंत्री वी०पी० सिंह का राजनैतिक निर्णय कहा गया। उन्होंने जाति और जाति सूचकों (indicators) के चयन में आने वाली गति, तीव्रता, एवं औचित्य को प्रभावित किए बिना ही यह निर्णय लिया था।

आयोग ने पिछड़ेपन की पहचान के लिए तीन सूचकों का प्रयोग किया था: सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक। सामाजिक सूचकों के चार आधार थे, शैक्षिक सूचकों के तीन तथा आर्थिक सूचकों के चार थे। इस प्रकार कुल ग्यारह सूचक थे। प्रत्येक सूचक को जो गुरुभार (weightage) दिया गया वह मनमाना (arbitrary) तथा विवेकहीन था। सामाजिक सूचकों को 3 अंकों का गुरुभार, शैक्षिक सूचकों को 2 अंकों का, तथा आर्थिक सूचकों को एक अंक का गुरुभार निर्धारित किया गया। जिन जातियों को 50% अंक प्राप्त हुए, अर्थात् 11 अंक या ऊपर, उन्हें पिछड़ी जातियों की सूची में रखा गया।

मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के निर्णय ने छात्रों में विस्तृत आक्रोश पैदा कर दिया। समूचे देश में आन्दोलन भड़क गए। बहुत से परिवारों को अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लाभप्रद नौकरी प्राप्त करने की संभावनाएं पहले से ही बहुत मन्द हैं क्योंकि देश में बेरोजगारी अत्यधिक है। बहुत से छात्र बेरोजगारी या अर्द्ध रोजगार की संभावनाओं से डरे हुए रहते हैं। अतः ऐसी स्थिति में सरकार को चुनावी निर्णय कि नौकरियों में 27.0% का अतिरिक्त आरक्षण निश्चय ही युवकों में कुण्ठा पैदा करने का यथेष्ट कारण था।

इससे पूर्व भी न्यायमूर्ति एम०एस० बेग की अध्यक्षता में अल्पसंख्यक आयोग ने मण्डल आयोग की सिफारिशों के आधार पर पिछड़ी जातियों को मान्यता देने के विरुद्ध अपनी रिपोर्ट में सावधान किया था। जब जनता दल सरकार ने मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा की तो किसी भी राजनैतिक दल ने इसका खुला विरोध नहीं किया। दलों ने अस्पष्ट रुख अपनाया यद्यपि अधिकतर दलों में जाति की अपेक्षा आर्थिक आधार के पक्ष में समर्थन दिया। केवल राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ही इस बात पर अड़ी रही कि मण्डल आयोग की सिफारिशें किसी भी परिस्थिति में रह नहीं की जायेंगी। सान्त्वना के रूप में इसने मण्डल आयोग द्वारा प्रस्तावित 27% आरक्षण के साथ आर्थिक आधार पर भी 5 से 10% का आरक्षण सरकारी नौकरियों में प्रस्तावित किया।

मण्डल आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने में सरकार के वास्तविक उद्देश्य को चुनौती देते हुए छात्र तोड़-फोड़, आन्दोलन, तथा आत्मदाह तक पर उतारू हो गए। 19 सितम्बर, 1990 (जबकि दिल्ली कॉलेज के एक छात्र का आत्मदाह का प्रकरण प्रथम बार सामने आया) से 16 अक्टूबर, 1990 की अवधि में 160 युवकों ने सरकारी घोषणा के विरुद्ध आत्मदाह का प्रयत्न किया। वे सभी 25 वर्ष के कम आयु के थे और उनमें से अधिकतर विद्यालय/विश्वविद्यालय के अध्ययनरत छात्र थे अथवा बेरोजगार युवक थे। उनमें से अधिकतर ने जनता के समक्ष आत्मदाह का प्रयत्न किया जबकि कुछ ने जहर खा लिया या चुपचाप आत्महत्या का अन्य साधन चुन लिया। देहली में ही 26 दिनों के भीतर 17 आत्मदाह के प्रयत्न किए गए और इसी प्रकार के प्रयत्न पंजाब में होशियारपुर, उत्तर प्रदेश में जौनपुर व लखनऊ में, राजस्थान में कोटा में और बिहार में पटना में भी किए गए। ये सभी युवक व छात्र निम्न मध्यम वर्ग के ही थे। मण्डल विरोधी लहर का गरीबों व धनी संत्रान्त लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सभी आत्मदाह व आत्महत्या के मामलों ने छात्रों में अतिनाटकीय आत्महत्या पत्र छोड़े थे। कुछ छात्र कुछ स्थानों पर पुलिस गोली से मारे गए थे, अनेक घायल हो गए थे; जबकि हजारों की संख्या में पकड़े गए थे। छात्रों ने हजारों सरकारी वाहन फूंक डाले, निजी बसों, कारों व रेलों को क्षतिग्रस्त किया। यद्यपि सरकार द्वारा हानि के ठीक-ठीक आंकड़ें कभी नहीं दिए गए, लेकिन अनुमान किया गया कि कुल हानि कई करोड़ों में हुई होगी। यह व्यवस्था के प्रति आक्रोश और कुण्ठा थी, उसने युवकों में निराशा को ही जन्म दिया कि शिक्षा उन्हें अच्छी नौकरियों के अवसर प्रदान करेगी।

वी०पी० सिंह व चन्द्र शेखर की सरकारों के पश्चात् जब 1991 में नरसिंह राव की कांग्रेस सरकार केन्द्र में आयी तब इसने 25 सितम्बर, 1991 को एक अधिसूचना जारी की कि केन्द्रीय सरकार की नागरिक सेवाओं (civilian jobs) के लिए प्रस्तावित 27% आरक्षण में से, (जो कि शैक्षिक व सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित थे) इन्हीं वर्गों में से 'गरीब वर्ग' को वरीयता दी जाएगी। इस प्रकार 10% उनके लिए अतिरिक्त आरक्षण की व्यवस्था हो गई जो कि ऐसे आरक्षण के घेरे में नहीं आते थे।

मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के प्रकरण उच्चतम न्यायालय में भी ले जाए गए जिसने 15 नवम्बर, 1992 के इन्दिरा साहनी के निर्णय में नौकरियों में आरक्षण की नीति का समर्थन किया और 27% आरक्षण के सरकारी निर्णय को यथावत रखा। लेकिन नरसिंह राव सरकार के 10% अतिरिक्त आरक्षण के निर्णय को रद्द कर दिया। उच्चतम न्यायालय के निर्णय की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं:

- (1) आरक्षण के लाभार्थियों की पहचान के लिए जाति का आधार स्वीकार कर लिया गया।
- (2) आरक्षण की उच्चतम सीमा 50% तक निर्धारित कर दी गई।
- (3) आरक्षण में से 'क्रीम वाली सतह' (creamy layer) निकाली जाने की सिफारिश की गयी।
- (4) कुछ तकनीकी स्थानों के लिए आरक्षण उचित नहीं माना गया।

(5)केन्द्रीय सरकार को सामाजिक, आर्थिक आधार पर विशेष रूप से पिछड़े वर्ग में भी उन्नतिशील लोगों को बाहर करना होगा।

(6)प्रोन्नति (promotion) में कोई आरक्षण नहीं हो सकता।

(7)कम व अधिक भर्ती की जाँच करने के लिए केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा स्थायी आयोगों का गठन करना चाहिए जो पिछड़े वर्ग में सम्मिलित किए जाने के लिए किए दिए आवेदन पत्रों की भी जाँच करेगा।

2.6 सुधारवादी एवं कल्याणकारी कार्यक्रम (Ameliorative and welfare Programmes)

महात्मा गांधी ने यद्यपि हरिजनों की समस्या को 1924 से ही उठाया था किन्तु उससे पूर्व भी कुछ प्रयत्न किए गए थे। उनमें से प्रमुख प्रयत्न था 1916–1922 के बीच दलित वर्ग में शिक्षा को प्रोत्साहन देना। अस्पृश्यता निवारण के लिए कुछ कार्य एवं योजनाएं बनाई गई थीं तथा दुकानों एवं पूजा स्थलों में उनके प्रवेश के उद्देश्य से कई कार्यक्रम चलाए गए थे। महात्मा गांधी के प्रोत्साहन से 1922 में चलाए गए बारदोली कार्यक्रम में भी अस्पृश्यों के उत्थान का ही उद्देश्य था। 1932 में अस्पृश्यों की सामाजिक निर्योग्यताओं के निवारण हेतु 'हरिजन सेवक संघ' संगठित किया गया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के संविधान में भी अनुसूचित जातियों (और साथ में अनुसूचित जनजातियों एवं पिछड़ी जातियों) की सामाजिक निर्योग्यताओं के निवारण हेतु तथा विविध हितों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुछ प्रावधान किए गए थे। महत्वपूर्ण प्रावधान हैं 'अस्पृश्यता निवारण, सामाजिक अन्याय तथा विविध प्रकार के शोषण से बचाव, धार्मिक संस्थाओं में सभी व्यक्तियों का प्रवेश, कुँओं, तालाबों, रेस्टोरेन्टों तथा दुकानों में प्रवेश, वर्जनाओं का निवारण, शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार, राज्य कोष से सहायता राशि प्राप्त करना, सेवाओं में उनके लिए राज्यों को आरक्षण देने की अनुमति, लोक सभा एवं विधान सभाओं में उन्हें समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान करना, उनके हितों के रक्षार्थ तथा कल्याण कार्यों को प्रोत्साहित करने हेतु पृथक सलाहकार समितियों एवं विभागों की स्थापना, बेगार श्रम (forced labour) का निषेध तथा अनुसूचित क्षेत्रों के नियंत्रण, प्रशासन आदि के लिए विशेष प्रावधानों का निश्चय, करना आदि। अम्बेडकर ने इन कार्यों को "राजनैतिक दान" (political charity) की संज्ञा दी।

अनुसूचित जातियों के हितों के रक्षार्थ "अनुसूचित जाति एवं जनजाति राष्ट्रीय आयोग" के रूप में एक कार्य व्यवस्था (machinery) का सृजन किया गया है। यह आयोग अनुसूचित जातियों, जनजातियों के उत्थान के लिए नीतियों एवं प्रकरणों पर कार्य करने हेतु सलाहकार समिति के रूप में गठित किया गया

है। इन लोगों के कल्याण के प्रोत्साहन का कार्य कुछ स्वैच्छिक संगठन भी करते हैं। अखिल भारतीय स्तर के कुछ प्रमुख संगठन हैं— हरिजन सेवक संघ, भारतीय आदिम जाति सेवक संघ आदि। पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के कल्याण पर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रत्येक योजना में विशेष कार्यक्रमों के आकार पर निवेश में वृद्धि ही होती रही है।

केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाओं में से इनके कल्याणार्थ चलाई जाने वाली योजनाओं में से कुछ इस प्रकार हैं: (1) विविध सेवाओं में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के प्रतिनिधित्व में सुधार लाने हेतु विविध प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं (IAS, IPS) के लिए ट्रेनिंग एवं कोचिंग; (2) उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु मेट्रिक परीक्षा के उपरान्त आर्थिक सहायता के रूप में छात्रवृत्ति प्रदान करना; (3) स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले अनुसूचित छात्रों एवं छात्राओं को आवासीय सुविधा प्रदान करने हेतु छात्रावासों का निर्माण; (4) अनुसूचित जाति एवं जनजाति के विकास एवं समस्याओं के अध्ययन में रत प्रसिद्ध समाज विज्ञान अनुसंधान संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करना; (5) अनुसूचित जाति एवं जनजाति के छात्रों को मेडिकल तथा इंजीनियरिंग कोर्स की पाठ्य पुस्तकें प्रदान करना; (6) भारत से बाहर उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति तथा यात्रा व्यय अनुदान प्रदान करा।

2.6.1 अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराध (Crimes Against Scheduled Castes)

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये कल्याण मन्त्रालय और राष्ट्रीय आयोग के प्रतिवेदन निरन्तर अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों की संख्या में वृद्धि का विवरण देते रहे हैं। अनुसूचित जाति की स्त्रियां उच्चजाति के आदमियों के द्वारा बलात्कार की शिकार होती है। अनुसूचित जाति के पुरुषों का दूसरी ओर उनकी ज़मीनों को हड़पने, उन्हें कम मज़दूरी देने, उन्हें बंधुआ मज़दूरों की तरह काम में लेने इत्यादि के रूप में उच्च जातियों द्वारा शोषण किया जाता है। इस प्रकार के शोषण को रोकने के लिये केन्द्र सरकार ने व्यापक दिशा-निर्देश बनाये हैं जिनमें निवारक उपाय भी दिये गये हैं और आवश्यक कार्यवाही के लिये उन्हें राज्यों के पास भेज दिया गया है। राज्यों ने इस संबंध में जो उपाय किये हैं वे हैं:

- अनुसूचित जातियों से संबंधित ज़मीन और मज़दूरी के झगड़ों के बारे में सरकार को अवगत कराने के लिये संबंधित मशीनरी को कसना।
- अनुसूचित जातियों को उनकी ज़मीन का या उस ज़मीन का जो उन्हें आवंटित हुई है, कब्जा दिलाने में सहायता करना।
- पुलिस अधिकारियों को विशेष आदेश देना कि अनुसूचित जातियों की ज़मीनों पर अवैध कब्जे के मामलों में वे हस्तक्षेप करें। पुलिस को हिदायत दी गई है कि अनुसूचित जातियों

के विरुद्ध अपराधों को विशेष सूचित मामलों की तरह माना जाये और उनकी शीघ्र सुनवाई और सज़ा का प्रबन्ध किया जाये।

- कृषक श्रमिकों को वैधानिक न्यूनतम मज़दूरी दिलाने में सहायता करना।
- (कुछ राज्यों में) अनुसूचित जातियों के मामलों को शीघ्र निबटाने के लिये विशेष अदालतों का गठन।
- अफसरों को निर्देश दिये गये हैं कि जब वे दौरे पर हों तो अपना कुछ समय अनुसूचित जातियों के आवासीय क्षेत्रों में बिताएं।

अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अत्याचार और हत्या की घटनाएं अधिकतर बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार और मध्य प्रदेश में हुई हैं। इन्हीं अत्याचारों के कारण हरिजनों ने समय-समय पर मुसलमान और ईसाई धर्मों में अपना धर्म परिवर्तन किया।

1989 में अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम इन जातियों के सदस्यों पर अत्याचार रोकने हेतु पारित किया गया था। इसमें पन्द्रह कार्यों को अपराध माना गया है। इनमें प्रमुख हैं:

1. अनुसूचित जाति अथवा जनजाति (अ0ज0ज0) के सदस्य को अखाद्य पदार्थ खाने या पीने के लिए विवश करना,
2. अ0ज0ज0 के किसी सदस्य को चोट पहुंचाना अथवा अपमानित करना,
3. अ0ज0ज0 के किसी सदस्य के वस्त्र उतरवाना अथवा नंगा कर घुमाना,
4. अ0ज0ज0 के सदस्य की भूमि पर कब्ज़ा करना अथवा खेती करना या उसको भूमि एवं भवन से बेदखल करना,
5. उसे (किसी सदस्य को) बन्धक रखना,
6. उसे वोट न देने या किसी विशेष उम्मीदवार को वोट देने के लिए बाध्य करना,
7. उसके विरुद्ध झूठा मुकदमा चलाना,
8. उसे अपमानित करना व छेड़छाड़ करना,
9. किसी अ0ज0ज0 महिला का शील हरण का प्रयास करना,
10. उनके द्वारा काम में लाये जाने वाले जल स्रोतों को दूषित करना,
11. उसे किसी सार्वजनिक रास्ते/स्थान के प्रयोग से रोकना,

12.उसे गांव/मकान छोड़ने के लिए बाध्य करना।

इन अपराधों के लिए छह माह से पांच वर्ष तक कारावास का प्रावधान है।

2.7 महत्वपूर्ण संवैधानिक उपबन्ध एवं सशक्तीकरण

भारत का संविधान समानता और न्याय के आदर्शों पर प्रतिष्ठित है। ऐसी समानता और न्याय की स्थापना का प्रयास राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में किया गया है। इसलिए संविधान धर्म, मूलवंश, जाति या जन्मस्थान के आधार पर व्यक्तियों के किसी वर्ग में भेदभाव का प्रतिषेध करता है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने उक्त आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिये देश के सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिये समुचित उपबन्ध किया है, क्योंकि वे जानते थे कि जब तक इन वर्गों को प्रारम्भ में सहायता न दी जायेगी, देश के विकास की गति अवरुद्ध हो जायेगी। प्रजातांत्रिक समानता के आदर्श केवल तभी साकार हो सकते हैं जब कि देश के समस्त वर्गों को एक स्तर पर लाया जाय। इसीलिए हमारे संविधान में पिछड़े वर्गों को देश के अन्य वर्गों के स्तर पर लाने के लिए कुछ अस्थायी प्रावधान हैं और साथ ही साथ अल्पसंख्यक वर्गों के सांस्कृतिक या अन्य अधिकारों के संरक्षण के लिए कुछ अस्थायी प्रावधान की भी व्यवस्था है ताकि बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों पर अत्याचार न कर सकें।

अनुच्छेद 46 राज्य को जनता के दुर्बलतर और विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा आर्थिक हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करने तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करने का निदेश देता है।

अनुच्छेद 275 अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण हेतु राज्यों को केन्द्रीय सहायक अनुदान का उपबन्ध करता है। अनुच्छेद 325 के अनुसार निर्वाचन-हेतु एक साधारण निर्वाचक-नामावली होगी तथा केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग के आधार पर कोई व्यक्ति किसी ऐसी नामावली में सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र नहीं होगा। अनुच्छेद 164 उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों में आदिम अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए एक विशेष मन्त्री का उपबन्ध करता है। अनुच्छेद 330 से लेकर 342 तक में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों, ऐंग्लो-इंडियन्स और पिछड़े वर्गों के लिए विशेष उपबन्ध किये गये हैं। उक्त सभी उपबन्धों का संक्षेप में विवरण निम्नलिखित हैं—

2.7.1 अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ

संविधान में इसकी परिभाषा नहीं दी गयी है कि वे कौन-से व्यक्ति हैं जो उक्त जातियों की श्रेणी में आते हैं। अनु 341 और 342 राष्ट्रपति को इन जातियों को विनिर्दिष्ट करने की शक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रपति लोक सूचना द्वारा उन जातियों को उल्लिखित करेगा जो उस प्रयोजन के लिए अनुसूचित जातियाँ या अनुसूचित जनजातियाँ समझी जायेंगी। यदि ऐसी कोई अधिसूचना किसी राज्य से संबंधित है

तो वह राज्यपाल के परामर्श से की जा सकेगी। संसद विधि द्वारा खण्ड (1) के अधीन निकाली अधिसूचना में उल्लिखित सूची के अन्तर्गत किसी जनजाति या जनजाति समुदायों को सम्मिलित कर सकती है या निकाल सकती है। कोई जनजाति इस अनुच्छेद के अन्तर्गत जनजाति है या नहीं, हमें राष्ट्रपति के द्वारा निकाली गयी अधिसूचना पर ध्यान देना होगा। अनुसूचित जातियों की श्रेणी के संबंध में राष्ट्रपति का आदेश पर्याप्त है। इस सूची की मान्यता पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि इसमें किसी उपजाति को अनुसूचित जाति के रूप में उल्लिखित नहीं किया गया है।

संविधान उपर्युक्त जातियों के हितों के संरक्षण के लिए निम्नलिखित उपबन्ध करता है—

(अ) लोक सभा तथा राज्य-विधानसभाओं में स्थानों का आरक्षण—अनु0 330 और 332 के अधीन लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किये जाने का उपबन्ध किया गया है। अनु0 330 यह उपबन्धित करता है कि लोक सभा में (क) अनुसूचित जातियों के लिए, (ख) अनुसूचित जनजाति सिवाय असम के स्वशासी जिलों की अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर, (ग) असम के स्वशासी जिलों की अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगे। अनु0 332 यह उपबन्धित करता है कि प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए (असम के स्वशासी जिलों की अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर) स्थान आरक्षित रहेंगे तथा असम राज्य की विधान सभा में स्वशासी जिलों के लिए भी स्थान आरक्षित रहेंगे। स्थानों का आरक्षण जनसंख्या के आधार पर किया जाएगा। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा इस अनुच्छेद में संशोधन करके यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस प्रयोजन के लिए जनसंख्या से तात्पर्य सन् 1971 में की गई जनगणना पर आधारित जनसंख्या है, और वह सन् 2000 तक वैसे ही बनी रहेगी। इसका तात्पर्य यह था कि इन वर्गों के लिए लोक सभा और राज्यों की विधानसभाओं में स्थानों का आरक्षण सन् 2000 तक सन् 1971 की जनगणना के आधार पर ही किया जायेगा और नयी जनगणना का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अब संविधान के 84 संशोधन अधिनियम, 2000 द्वारा अनु0 330 और 332 में संशोधन किया गया है और इस प्रयोजन हेतु 'जनसंख्या' को पुनः परिभाषित किया गया है। इस संशोधन द्वारा अनु0 330 के स्पष्टीकरण के परन्तुक में संख्या 2000 और 1971 के स्थान पर संख्या 2026 और 1991 अंतः स्थापित की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रयोजन के लिए जनसंख्या से तात्पर्य सन् 1991 में की गई जनगणना पर आधारित जनसंख्या है और वह 2026 तक वैसे ही बनी रहेगी। अनु0 332 के (3क) में संख्या 2000 के स्थान पर संख्या 2026 और खण्ड (3ख) में संख्या 2000 के स्थान पर संख्या 2026 अंतःस्थापित की गई है। संविधान के 87वें संशोधन, 2003 द्वारा अनु0 330 के स्पष्टीकरण के परन्तुक को पुनः संशोधित किया गया है और अंक '1991' के लिए अंक '2001' प्रतिस्थापित किया गया है। इसका तात्पर्य है कि इस प्रयोजन के लिए अब जनसंख्या का आधार '2001' की जनगणना होगी न कि '1991' की जनगणना। 51वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1984 द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि

अनुसूचित जनजातियों के लिए असम विधानसभा में आरक्षण स्वशासी जिलों को छोड़कर असम के पूरे प्रदेश में होगा।

प्रथमतः यह आरक्षण संविधान लागू होने की तारीख से 10 वर्ष के लिए किया गया था। इसके पश्चात इस अवधि को समय-समय पर बढ़ाया जाता रहा। 1959 संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा इसे बढ़ाकर 20 वर्ष के लिए कर दिया गया। पुनः 1969 में अनु0 334 में प्रयुक्त शब्द 'बीस' के स्थान पर संविधान के 23वें संशोधन अधिनियम द्वारा 'तीस' शब्द को प्रतिस्थापित कर दिया गया। पुनः 1980 में संविधान संशोधन अधिनियम, 1980 द्वारा इसे 10 वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया और अनु0 334 में प्रयुक्त शब्द 'तीस' के स्थान पर 'चालिस' शब्द रख दिया गया। संविधान के 62वें संशोधन अधिनियम, 1989 द्वारा इस अवधि को 10 वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया और अनु0 334 में प्रयुक्त शब्द 'चालिस' के स्थान पर शब्द 'पचास' रख दिया गया। अब 1999 में संविधान संशोधन अधिनियम, 1999 द्वारा इसे बढ़ाकर संविधान लागू होने की तारीख से 60 वर्ष कर दिया गया है।

(ब) आरक्षण प्रशासन में दक्षता को नष्ट करने वाला नहीं होना चाहिए—अनुच्छेद 335 के अनुसार संघ या राज्य के कार्यों से सम्बद्ध सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में प्रशासन में दक्षता बनाये रखने की संगति के अनुसार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के दावों को ध्यान में रखा जायेगा। इसी प्रयोजन के लिये अनुच्छेद 16 में इन पिछड़े हुए वर्गों के लिए पदों के आरक्षित करने का उपबन्ध किया गया जिनमें उक्त जातियाँ भी शामिल हैं।

2.7.2 पिछड़े वर्गों के लिए उपबन्ध

संविधान में कोई परिभाषा नहीं दी गयी है कि वे कौन से व्यक्ति हैं जो पिछड़े वर्गों में शामिल हैं। ऐसे वर्गों में कौन जन शामिल हैं, इसको उल्लिखित करने की शक्ति संघ तथा राज्य-सरकार को प्राप्त है।

अनु0 340(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति को सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की दशाओं तथा उनकी कठिनाइयों के अनुसंधान के लिए एक आयोग की नियुक्ति करने की शक्ति है। आयोग उक्त वर्गों की कठिनाइयों को दूर करने के उपायों के बारे में या उनके लिए दिये जाने वाले अनुदान या अनुदान की शर्तों आदि के बारे में संघ या राज्य-सरकारों की अपनी सिफारिश भेजेगा।

आयोग अपने को सौंपे गये विषयों का अनुसंधान करेगा और उसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजेगा जिसमें पाये गये तथ्यों का समावेश होगा और ऐसी सिफारिशें होंगी जिसे आयोग उचित समझे। राष्ट्रपति आयोग द्वारा दिये गये प्रतिवेदन को, उस पर की गई कार्यवाहियों सहित संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा।

आयोग के प्रतिवेदन प्राप्त होने के पश्चात् राष्ट्रपति आदेश द्वारा पिछड़े वर्गों को उल्लिखित करेगा। अनुसूचित जाति अनुसूचित आदिम जातियों के लिए नियुक्त विशेष पदाधिकारी पिछड़े वर्गों के लिए भी कार्य करेगा।

अनु0 15(4) के अन्तर्गत राज्य को सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए प्रावधान बनाने की शक्ति प्राप्त है। अनु0 16(4) के अन्तर्गत राज्य को इन वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में स्थान को आरक्षित करने की शक्ति प्राप्त है।

जैसा कि हम जानते हैं, संविधान में “पिछड़े वर्ग” पदावली की कोई परिभाषा नहीं दी गई है। सरकार को इस श्रेणी में आने वाले लोगों के उल्लिखित करने की शक्ति प्राप्त है। इसी कारण इस संबंध में कोई एकरूपता नहीं है और विभिन्न राज्यों के विभिन्न वर्गों को पिछड़े वर्गों में शामिल किया है। सरकार ने 1953 में एक आयोग नियुक्त किया, जिसको उन कसौटियों को निर्धारित करने के लिए कहा गया जिनके आधार पर किसी वर्ग को पिछड़ा समझा जा सके। आयोग इस प्रकार के वर्गीकरण के लिए कोई सुनिश्चित आधार ढूंढने में असफल रहा।

रामकृष्ण बनाम मैसूर राज्य (1960) के मामले में सरकार ने एक आदेश द्वारा राज्य की जनसंख्या के 25 प्रतिशत भाग को पिछड़ा वर्ग घोषित कर दिया। वह वर्गीकरण आर्थिक-सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर नहीं बल्कि जाति और धर्म के आधार पर किया गया था। मैसूर उच्च न्यायालय ने उक्त आदेश को अवैध घोषित कर दिया। न्यायालय ने कहा कि पिछड़े वर्गों को उल्लिखित करने वाला सरकारी आदेश न्यायायिक जाँच के अधीन है। इस विषय पर सरकार का निर्णय अन्तिम नहीं है। न्यायालय इस बात की माँग कर सकते हैं कि सरकार का निर्णय किसी युक्तियुक्त सिद्धान्त पर आधारित है या नहीं। यह प्रश्न कि कोई वर्ग पिछड़ा वर्ग है या नहीं, एक वादयोग्य प्रश्न है।

न्यायालय इस बात की भी जाँच कर सकते हैं कि किसी पद के लिए पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित स्थानों का प्रतिशत युक्तियुक्त है या नहीं। यदि आरक्षण अत्यधिक या अयुक्तियुक्त है तो वह संविधान के साथ छल माना जायेगा और असंवैधानिक घोषित कर दिया जायेगा।

1.7.3 अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचारों का निवारण) अधिनियम, 1989 (The Scheduled Castes and the Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act, 1989)

भारत के संविधान के प्रारम्भ होने की पूर्व-स्थिति को देखते हुये, भारतीय संविधान के निर्माताओं को दुर्बल वर्ग के लोगों, जिन्हें सदियों से सताया तथा दबाया गया है, का विशेषकर अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों एवं सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के नागरिकों का विशेष ध्यान था। यह बात संविधान के कई अनुच्छेदों में प्रतिबिम्बित होती है जिनकी चर्चा की जा चुकी है। संवैधानिक उपबन्धों

की भावना एवं लिखत से प्रेरित होकर भारत सरकार ने अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचारों का निवारण) अधिनियम, 1989 पारित किया। इस अधिनियम ने राष्ट्रपति की सम्मति 11 सितम्बर, 1989 को प्राप्त की तथा यह 30.01.1990 से प्रवृत्त हो गया। इस अधिनियम के पारित करने का कारण यह था कि संवैधानिक उपबन्धों के बावजूद समाज के अन्य लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं आया था। समाज के अन्य वर्ग अब भी अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों पर अत्याचार कर रहे थे। अतः जैसा कि अधिनियम की प्रस्तावना से स्पष्ट होता है कि इस अधिनियम का उद्देश्य अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों के ऊपर होने वाले अत्याचार का निवारण करना ऐसे अपराधों के परीक्षण के लिये विशेष न्यायालय की स्थापना तथा ऐसे अपराधों से पीड़ित या शिकार व्यक्तियों को अनुतोष पहुँचाना तथा उनका पुनर्वास आदि करना है।

इस अधिनियम का प्रसार जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़ सारे देश में है। अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के विरुद्ध किये गये अपराधों के लिये अधिनियम में दंड निश्चित किया गया। साधारण अपराधों के लिए कम से कम 6 महीने से पाँच वर्ष तक की जेल तथा जुर्माना रखा गया है तथा गम्भीर अपराधों के लिये कम से कम एक वर्ष जिसे अपराध के लिये उपबन्धित दंड तक किया जा सकता है।

अधिनियम से संबंधित मामलों के लिये राज्य सरकार सामूहिक दंड अधिरोपित कर सकती है। सिवाय इसके कि जो अन्यथा अधिनियम में उपबन्धित है, यदि इस अधिनियम के उपबन्धों का किसी अन्य तत्सम प्रवृत्त विधि के साथ संघर्ष होता है तो इस अधिनियम के उपबन्ध ही अधिक मान्य होंगे। केन्द्रीय सरकार द्वारा इस संबंध में बनाये गये नियमों के अधीन इस अधिनियम के कार्यान्वयन की जिम्मेदारी राज्य सरकार की होगी।

2.7.4 अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए राष्ट्रीय कमीशन

संविधान (89वाँ संशोधन) अधिनियम, 2003 द्वारा अनुच्छेद 238 में संशोधन किया गया है। इस संशोधन अधिनियम द्वारा अनुसूचित जाति एवं जनजाति की राष्ट्रीय कमीशन को दो भागों में विभाजित किया गया है। अनुसूचित जाति तथा जनजाति के भौगोलिक एवं सांस्कृतिक असमानताओं तथा उनकी असमानताओं का अहसास करते हुये जनजाति मामलों के नये मंत्रालय का 1999 में प्रारम्भ हुआ। पुरानी राष्ट्रीय कमीशन के स्थान पर दो कमीशन स्थापित किये गये— (i) अनुसूचित जाति के लिए राष्ट्रीय कमीशन; तथा (ii) अनुसूचित जनजाति के लिये राष्ट्रीय कमीशन।

जनजाति के लिये नयी कमीशन का एक अध्यक्ष तथा दो सदस्य होते हैं। दूसरे कमीशन अर्थात् अनुसूचित जाति में एक अध्यक्ष, एक उप-अध्यक्ष तथा तीन सदस्य होते हैं। संविधान में एक नया अनुच्छेद (अनुच्छेद

338-क) जोड़ा गया है। इस नये अनुच्छेद में अनुसूचित जनजाति के राष्ट्रीय कमीशन के कर्तव्य एवं शक्तियों को परिभाषित किया गया है। कमीशन के कर्तव्य निम्नलिखित हैं-

(क)संविधान या किसी अन्य विधि में उल्लिखित जनजातियों की सुरक्षाओं के सभी मामलों की खोज एवं परीक्षा;

(ख)अधिकारों एवं सुरक्षाओं के वंचित किये जाने से संबंधित सभी विनिर्दिष्ट शिकायतों की जाँच;

(ग)अनुसूचित जनजाति सामाजिक-आर्थिक विकास की योजनाओं की प्रक्रिया की सलाह देना तथा उसमें भाग लेना;

(घ)उक्त सुरक्षाओं की वर्तमान रिपोर्ट्स तथा उक्त सुरक्षाओं पर संस्तुतियाँ तथा प्रभावशाली कार्यान्वयन;

(ङ)जनजाति के संरक्षण, कल्याण, विकास तथा प्रोन्नति से संबंधित अन्य आवश्यक अन्य कार्य सम्पादित करना।

कमीशन के कार्य को प्रभावशाली ढंग से कार्य करने हेतु कमीशन को निम्नलिखित शक्तियाँ प्रदान की गई हैं-

(क)किसी व्यक्ति को भारत के किसी भाग से बुलाना (summon) तथा उसकी उपस्थिति को सुनिश्चित करना तथा शपथ पर उसका परीक्षण करना;

(ख)किसी संगत दस्तावेज की खोज तथा उसे प्रस्तुत करना;

(ग)हलफनामों द्वारा साक्ष्य को प्राप्त करना;

(घ)किसी न्यायालय या कार्यालय से किसी लोक रिकार्ड या उसकी प्रतिलिपि प्राप्त करना; तथा

(ङ)गवाहों एवं दस्तावेजों के परीक्षण के लिये कमीशन जारी करना या अन्य आवश्यक कदम उठाना।

जनजातियों को प्रभावित करने वाले सभी मुख्य या बड़े मामलों के लिये यह आज्ञात्मक कर दिया गया कि वह कमीशन से सलाह लें।

1.7.5 नागरिक अधिकारों के संरक्षण का अधिनियम, 1955 (The Protection of Civil Rights Act, 1955)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 17 के अनुसार, अस्पृश्यता (Untouchability) को समाप्त कर दिया गया तथा इसके अभ्यास को वर्जित कर दिया गया। अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली किसी अयोग्यता को लागू या प्रवर्तित करना विधि के अनुसार एक अपराध के समान दंडित होगा।

यद्यपि संविधान देश की सर्वोच्च विधि है, संविधान में उपबन्धित करना तथा उसे समाज में अभ्यास में लाने में बड़ा अन्तर है। यद्यपि संविधान ने अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया तथा इसको अभ्यास में वर्जित कर दिया, भारतीय समाज जिसमें अस्पृश्यता की दूषित सामाजिक रीति सदियों से विद्यमान है, से इसे हटाना इतना सरल नहीं है। संविधान के अभिदेश के बावजूद समाज में अस्पृश्यता की बुराई को पूर्ण रूप से अभ्यास में समाप्त करने के लिये कुछ अन्य कदम उठाने आवश्यक थे।

इन कदमों या उपायों से एक उपाय सरकार ने नागरिक अधिकारों के संरक्षण के अधिनियम, 1955 द्वारा किया तथा अधिनियम को 1976 में संशोधित किया गया। अधिनियम की प्रस्तावना के अनुसार, अधिनियम का उद्देश्य अस्पृश्यता का प्रचार या अभ्यास, अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को प्रवर्तित करने के लिये दंड विहित या निर्धारित करना है।

इस अधिनियम का प्रसार सम्पूर्ण भारत में है। अधिनियम धार्मिक अयोग्यताओं को प्रवर्तित करने के लिये दंड विहित करता है। धारा 3 के अनुसार, जो कोई व्यक्ति अस्पृश्यता के आधार पर किसी को लोक पूजा स्थल, जो उस धर्म विशेष वाले सभी लोगों के लिये खुला है, में प्रवेश करने से रोकता है या उसे पूजा करने या कोई धार्मिक सेवा करने से या नहाने, नदी, कुएँ आदि से पानी लेने से रोकता है तो ऐसे व्यक्ति को कम से कम एक माह तथा अधिकतम 6 माह की जेल तथा साथ में हर्जाने से जो 100 रुपये से कम नहीं होगा तथा अधिकतम 500 रुपये होगा, दंडित किया जा सकता है।

एन0 आदीथ्यन बनाम द द्रावनकोर देवास्वम बोर्ड तथा अन्य (2002) के वाद में उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि नियुक्त व्यक्ति सुशिक्षित, उचित प्रकार से प्रशिक्षित है तथा विशिष्ट देवी/देवता की पूजा सम्पादित करने की योग्यता रखता है। उसकी नियुक्ति को इस आधार पर नकारा या इनकार नहीं किया जा सकता कि वह जन्म से ब्राह्मण नहीं है।

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है अधिनियम में “नागरिक अधिकारों” शब्दों को परिभाषित किया गया है। इसके अनुसार “नागरिक अधिकारों” के अर्थ हैं संविधान के अनुच्छेद 17 के अन्तर्गत अस्पृश्यता की समाप्ति से उत्पन्न किसी व्यक्ति का कोई अधिकार।

अधिनियम के अन्तर्गत सामाजिक अयोग्यताओं को अस्पृश्यता के आधार पर किसी व्यक्ति की किसी अयोग्यता को प्रवर्तित करता है (जैसे किसी दुकान, लोक रेस्टोरेन्ट, होटल के प्रवेश, लोक उपयुक्त स्थानों पर बर्तनों आदि के प्रयोग आदि को रोकना) तो कम से कम एक माह तथा अधिक से अधिक 6 माह तथा 100 रुपये से लेकर 500 रुपये के जुर्माने के साथ दंडित किया जा सकता है। इसी प्रकार अधिनियम अस्पृश्यता के आधार पर किसी व्यक्ति का अस्पताल में प्रवेश करने से इन्कार करता है, माल बेचने या सेवायें देने से इन्कार करने, तथा अस्पृश्यता से उत्पन्न अन्य अपराधों को दंडित करता है।

1.7.6 पिछड़े वर्गों के लिये राष्ट्रीय कमीशन अधिनियम, 1993 (The National Commission for Backward Classes Act, 1993)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 15(1) में एक सामान्य नियम प्रतिपादित किया गया है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। परन्तु अनुच्छेद 15(4) में इस नियम का एक अपवाद दिया गया है। अनुच्छेद 15(4) के अनुसार, इस अनुच्छेद या अनुच्छेद 29(2) में कुछ भी राज्य को सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के नागरिकों या अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की उन्नति के लिये कोई विशेष उपबन्ध बनाने से नहीं रोकेंगा। दूसरे अर्थों में गैर-भेदभाव के सिद्धान्त के बावजूद राज्य शैक्षिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े वर्ग के नागरिकों एवं अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की उन्नति के लिये कानून बना सकती है। इसी प्रकार अनुच्छेद 16(1) में एक सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि राज्य के अन्तर्गत किसी भी पद के लिये नागरिकों को नियोजन या नियुक्ति के मामलों में समानता का अवसर प्राप्त होगा। परन्तु इसका एक अपवाद अनुच्छेद 16(4) में दिया गया है। अनुच्छेद 16(4) के अनुसार, इस अनुच्छेद में कुछ भी होते हुये या उसके बावजूद राज्य को पिछड़े वर्ग के नागरिकों के पक्ष में नियुक्ति या पदों के आरक्षण में कोई उपबन्ध बना सकते हैं क्योंकि राज्य के मत में उनका राज्य की सेवाओं में उपयुक्त प्रतिनिधित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में राज्य के अन्तर्गत पदों या नियुक्तियों के लिए नागरिकों को समान अवसर प्रदान किये जाने के सिद्धान्त के बावजूद राज्य पिछड़े वर्ग के नागरिकों जिनका सरकार के मत में राज्य की सेवाओं में उपयुक्त प्रतिनिधित्व नहीं है, के पक्ष में पदों या नियुक्तियों के आरक्षण के लिये कोई कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 340 के अनुसार राष्ट्रपति आदेश द्वारा सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के नागरिकों की दशाओं की खोज-बीन करने तथा उनके द्वारा जो कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा, उसे दूर करने के लिये उपायों की संस्तुति देने हेतु एक कमीशन नियुक्त कर सकता है।

पिछड़े वर्ग के लिये राष्ट्रीय कमीशन अधिनियम हेतु बिल संसद में प्रस्तुत करते समय इसके उद्देश्यों एवं कारणों का एक कथन भी प्रस्तुत किया था। इस कथन में कहा गया था कि भारत सरकार के अन्तर्गत पदों या नियुक्तियों के लिये पिछड़े वर्ग के नागरिकों के पक्ष में अनुच्छेद 16(4) के अन्तर्गत आरक्षण के

संबंध में सरकार के आदेश के संबंध में दिनांक 16 नवम्बर, 1992 को उच्चतम न्यायालय द्वारा सरकार को यह निदेश दिया गया था कि वह चार माह के भीतर पिछड़े वर्ग के नागरिकों की सूची में नाम बढ़ाने या अधिक बढ़ाने की शिकायतों को स्वीकार करने एवं परीक्षण कर संस्तुति देने हेतु एक स्थायी निकाय बनाई जाय। उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में यह भी कहा था कि पिछड़े वर्ग के नागरिकों की सूचियों के आवधिक पुनरीक्षण में सरकार भी उक्त निकाय से सलाह ले सकती है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा था कि यह स्थायी निकाय को ऐसे मामलों में शिकायतों का परीक्षण करने एवं उक्त आदेश पारित करने की भी शक्ति होनी चाहिये।

चूँकि उस समय संसद का सत्र नहीं चल रहा था तथा सरकार को 4 माह के अन्दर उच्चतम न्यायालय के निदेश का अनुपालन करना था, राष्ट्रपति ने पिछड़े वर्ग के लिये राष्ट्रीय कमीशन अध्यादेश, फरवरी, 1993 को प्रख्यापित या जारी कर दिया। उक्त बिल राष्ट्रपति के अध्यादेश के स्थान पर था तथा बिल 2 अप्रैल, 1993 को पारित होकर तथा राष्ट्रपति की सम्मति प्राप्त करके पिछड़े वर्ग के लिये राष्ट्रीय कमीशन अधिनियम, 1993 हो गया।

इस अधिनियम का प्रसार सिवाय जम्मू एवं काश्मीर राज्य के सम्पूर्ण भारत में है। यह अधिनियम 1 फरवरी, 1993 से प्रवृत्त माना जायेगा।

अधिनियम के अध्याय 2 में पिछड़े वर्ग के लिये राष्ट्रीय कमीशन की स्थापना का उपबन्ध है। इस राष्ट्रीय कमीशन के निम्नलिखित सदस्य होंगे—

(क) अध्यक्ष, जो उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका है;

(ख) एक सामाजिक वैज्ञानिक;

(ग) दो व्यक्ति, जिन्हें पिछड़े वर्ग के मामलों के संबंध में विशेष ज्ञान है;

(घ) एक सदस्य—सचिव एक अधिकारी केन्द्र सरकार में सचिव पद पर रह चुका है।

प्रत्येक सदस्य की पदावधि पद ग्रहण करने की तिथि से तीन वर्ष की होगी।

जहाँ तक कमीशन के कार्यों का संबंध है, कमीशन पिछड़े वर्ग की सूचियों में सम्मिलित किये जाने की प्रार्थनाओं की परीक्षा करेगा तथा ऐसी सूचियों में किसी पिछड़े वर्ग के अधिक या कम सम्मिलित किये जाने की शिकायतों की सुनवाई करेगा तथा जैसा उपयुक्त समझे सलाह केन्द्रीय सरकार को देगा। कमीशन की सलाह साधारणतया सरकार पर बाध्यकारी होगी।

कमीशन की शक्तियाँ उपर्युक्त कार्यों को करते समय वही होंगी जो एक वाद का परीक्षण करने वाले सिविल न्यायालय की होती हैं, तथा विशेषकर निम्नलिखित शक्तियाँ होंगी:

(क) भारत के किसी भी भाग के किसी व्यक्ति को बुलाने तथा उसकी उपस्थिति को प्रवर्तित करने तथा उसकी शपथ पर परीक्षा करना'

(ख) किसी दस्तावेज की खोज एवं प्रस्तुतिकरण करवाना;

(ग) किसी न्यायालय या कार्यालय से लोक रिकार्ड या उसकी प्रतिलिपि को तलब करवाना;

(घ) गवाहों एवं दस्तावेजों की परीक्षा के लिये कमीशन जारी करना;

(च) कोई अन्य मामला जो विहित हो।

अधिनियम के प्रवृत्त होने के पश्चात् किसी भी समय केन्द्रीय सरकार सूचियों का पुनरीक्षण इस दृष्टि से कर सकती है कि जो वर्ग अब पिछड़े नहीं रह गये हैं उन्हें सूची से हटा दिया जाय तथा नये पिछड़े वर्गों को सम्मिलित किया जाय। परन्तु दस वर्ष पश्चात् केन्द्रीय सरकार ऐसा अवश्य करेगी तथा उसके बाद प्रत्येक दस वर्ष बाद पुनरीक्षण करना केन्द्रीय सरकार का दायित्व होगा। ऐसा पुनरीक्षण करते समय केन्द्रीय सरकार कमीशन से सलाह करेगी।

2.8 सारांश

अनुसूचित जातियाँ वे जातियाँ हैं जिनका स्पर्श या निकटता अपवित्र करती है, मंदिर में उनका प्रवेश निषेध है वे विद्यालय, कुओं तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग नहीं कर सकतीं, इनके हाथ से हिन्दू पानी नहीं लेते, वे सामाजिक आदान प्रदान में सम्मिलित नहीं होतीं, उनमें अशिक्षा, अज्ञानता एवं गरीबी है। भारतीय जनजातियाँ अधिकांशतः पृथक भू-भागों में रहती हैं, उनकी आजीविका का स्रोत कृषि एवं वन उत्पादन है, वे कभी भी वस्त्र विनिमय पर निर्भर करते हैं, वे निरक्षरता एवं असभ्यता में डूबे हुए हैं। 1990 में कुछ अन्य जातियों को पिछड़ा वर्ग में घोषित किया गया तथा सरकारी नौकरियों में उनके आरक्षण की व्यवस्था की गई। इनके पिछड़ेपन के लिए सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक आधार लिया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों की सामाजिक निर्योग्यताओं के निवारण के लिए अनेक प्रावधान किए गए। अस्पृश्यता निवारण, सामाजिक अन्याय तथा विविध प्रकार के शोषण से बचाव, धार्मिक संस्थाओं में सभी व्यक्तियों का प्रवेश, कुओं, तालाबों, दुकानों, में प्रवेश वर्जनाओं का निवारण, शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार, राज्य कोष से सहायता राशि प्राप्त करना, सेवाओं में आरक्षण, लोक सभा एवं विधान सभाओं में सम्मिलित प्रतिनिधित्व, हितों के रक्षार्थ एवं कल्याणकारी कार्यों के प्रोत्साहन हेतु पृथक सलाहकार समितियों, विभागों की स्थापना, बेगार श्रम का निषेध, अनुसूचित क्षेत्रों के नियन्त्रण एवं प्रशासन के लिए विशेष प्रावधान।

2.10 सन्दर्भ-सूची

1. प्रो0 जी0पी0 त्रीपाठी- भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।
2. तेजस्कर-ओजस्कर पाण्डेय-समाज कार्य दर्शन (2009)- भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल-लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)-इलाहबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा- सामाजिक समस्याय (2008)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा-भारतीय समाज (2007)- रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा0 अवतार सिंह-भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा0गणेश पाण्डे-अपराध शास्त्र (2008)- राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो0इन्द्रजीत सिंह-विधि शास्त्र(2006)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय,भोपाल)-डा0 शैफाली यादव
10. डा0 कैलाश राय- जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा0अभय सिंह-सूचना का अधिकार अधिनियम2005, (2009)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा0आर0के0अग्रवाल-हिन्दू विधि(2002)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा0 इकबाल सिंह-मुस्लिम विधि (2001)- सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।

3.14.1-सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सी0पी0 अरोरा-विधि अपराध अधिनियम (2010)- यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010) ।
2. डा0 टी0पी0 त्रीपाठी-सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)- इलाहबाद लॉ एजेन्सी ।
3. प्रो0 इन्द्रजीत सिंह-श्रमिक विधियां-(2005)-सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।
4. डा0 एस0के0 कपूर- मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)-सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) क्या जाति व्यवस्था विघटनकारी है? व्याख्या कीजिए।
- (2) अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़ा वर्ग का निर्धारण किस प्रकार किया गया है?
- (3) अनुसूचित जातियों के विरुद्ध अपराधों एवं उनके निवारण हेतु उपायों पर एक लेख लिखें।
- (4) अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़ा वर्ग के सम्बन्ध में किये गये संवैधानिक प्राविधानों की चर्चा कीजिए।
- (5) अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़ा वर्ग के सशक्तीकरण हेतु क्या उपाय किए गए हैं? क्या वे उपाय कारगर हैं?

ए एलएलएम0 प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-4: आधुनिकीकरण और समुदाय विधि

इकाई-3: आधुनिकीकरण

इकाई संरचना

- 3.0 प्रस्तावना
- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 आधुनिकीकरण की अवधारणा
- 3.3 आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण
- 3.4 आधुनिकीकरण के परिमाण
- 3.5 आधुनिकीकरण की पूर्व आवश्यकतायें
- 3.6 आधुनिकीकरण के प्रति प्रतिक्रिया
- 3.7 आधुनिकीकरण के साधन
- 3.8 भारत में पश्चिम का और आधुनिकीकरण का प्रभाव
- 3.9 भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया
- 3.10 व्यक्ति का आधुनिकीकरण
- 3.11 आधुनिकीकरण की समस्यायें
- 3.12 सारांश
- 3.13 सन्दर्भ सूची
 - 3.13.1 सहायक सन्दर्भ सूची
- 3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

अर्थशास्त्री आधुनिकीकरणको समाज में प्रति व्यक्ति उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि लाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों के नियंत्रण की तकनीक के प्रयोग में आने वाले मानव प्रयत्नों के अर्थ में समझते हैं। समाजशास्त्री इसका विवेचन जीवन की गुणवत्ता में आए अन्तर के अर्थ में करते हैं जो कि आधुनिक समाज की विशेषता है। वे नये कार्यों को करने के लिए नई संरचनाओं को खोजते हैं या पुरानी संरचनाओं को नए कार्य सौंपते हैं। वे आधुनिकीकरण प्रक्रिया के विकार्यात्मक (dysfunctional) परिणामों का भी अध्ययन करते हैं, जैसे मानसिक बीमारी, हिंसा, सामाजिक अशांति व असन्तोष, क्षेत्रवाद और प्रदेशवाद, तथा जाति और वर्ग संघर्ष आदि।

विविध देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं एवं विशेषताएं कुछ अर्थों में सामान्य और कुछ अर्थों में भिन्न हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से (सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में) आधुनिकीकरण का विकास विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न परम्परागत समाजों की विविधता से हुआ है। पश्चिमी यूरोप में समाजों का विकास सामन्ती (feudal) राज्यों से हुआ, पूर्वी यूरोप में निरंकुश राज्यों से अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में उपनिवेशवाद, तथा आब्रजन (immigration) से लैटिन अमेरिका में अल्पतन्त्रीय (oligarchic) विजित उपनिवेशवादी समाजों से, जापान में केन्द्रीय सामन्ती राज्य से, चीन में निरन्तर चलने वाली साम्राज्यवादी व्यवस्था के टूटने से, एशिया और अफ्रीका के अधिकतर देशों में औपनिवेशिक संरचना से, कुछ समाजों में (विशेषकर एशिया) केन्द्रीय राजतन्त्रीय (monarchical) समाजों से, और कुछ में जनजातीय संरचना और पराम्पराओं से (समाज का) विकास हुआ।

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-4 की इकाई-3 का उद्देश्य है कि आप आधुनिकीकरण के समस्त महत्वपूर्ण आयामों को सैद्धांतिक एवं तथ्यात्मक दृष्टिकोण से समझ सकें। संक्षेप में प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है कि आप निम्नलिखित बिन्दुओं को आत्मसत कर सकें।

- आधुनिकीकरण का अर्थ, लक्षण तथ परिमाण
- आधुनिकीकरण की पूर्व आवश्यकतायें
- आधुनिकीकरण के प्रति प्रतिक्रिया
- आधुनिकीकरण के साधन, समस्यायें एवं आधुनिक व्यक्ति
- भारत में पश्चिम एवं आधुनिकीकरण का प्रभाव
- भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया

3.2 आधुनिकीकरण की अवधारणा (The Concept of Modernization)

इसमें युक्तिपूर्णता (rationality) निहित है। एलाटास (Alatas) के अनुसार आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्बद्ध समाज द्वारा स्वीकृत विस्तृत अर्थों में अधिक अच्छे व सन्तोषजनक जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान को समाज में पहुँचाया जाता है। इस परिभाषा में 'आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान' में निम्न बातें सम्मिलित हैं: (i) प्रस्तावित व्याख्याओं (suggested explanations) की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रयोगों की सहायता लेना (ii) उन नियमों की कल्पना करना जिनको तार्किक व प्रयोगात्मक (experimental) आधार पर समझाया जा सकता है। जो (व्याख्या) कि धार्मिक मत व दार्शनिक व्याख्या से भिन्न हो, (iii) तथ्यों की विश्वसनीयता को निश्चित करने के लिए निश्चित विधियों का प्रयोग, (iv) अवधारणाओं एवं चिन्हों का प्रयोग और (v) सत्य के लिए तथ्य की खोज करना।

ईजेन्टाड (Eisenstadt) के अनुसार आधुनिकीकरण सामाजिक संगठन के संरचनात्मक पक्ष और समाजों के सामाजिक जनसंख्यात्मक, दोनों पक्षों की व्याख्या करता है। कार्ल ड्यूश (Karl Deutsh) ने आधुनिकीकरण के अधिकतर सामाजिक जनसंख्यात्मक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए, 'सामाजिक गतिमानता' (social mobilization) शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा इस प्रकार की है: "ऐसी प्रक्रिया जिसमें पुरानी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धताओं के समूह मिटा दिये जाते हैं व तोड़ दिए जाते हैं और लोग नवीन प्रकार के सामाजिकीकरण और व्यवहार प्रतिमानों के लिए तैयार रहते हैं।"

'आधुनिकीकरण' को 'औद्योगिकीकरण' से भी संबन्धित (confused) नहीं मानना है। औद्योगिकीकरण का सन्दर्भ उन परिवर्तनों से है जो कि उत्पादन की विधियों, शक्ति चालित (power driven) मशीनों के प्रवेश के फलस्वरूप आर्थिक व सामाजिक संगठनों, तथा परिणामस्वरूप फैक्ट्री व्यवस्था के उदय से है। थियोडोरसन (Theodorson) के अनुसार औद्योगिकीकरण के निम्न लक्षण हैं: (i) कारीगर या शिल्पी के घर या दुकान में हस्त उत्पादन के स्थान पर फैक्ट्री केन्द्रित मशीनी उत्पादों की प्रतिस्थापना, (ii) प्रमाणिकीकृत वस्तुओं (standardized goods) का बदले जाने वाले भागों (interchangeable parts) से उत्पादन (iii) फैक्ट्री मजदूरों के एक वर्ग का उदय जो मजदूरी के लिए कार्य करते हैं और जो न तो उत्पादन किए गए माल और न ही उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं (iv) गैर-कृषि धन्धों में लगे लोगों के अनुपात में वृद्धि और (v) असंख्य बड़े नगरों का विकास। औद्योगिकीकरण लोगों को वे भौतिक वस्तुएं उपलब्ध कराता है जो पहले कभी उपलब्ध नहीं थीं। आधुनिकीकरण, दूसरी ओर, एक लम्बी प्रक्रिया है जिससे मस्तिष्क का वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा होता होता है।

जेम्स ओ कोनेल (James O' Connell) ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के विश्लेषण में इसको तीन पहलुओं में विभाजित किया है: (i) आविष्कारात्मक (inventive) दृष्टिकोण, अर्थात् वैज्ञानिक भावना जिससे निरन्तर व्यवस्थित तथा आविष्कारात्मक ज्ञान प्राप्त होता हो, जो कि घटना के कारण और परिणाम से संबंधित हो, (ii) नए तरीकों और उपकरणों का आविष्कार, अर्थात् उन विभिन्न विधियों की खोज जो अनुसन्धान को आसान बनाये, और उन नई मशीनों का आविष्कार जो जीवन के नये प्रतिमान को आवश्यक बनाते हों। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत व्याख्या धार्मिक संस्कारों को अनावश्यक बनाती है, और आर्थिक विकास में वृद्धि होती है और वह आत्मनिर्भर हो जाता है।

- धन्धे अधिक विशिष्ट और कुशल (skilled) हो जाते हैं।
- प्रारम्भिक धन्धों में लगे लोगों की संख्या कम होती जाती है, जबकि द्वैतीयक तथा तृतीयक धन्धों में लगे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है।
- पुराने कृषि यन्त्रों तथा विधियों के स्थान पर ट्रेक्टरों और रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग बढ़ता है।
- वस्तु विनिमय (barter system) की स्थान मुद्रा व्यवस्था ले लेती है।
- उन समुदायों के बीच जो पहले एक दूसरे से अलग होते थे और स्वतंत्र होते थे, अन्तःनिर्भरता (inter-dependence) आ जाती है।
- नगरीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि होती है।
- प्रदत्त प्रस्थिति अर्जित प्रस्थिति को स्थान देती है।
- समानता धीरे-धीरे संस्तरण का स्थान लेती है।
- स्वास्थ्य सुधार तथा अच्छी मेडिकल देखभाल के कारण जीवन की अवधि लम्बी होती जाती है।
- यातायात तथा संचार की नवीन विधियों द्वारा भौगोलिक दूरियाँ कम होती जाती हैं।
- वंशानुगत नेतृत्व का स्थान चुनाव द्वारा नेतृत्व ले लेता है।

परम्परागत समाज गतिहीन होता है। उच्च गतिशीलता वाले समाज में जिसे मुक्त समाज भी कहा जाता है, व्यक्ति मार्ग में आने वाले अवसरों तथा अपनी योग्यता व संभावनाओं का लाभ उठाते हुए अपनी प्रस्थिति में परिवर्तन कर सकता है। दूसरी ओर, बन्द या गतिहीन समाज में व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक एक ही प्रस्थिति में रहता है। आधुनिकता से हमारा तात्पर्य मुक्त समाज की रचना से या नई संस्थाओं की रचना की सीमा से, और उस परिवर्तन को स्वीकारने से है जो संस्थाओं, विचारों तथा समाज की

सामाजिक संरचना से सम्बद्ध है। शिल्स (Shils) की मान्यता है कि परम्परागत समाज किसी भी अर्थ में पूर्णतः परम्परागत नहीं होता और आधुनिक समाज किसी भी प्रकार परम्पराओं से मुक्त नहीं होता।

3.3 आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण

इजेन्टाड के अनुसार सामाजिक संगठन (या आधुनिकीकरण) के संरचनात्मक पक्षों के मुख्य सूचक (indices) हैं: विशिष्ट भूमिकाएं (specialized roles) उन्मुक्त विचरण वाली (free floating) होती हैं (अर्थात् उनमें प्रवेश व्यक्ति के प्रदत्त लक्षणों से निर्धारित नहीं होता है), तथा धन व शक्ति जन्म के आधार पर निश्चित नहीं होते (जैसा कि परम्परागत समाजों में होता है)। यह मार्केट जैसी संस्थाओं से, (आर्थिक जीवन में), मतदान से, और राजनीतिक जीवन में पार्टी कार्यों से सम्बद्ध होते हैं।

मूर (Moore) ने बताया है कि आधुनिक समाज के विशेष आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक लक्षण होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक समाज के लक्षण निम्न हैं: (i) अत्यन्त उच्च स्तरीय तकनीकी का विकास जो ज्ञान के व्यवस्थित खोज से होता है, जिसका अनुसरण प्राथमिक व्यवसाय (कृषि में) कम और द्वैतीयक (उद्योग, व्यापार) और तृतीयक (नौकरी) व्यवसायों में अधिक होता है; (ii) आर्थिक विशिष्टताओं की भूमिकाओं का विकास, (iii) प्रमुख बाजारों, जैसे वस्तुओं का बाजार, श्रम बाजार, तथा मुद्रा बाजार के क्षेत्र व जटिलता का विकास।

राजनैतिक क्षेत्र में आधुनिक समाज कुछ अर्थों में प्रजातांत्रिक या कम से कम जनवादी (populistic) है। इसके लक्षण हैं: (i) शासकों के अपने समाज से बाहर शक्ति के सन्दर्भ में पारम्परिक वैधता में गिरावट, (ii) शासकों की उन शासितों के प्रति एक प्रकार के वैचारिक उत्तरदायित्व (ideological accountability) की स्थापना जो राजनैतिक सत्ता के वास्तविक धारणहारी होते हैं, (iii) समाज की राजनैतिक, प्रशासनिक, वैधानिक एवं केन्द्रीय शक्ति की सीमाओं का विकासशील विस्तार, (iv) समाज में अधिक से अधिक समूहों में संभावित शक्ति का निरन्तर फैलाव और अन्ततः सभी प्रौढ़ नागरिकों में तथा नैतिक व्यवस्था में फैलाव और (v) किसी भी शासक व्यक्ति या शासक समूह के प्रति प्रदत्त राजनैतिक प्रतिबद्धता में कमी होना।

विस्तृत रूप में आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं:

- वैज्ञानिक भावोन्माद (temper)
- कारण (reason) और तर्कवाद
- धर्मनिरपेक्षता

- उच्च आकांक्षाएं तथा उपलब्धि परकता (achievement orientation)
- मूल्यों, मानदण्डों और अभिरुचियों में सम्पूर्ण परिवर्तन
- नवीन प्रकार्यात्मक संस्थाओं की रचना
- मानव संसाधनों में निवेश (investment)
- विकास परक अर्थ व्यवस्था
- नातेदारी, जाति, धर्म या भाषा परक हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हित
- मुक्त (open) समाज
- गतिशील व्यक्तित्व

3.4 आधुनिकीकरण के परिमाण (Measures of Modernization)

आधुनिकीकरण के परिमाणों के विषय में व्याख्या करते हुए रस्टोव और वार्ड (Rustov and Ward) ने इनमें परिवर्तन के इन विशेष पक्षों को सम्मिलित किया है: (i) अर्थव्यवस्था का औद्योगीकरण तथा उद्योग, कृषि, दुग्ध उद्योग (dairy farming), आदि में वैज्ञानिक तकनीकी धारण करके उन्हें अधिकाधिक उत्पादक बनाना; (ii) विचारों का धर्म निरपेक्षीकरण; (iii) भौगोलिक एवं सामाजिक गतिशीलता में उल्लेखनीय वृद्धि; (iv) तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार; (v) प्रदत्त प्रस्थिति से अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन; (vi) भौतिक जीवन स्तर में वृद्धि; (vii) अर्थ व्यवस्था में निर्जीव शक्ति (inanimate energy) का जैविक (animate) शक्ति से अधिक उपयोग; (viii) प्राथमिक उत्पादन क्षेत्र की अपेक्षा द्वैतीयक तथा तृतीय उत्पादन क्षेत्रों में अधिक श्रमिकों का कार्य करना (अर्थात्, कृषि व मत्स्य कार्यों की अपेक्षा निर्माण और नौकरी आदि व्यवसायों में अधिक श्रमिक); (ix) तीव्र शहरीकरण; (x) उच्च स्तरीय साक्षरता; (xi) प्रति व्यक्ति उच्च राष्ट्रीय उत्पादन; (xii) जनसंचार का निःशुल्क विस्तार; (viii) जन्म के समय उच्च जीवन अपेक्षा (expectancy)।

3.5 आधुनिकीकरण की पूर्व आवश्यकताएं (Pre-Requisites of Modernization)

परम्परावाद से आधुनिकीकरण में परिवर्तन होने से पूर्व समाज में आधुनिकीकरण की कुछ पूर्व आवश्यकताएं मौजूद होनी चाहिए। ये हैं: (i) उद्देश्य की जानकारी तथा भविष्य पर दृष्टि, (ii) अपनी दुनिया से परे भी अन्य समाजों के प्रति जागरूकता (iii) अति आवश्यकता का भाव, (iv) विविध भूमिकाओं एवं अवसरों की उपलब्धता, (v) स्वयं लादे गए कार्यों एवं बलिदानों के लिए भावनात्मक तत्परता, (vi) प्रतिबद्ध, गतिशील एवं निष्ठावान नेतृत्व का उदय।

आधुनिकीकरण बड़ा जटिल है क्योंकि इसमें न केवल अपेक्षाकृत नए स्थाई ढाँचे की आवश्यकता होती है, बल्कि ऐसे ढाँचे की भी जो स्वयं को निरन्तर बदलती दशाओं एवं समस्याओं के अनुकूल बना ले। इसकी सफलता समाज की आन्तरिक परिवर्तन की सामर्थ्य पर निर्भर करती है।

इजेन्टाड की मान्यता है कि आधुनिकीकरण के लिए एक समाज के तीन संरचनात्मक लक्षण होने चाहिए:

(i) (उच्च स्तरीय) संरचनात्मक अन्तर, (ii) (उच्च कोटि की) सामाजिक गतिशीलता, और (iii) अपेक्षाकृत केन्द्रीय तथा स्वायत्तता धारी संस्थात्मक संरचना।

3.6 आधुनिकीकरण के प्रति प्रतिक्रिया

सभी समाज आधुनिकीकरण की एक सी प्रक्रिया स्वीकार नहीं करते हैं। हर्बर्ट ब्लूमर (Herbert Blumer) के विचार को मानते हुए पांच तरीके बताये जा सकते हैं जिनमें एक परम्परागत समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। ये हैं:

(1)अस्वीकारात्मक अनुक्रिया (Rejective Response): एक परम्परागत समाज आधुनिकीकरण का

अस्वीकार कर सकता है। यह अनेक प्रकार के विविध स्तरों पर हो सकता है। शक्तिशाली समूह, भूसामन्तशाही, सरकारी स्वल्पतन्त्र (oligarchy), मजदूर संघ तथा धर्मान्ध लोग अपने हितों की रक्षा के लिए आधुनिकीकरण को हतोत्साहित कर सकते हैं। सामाजिक पूर्वाग्रह (prejudices), परम्परागत जीवन के कुछ स्वरूपों, विश्वासों व प्रथाओं में दृढ़ आस्था तथा विशेष रुचि कुछ लोगों को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को अस्वीकार करने और परम्परात्मक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

(2)विकल्पयुक्त अनुक्रिया (Disjunctive Response): प्राचीन और नवीन के बीच सन्धि

(conjunction) अनुक्रिया अथवा आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मकता के बीच सह-अस्तित्व (co-

existence) तब होता है जब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परागत जीवन को प्रभावित किये बिना ही निस्पृह (detached) विकास के रूप में चलती रहती है। इस प्रकार आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मक व्यवस्था में कोई संघर्ष नहीं होता क्योंकि प्राचीन व्यवस्था को कोई खतरा नहीं होता। आधुनिकीकरण के लक्षण परम्परात्मक जीवन के साथ-साथ रहते हैं।

(3)आत्मसाती अनुक्रिया (Assimilative Response): इस अनुक्रिया में परम्परागत व्यवस्था द्वारा

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का आत्मसातीकरण निहित है जो कि जीवन के स्वरूप और संगठनात्मक पक्ष

पर कोई प्रभाव नहीं डालता। इसका उदाहरण बैंकिंग व्यवस्था में बैंक कर्मचारियों द्वारा कम्प्यूटर विचारधारा

को स्वीकार करना है, अथवा गाँवों में किसानों द्वारा कृत्रिम उर्वरकों और ट्रैक्टरों का प्रयोग करना है।

दोनों ही उदाहरणों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परात्मक व्यवस्था या उसके मूलभूत ढाँचे को प्रभावित किए बिना आती है।

(4)समर्थ अनुक्रिया (Supportive Response) इसके अन्तर्गत नवीन व आधुनिक बातें स्वीकार की जाती हैं क्योंकि उनसे परम्परात्मक व्यवस्था को बल मिलता है। उदाहरणार्थ, पुलिस या सेना में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पुलिस की कार्य क्षमता तथा सेना की शक्ति में वृद्धि करती है। विविध परम्परात्मक समूह और संस्थाएं परम्परागत हितों को जारी रखने के लिए आधुनिकीकरण द्वारा प्रदत्त अवसरों का प्रयोग करते हैं तथा परम्परागत स्थिति को दृढ़ता से बनाए रखते हैं। आधुनिकीकरण परम्परात्मक हितों को आगे बढ़ाए रखने के लिए संसाधन और सुविधाएं उपलब्ध करा सकता है।

(5)विघटनकारी अनुक्रिया (Disruptive Response): इस अनुक्रिया में परम्परागत व्यवस्था को कई बिन्दुओं पर समायोजन द्वारा खोखला बनाया जाता है जो कि आधुनिकीकरण द्वारा उत्पन्न स्थितियों के कारण किया जाता है।

साधारणतया ये पांचों अनुक्रियाएँ विविध संयोजनों (combinations) द्वारा परम्परागत व्यवस्था के विविध बिन्दुओं पर होती रहती है। अनुक्रियाएं वरीयताओं (preferences), रुचियों (interests), तथा मूल्यों (values) से प्रभावित होती रहती हैं।

3.7 आधुनिकीकरण के साधन

माइरन वीनर (Myron Weiner) के अनुसार आधुनिकीकरण को सम्भव बनाने वाले प्रमुख साधन (instruments) इस प्रकार हैं:

(1)शिक्षा (Education): शिक्षा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करती है तथा तकनीकी नवीनताओं के लिए आवश्यक दक्षता और अभिरुचियाँ पैदा करती हैं। एडवर्ड शिल्स ने भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका पर बल दिया है। परन्तु आर्नोल्ड एण्डरसन (Arnold Anderson) की मान्यता है कि औपचारिक (formal) शिक्षा ही केवल अध्यापन कुशलता के लिए पर्याप्त नहीं है। कभी कभी

विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा व्यर्थ हो सकती है, क्योंकि यह डिग्रीधारियों की संख्या में तो वृद्धि कर देती है, किन्तु आधुनिक दक्षता तथा अभिरुचियों से पूर्ण लोगों की संख्या में वृद्धि नहीं करती।

(2)संचार (संप्रेषण) (Communication): जनसंचार के साधनों का विकास (टेलीफोन, टी0वी0, रेडियों तथा फिल्म आदि) आधुनिक विचारों को प्रसारित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। केवल खतरा यह है कि यदि इन पर सरकारी नियंत्रण हो तो यह एक ही प्रकार की विचारधारा को प्रसारित करेंगे। प्रजातंत्र में प्रेस अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र होता है।

(3)राष्ट्रीयता पर आधारित विचारधारा (Ideology Based on Nationalism): बहुल (plural) समाजों में राष्ट्रवादी विचारधाराएं सामाजिक दरारों (social cleavages) के एकीकरण के लिए अच्छा साधन होती हैं। वे लोगों के व्यवहार परिवर्तन हेतु राजनैतिक अभिजन की भी सहायता करती हैं। परन्तु बाइन्डर (Binder) की मान्यता है कि अभिजनों की विचारधारा आधुनिक हो सकती है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इससे विकास को भी सुविधा प्राप्त हो।

(4)करिश्माई (चमत्कारी) नेतृत्व (Charismatic Leadership): एक करिश्माई (चमत्कारी) नेता लोगों को आधुनिक विचार, विश्वास, रीति-रिवाज तथा व्यवहार अपनाने के लिए प्रेरित करने में अच्छी स्थिति में होता है क्योंकि लोग उसे श्रद्धा व निष्ठा से देखते हैं। भय यही रहता है कि ऐसा नेता कहीं राष्ट्रीय विकास के स्थान पर व्यक्तिगत यश के लिए आधुनिक मूल्यों एवं अभिरुचियों का प्रयोग न करने लगे।

(5)अवपीड़क सरकारी सत्ता (Coercive Government Authority): यदि सरकारी सत्ता कमजोर है तो यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बनी नीतियों के क्रियान्वयन (implementation) में सफलता प्राप्त नहीं कर पाती है, किन्तु यदि सरकार मजबूत है तो यह लोगों को विकास के उद्देश्य से व्यवहार एवं अभिरुचियों को अपनाने के लिए बाध्य कर सकती है और इसके लिए अवपीड़न (coercion) का सहारा भी ले सकती है। परन्तु माइरन वीनर का मत है कि एक तानाशाही शासन की ढाल के नीचे राष्ट्रीयता देश को विकास की ओर ले जाने के स्थान पर देश के बाहर आत्महत्या का विस्तार स्वरूप (suicidal expansion) सिद्ध हो सकती है। इस सन्दर्भ में बुश प्रशासन (अमेरिका में) के राजनैतिक अभिजनों की नीतियों का उद्धरण देना गलत नहीं होगा जो कि उन्होंने ईराक आदि के लिए बनाई थीं। रूस की श्रेष्ठता समाप्त हो जाने के बाद अमेरिका की सरकारी सत्ता ने अविकसित एवं विकासशील देशों को आधुनिकीकरण के नाम पर पीड़ित करने की नीति अपनायी प्रारम्भ कर दी।

माइरन वीनर ने समाज के आधुनिकीकरण के लिए मूल्यों, अवसरों एवं अभिरुचियों में परिवर्तन की बात भी कही है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया में उन संस्थात्मक रूकावटों की ओर संकेत किया है जो विनियोजन (investment) की दर में कमी करती हैं। इस प्रकार की संस्थात्मक रूकावटों के उदाहरण हैं: भूस्वामित्व (landtenure) व्यवस्था जो कि किसानों को बढ़ते हुए उत्पादन के लाभ से वंचित करती है, ऐसे कर जो देश के एक भाग से दूसरे भाग में वस्तुओं की आने जाने की गति कम करते हैं तथा नौकरशाही नियम।

3.8 भारत में पश्चिम का और आधुनिकीकरण का प्रभाव (The Impact of the West and Modernization in India)

अलाटास के अनुसार भारत पर पश्चिमी प्रभाव का पाँच चरणों में विवेचन किया जा सकता है। प्रथम चरण सिकन्दर की विजय के साथ प्रतिरोधी सम्पर्क है जो कि बाद की शताब्दियों से वाणिज्य व व्यापार से शक्तिपूर्ण आदान प्रदान के रूप में सदियों तक चलता रहा। दूसरा चरण पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ जब वास्कोडिगामा कालीकट में अपने जहाजों के साथ 1498 ई0पू0 में आया। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन पश्चिमी लोगों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा। तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपना शासन प्रारम्भ किया और बाद में अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया। भारत में पश्चिमी संस्कृति के विस्तार का यह प्रथम कदम था। चतुर्थ चरण प्रारम्भ हुआ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तथा औद्योगिक क्रान्ति के आगमन से। अंग्रेजों द्वारा कच्चे माल के रूप में आर्थिक शोषण से प्रारम्भ हुआ और तभी से सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी पश्चिमी संस्कृति का वर्चस्व प्रारम्भ हुआ। पांचवाँ और अंतिम चरण प्रारम्भ हुआ 1947 में भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ।

हमारी सामाजिक व्यवस्था तथा हमारी संस्कृति पर प्रभाव के अर्थ में पश्चिमी संस्कृति की क्या छाप पड़ी है? इसको संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है:

- (1) बैंक व्यवस्था, लोक प्रशासन, सैन्य संगठन, आधुनिक औषधियाँ, कानून आदि जैसी पश्चिमी संस्थाओं को देश में प्रारम्भ किया गया।
- (2) पश्चिमी शिक्षा ने उन लोगों के दृष्टिकोण को विस्तृत किया जिन्होंने आजादी व अधिकारों की बात शुरू की। नवीन मूल्यों, धर्म निरपेक्ष व न्याय संगत भावना तथा व्यक्तिवाद, समानता व न्याय के विचारों के समावेश ने बड़े महत्व का स्थान ले लिया।

- (3) वैज्ञानिक नवीनताओं की स्वीकृति ने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की आकांक्षाओं को ऊंचा उठाया और लोगों के लिए भौतिक कल्याण उपलब्ध कराया।
- (4) कई सुधार आन्दोलन हुए। अनेक परम्परागत विश्वास तथा व्यर्थ की प्रथाएं त्याग दी गईं, तथा अनेक नए व्यवहार स्वरूप अपनाए गए।
- (5) हमारी तकनीकी, कृषि, व्यवसाय और उद्योग आधुनिक किए गए जिससे देश का आर्थिक विकास एवं कल्याण हुआ।
- (6) राजनैतिक मूल्यों के संस्तरण की पुनर्रचना की गई। प्रजातंत्र स्वीकार करने के बाद सभी रियासतें भारतीय राज्य में सम्मिलित कर ली गईं तथा सामन्तों और जमींदारों के अधिकार और शक्ति समाप्त हो गईं।
- (7) विवाह, परिवार और जाति जैसी संस्थाओं में संरचनात्मक परिवर्तन आए और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में नए संबंध बनने लगे।
- (8) रेलवे, बस यात्रा, डाक सेवा, हवाई एवं समुद्री यात्रा, प्रेस, रेडियों और दूरदर्शन आदि संचार माध्यमों के आने से मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा है।
- (9) राष्ट्रीय भावना में वृद्धि हुई है।
- (10) मध्यम वर्ग के उदय ने समाज के प्रमुख मूल्यों में परिवर्तन कर दिया है।

अलाटास (Alatas) ने पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव को हमारी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में चार प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर समझाया है: निरस्नात्मक (eliminative) परिवर्तन, योगात्मक (addictive) परिवर्तन, समर्थन (supportive) परिवर्तन, तथा संश्लेषात्मक (synthetic) परिवर्तन। निरस्नात्मक परिवर्तन वे हैं जिनसे सांस्कृतिक विशेषताएँ, व्यवहार के स्वरूप, मूल्य, विश्वास और संस्थाएँ लुप्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, युद्ध में प्रयोग आने वाले शस्त्रों में पूर्ण परिवर्तन, सती प्रथा का उन्मूलन आदि। योगात्मक परिवर्तनों में जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित नयी सांस्कृतिक विशेषताओं, संस्थाओं, व्यवहार स्वरूपों तथा विश्वासों को अपनाया सम्मिलित है। हिन्दू समाज में विवाह-विच्छेद की व्यवस्था, पिता की सम्पत्ति में पुत्री को भाग देना, पंचायतों में चुनाव प्रथा आदि इस प्रकार के परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं। समर्थक परिवर्तन वे हैं जो पश्चिमी सम्पर्क में आने से पूर्व समाज में विद्यमान विश्वास, मूल्यों या व्यवहार स्वरूपों को अधिक मजबूत करते हैं। इसका एकमात्र उदाहरण है कर्ज व्यवहार में हुण्डी का प्रयोग। संश्लेषात्मक परिवर्तन वे हैं जो वर्तमान में विद्यमान तत्वों से नए स्वरूपों की रचना करते हैं और

साथ ही नए स्वरूपों को भी अपनाते हैं। इसका उदाहरण उस परिवार की रचना है जो आवास की दृष्टि से तो एकाकी है परन्तु कार्य (function) की दृष्टि से अब भी सुयुक्त हैं। जो माता-पिता तथा सहोदरों के प्रति सामाजिक दायित्वों को पूरा करता है। दहेज प्रथा की निरन्तरता बनाए रखना, किन्तु दहेज की धन राशि लेने देने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना। बच्चों का माता-पिता के साथ जीवन साथी के चयन में सहयोग करना आदि।

पश्चिमी प्रभाव के कारण परिवर्तन का उपरोक्त विभाजन केवल विश्लेषण के उद्देश्य से है, लेकिन एक दूसरे से उनको अलग करना सम्भव नहीं है। एक ही प्रकार के परिवर्तन के भीतर हम दूसरे प्रकार के परिवर्तनों के तत्व भी देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, वस्त्र उद्योग के प्रारम्भ करने में समर्थक तत्व देखे जा सकते हैं क्योंकि यह कपड़े के उत्पादन को सुविधा प्रदान करता है। परन्तु साथ ही क्योंकि इससे हाथकरघा (handloom) उद्योग को आघात लगा है, तो यह कहा जा सकता है कि इसमें हटाने योग्य अथवा निरस्नात्मक परिवर्तन के तत्व भी काम करते हैं। खुले कारागृहों (wall-less prisons) का आरम्भ भी एक और उदाहरण है जिसमें तीन विविध प्रकार के परिवर्तन कार्य करते हैं। इसी प्रकार, शिक्षा व्यवस्था, बैंकिंग-व्यवस्था, विवाह व्यवस्था आदि में परिवर्तन मिलते हैं।

वास्तविकता यह है कि जीवन के कुछ क्षेत्रों में पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करके हम सही हो सकते हैं। आधुनिक मेडिकल साइंस, आधुनिक तकनीकी, प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने के आधुनिक उपाय, देश को बाहरी खतरों से सुरक्षा प्रदान करने के आधुनिक तरीके, आदि भारत के इतिहास में पश्चिम के अद्वितीय योगदान के रूप में गिने जायेंगे। लेकिन, भारत इनके साथ-साथ लोगों के उत्थान के लिए अपनी परम्परागत संस्थाओं, प्रथाओं और विश्वासों का भी प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार पश्चिमी प्रभाव के बाद भी तथा विविध व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण के बाद भी भारत, भारत ही रहेगा। भारतीय संस्कृति आने वाले कई दशकों तक सुरक्षित रहेगी।

3.9 भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया (Process of Modernization in India)

पूर्व पृष्ठों में किया गया विश्लेषण दर्शाता है कि परम्परा और आधुनिकता में एक अटूट क्रम पाया जाता है जिसमें एक ओर परम्परा और दूसरी ओर आधुनिकीकरण है। निरन्तरता की इस रेखा पर किसी भी समाज को किसी भी बिन्दु पर रखा जा सकता है। अधिकतर समाज किसी न किसी प्रकार की संक्रमण की स्थिति में रहते हैं।

स्वतंत्रता के समय भारतीय समाज में भी गहरी परम्पराएं थीं, किन्तु यह आधुनिक भी होना चाहता था। ऐसे लोग व ऐसे नेता थे जो कि परम्परागत जीवन शैली ही पसन्द करते थे, लेकिन दूसरी ओर ऐसे लोग भी थे जो भारत का आधुनिक उदय देखना चाहते थे जिसमें अतीत का लगाव न हो। लेकिन कुछ ऐसे भी

थे जो परम्परा एवं आधुनिकता के बीच सामंजस्य के पक्षधर थे। उनका कहना था कि परम्परागत व्यवस्था एक सीमा तक आधुनिकीकरण को स्वीकार कर सकती है व अपना सकती है। इसी प्रकार एक आधुनिकीकृत व्यवस्था एक निश्चित सीमा तक ही परम्परात्मक विचारों को सहन कर सकती है। इस प्रकार वे सह-अस्तित्व चाहते थे। लेकिन प्रथम दो विचारधाराओं के प्रतिपादकों ने माना कि सह अस्तित्व बहुत लम्बी अवधि तक नहीं चल सकता। एक ऐसा बिन्दु अवश्य आता है जबकि परम्परा असह्य हो जाती है।

हमने अपने समाज को विविध स्तरों पर आधुनिक बनाने का निश्चय किया। सामाजिक स्तर पर हम सामाजिक संबंधों को समानता तथा मानवीय गौरव के आधार पर बनाना चाहते थे। ऐसे सामाजिक मूल्य चाहते थे जो सामाजिक गतिशीलता को सुनिश्चित करें, जाति निर्योग्यताओं को दूर करें स्त्रियों की दशा में सुधार करें, आदि आर्थिक स्तर पर हम तकनीकी विकास तथा न्याय वितरण (distributive justice) चाहते थे। सांस्कृतिक स्तर पर हम धर्म निरपेक्षता, तर्कवाद और उदारवाद चाहते थे। राजनैतिक स्तर पर हम प्रतिनिधि सरकार, जनतांत्रिक संस्थाएं, उपलब्धि-परक शक्ति संरचना (achievement-oriented power structure), तथा देश की सरकार में भारतीय जन की अधिक आवाज व भागीदारी चाहते थे। समाज को आधुनिक बनाए जाने के लिए जो माध्यम चुने गए (तर्कवाद और वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित) वे थे: नियोजन, शिक्षा, (जो अज्ञानता के अंधकार को दूर कर सके), विधान, विदेशों से सहायता, उदारवाद की नीति अपनाना आदि।

3.10 व्यक्ति का आधुनिकीकरण (Modernization of Man)

आधुनिक मनुष्य की बाह्य विशेषताओं का आन्तरिक विशेषताओं से भिन्न होने के संदर्भ में एलेक्स इकिल्स की मान्यता है कि आधुनिक व्यक्ति के एक कृषक के रूप में कार्य करने की सम्भावना कम है और उसके द्वारा रोजगार ढूँढने की सम्भावना अधिक है। ऐसे जटिल उत्पादक व्यवसाय व रोजगार जो आधुनिक तकनीकी व ऊर्जा के प्रयोग पर आधारित हो या फिर बड़े निजी या सार्वजनिक उपक्रम को जो उसको समाज में उच्च पद व प्रस्थिति प्रदान कर सके। वह ऐसे नगर में रहना अधिक पसन्द करता है जहाँ उसको निकट में ही सभी साधन उपलब्ध हो सकें, जैसे यातायात, बाजार, बच्चों के स्कूल, मेडिकल एवं डाक सुविधाएं, जो उसकी पहुँच के भीतर हों और ऐसे घर में रहना पसंद करता है जो उसे आधुनिक भौतिक सुख साधन उपलब्ध कराता हो। वह क्लब तथा अन्य संगठनों का सदस्य होना पसन्द कर सकता है जो उसके लिए अभिव्यक्ति, पहचान तथा गतिशीलता में अवसर प्रदान कर सके। संचार एवं संप्रेषण के लिए अधिक खुला होने के कारण वह सामाजिक विकास एवं राजनीति में अधिक रुचि ले सकता है। अपने प्राथमिक नातेदारों के जाल में फंसे रहने की अपेक्षा अव्यक्तिगत वातावरण की ओर अधिक आकर्षित होता है जहाँ वह ऐसे लोगों के सम्पर्क में आए जो उसके व्यवसाय या अन्य संकट के समय उसकी सहायता

कर सकें। ये सभी गुण यद्यपि 'आधुनिकता' नहीं है, लेकिन यह मनुष्य के जीवन क्षेत्र के साथ हैं जो आधुनिक मनुष्य से टकराते हैं। यद्यपि आधुनिक वातावरण के लिए मनुष्य का 'खुला' होना निश्चित ही परम्परात्मा मनुष्य में परिवर्तन करने में योगदान कर सकता है, और फिर उस वातावरण में नवीन मूल्यों, व्यवहार स्वरूपों की उससे अपेक्षा की जायेगी, लेकिन आधुनिक व्यक्ति की आन्तरिक विशेषताएं उसके सोचने, काम करने व अनुभूति के तरीके आदि, उसे वास्तविक आधुनिक बनाने में महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक मनुष्य की आन्तरिक विशेषताएं को इस प्रकार पहचाना गया है: (1) आधुनिक व्यक्ति को नवीन अनुभवों के लिए तैयार रहना चाहिए और नवीनताओं तथा परिवर्तन के लिए खुला होना चाहिए। (2) उसमें बड़ी संख्या में आने वाले मामलों में तथा समस्याओं के विषय में अपनी धारणा बनाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए जो उसके भीतरी व बाहरी पर्यावरण में उदय होती हों। व्यक्ति जितना अधिक शिक्षित होता है उतनी ही अधिक इन चुनौतियों का प्रत्युत्तर देने की तत्परता उसमें होती है। इसके विपरीत एक परम्परागत व्यक्ति अपने चारों ओर के विषयों में कोई रुचि नहीं लेता जो उसे घेरे रहते हैं और प्रभावित भी करते हैं। (3) एक आधुनिक व्यक्ति अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर अधिक उन्मुख होता है। वह अपने मामलों के संगठन में अधिक व्यवस्थित और नियमित होता है। (4) एक आधुनिक व्यक्ति अधिक नियोजन-उन्मुख होता है और जीवन का सामना करने के लिए एक साधन के रूप में इसमें विश्वास रखता है। (5) एक आधुनिक व्यक्ति प्रभावकारी शक्ति में विश्वास करता है और सीखने के लिए तैयार रहता है ताकि पर्यावरण से प्रभावित होने की अपेक्षा वह पर्यावरण पर अधिकार करे और अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों की ओर अग्रसर हो सके। (6) आधुनिक व्यक्ति महान गुणक (calculator) होता है और मनुष्य के नियंत्रण के भीतर तर्कसंगत एवं नियमानुकूल चलाने वाले विश्व में विश्वास करता है। (7) आधुनिक व्यक्ति दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में अधिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करता है। (8) एक आधुनिक व्यक्ति की विज्ञान व तकनीकी में अधिक आस्था होती है। (9) एक आधुनिक व्यक्ति जनतंत्र व न्याय के समान वितरण के प्रति अधिक आस्थावान होता है।

3.11 आधुनिकीकरण की समस्याएं (Problems of Modernization)

(1) आधुनिकीकरण का प्रथम विरोधाभास यह है कि एक आधुनिक समाज को तुरन्त हर प्रकार से बदल जाना चाहिए, लेकिन ऐसे नियमित एवं विकास का समन्वित स्वरूप का अनुमानित नियोजन नहीं हो सकता। अतः एक प्रकार की सामाजिक हलचल हो ही जाती है। उदाहरणार्थ, जन शिक्षा व्यवस्था की मांग है कि दक्ष (trained) व्यक्तियों को उनकी ट्रेनिंग तथा उनके ज्ञान के अनुकूल व्यवसायिक भूमिका में लगा देना चाहिए। लेकिन सभी शिक्षित लोगों को काम दिलाना सदैव सम्भव नहीं होता है। इससे शिक्षित लोगों में निराशा एवं असंतोष पैदा होता है।

(2)दूसरी समस्या यह है कि आधुनिकीकरण की अवधि में संरचनात्मक परिवर्तन असमान होता है। उदाहरणार्थ, उद्योग आधुनिक बनाए जा सकते हैं लेकिन परिवार व्यवस्था, धर्म व्यवस्था आदि रूढ़िवादी ही बने रहते हैं। इस प्रकार की निवृत्तियाँ व अविच्छिन्नताएँ और परिवर्तन के स्वरूप, स्थापित सामाजिक और अन्य संरचनाओं को प्रभावित करते हैं और अन्तराल (lags) गत्यवरोध (bottlenecks) पैदा करते हैं। इसका दूसरा उदाहरण है भारत में मताधिकार की आयु 21 से कम करके 18 वर्ष कर देना। यह आधुनिकता में प्रवेश का एक कदम हो सकता है, किन्तु इसने एक संकट पैदा कर दिया है क्योंकि निर्वाचक समूह इस अनुमान पर निर्भर करता है कि उनमें नागरिकता की परिपक्व भावना होगी तथा नीतियों में भागीदारी की योग्यता होगी।

(3)तीसरी समस्या है कि सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण परम्परागत जीवन शैली के साथ संघर्ष पैदा करता है। उदाहरणार्थ, प्रशिक्षित डॉक्टर परम्परागत वैद्यों के लिए खतरा हो जाते हैं। इसी प्रकार मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुएं घरेलू श्रमिकों को रोजी रोटी से वंचित कर देती हैं। इसी तरह बहुत से परम्परावादी लोग उन लोगों के विरोधी हो जाते हैं जो आधुनिकता स्वीकार करते हैं। फलतः परम्परावादी और आधुनिक तरीकों में संघर्ष असंतोष का कारण हो जाता है।

(4)चौथी समस्या यह है कि अक्सर लोग जो भूमिकाएं धारण करते हैं, वे आधुनिक तो होती हैं, किन्तु मूल्य परम्परात्मक रूप में जारी रहते हैं। उदाहरणार्थ, मेडिसिन और सर्जरी में ट्रेनिंग लेने के बाद भी एक डॉक्टर अपने मरीज से यही कहता है, “मैं इलाज करता हूँ, ईश्वर ठीक करता है।” यह दर्शाता है कि उसे अपने पर विश्वास नहीं है कि वह बीमारी का सही निदान कर सके बल्कि स्वयं पर आरोप लगाने की बजाय वह उन तरीकों की निन्दा करता है जिनमें उसका जीवन-मूल्यों को विकसित करने के लिए समाजीकरण किया गया है।

(5)पाँचवीं समस्या यह है कि उन साधनों के बीच जो आधुनिक बनाती हैं और उन संस्थाओं व व्यवस्थाओं में जिनको आधुनिक होना है सहयोग की कमी है। कई बार इससे सांस्कृतिक विलम्बना (cultural lag) की स्थिति पैदा होती है तथा संस्थात्मक संघर्ष होते हैं।

(6)अंतिम समस्या यह है कि आधुनिकीकरण लोगों की आकांक्षाओं को बढ़ाता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्थाएं उन्हें आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अवसर प्रदान करने में असफल रहती हैं। ये कुण्टाएँ वंचनाएं और सामाजिक असंतोष पैदा करती हैं।

3.12 सारांश

आधुनिकीकरण कोई दर्शन या आन्दोलन नहीं है। प्रारंभ में 'आधुनिकीकरण' शब्द का प्रयोग अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सामाजिक मूल्यों एवं प्रथाओं पर इसके प्रभाव के संदर्भ में किया जाता था। वर्तमान में आधुनिकीकरण के अनेक आयाम एवं वृहद अर्थ हैं। इसको एक ऐसा सामाजिक परिवर्तन माना जाता है जिसमें विज्ञान एवं तकनीकी के तत्व शामिल होते हैं। एलाटास के अनुसार आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्बद्ध समाज द्वारा स्वीकृत विस्तृत अर्थों में अधिक अच्छे व संतोषजनक जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान को समाज में पहुँचाया जाता है आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया समझी जाती है जिसमें पुरानी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धताओं के समूह मिटा दिए जाते हैं व तोड़ दिए जाते हैं और लोग नवीन प्रकार के सामाजिकीकरण और व्यवहार प्रतिमानों के लिए तैयार रहते हैं।

आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण हैं— वैज्ञानिक भावोन्माद, कारण और तर्कवाद, धर्मनिरपेक्षता, उच्च आकांक्षाएँ तथा उपलब्धिपरकता, मूल्यों मानदण्डों एवं अभिरूचियों में संपूर्ण परिवर्तन, नवीन प्रकार्यात्मक संस्थाओं की रचना, मानव संसाधनों में निवेश, विकासपरक अर्थव्यवस्था, नातेदारी, जाति, धर्म या भाषा परक हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हित, मुक्त समाज तथा गतिशील व्यक्तित्व। आधुनिकीकरण के लिए समाज में कुछ पूर्व आवश्यकताएँ, जैसे— उद्देश्य की जानकारी तथा भविष्य पर दृष्टि, अन्य समाजों के आधुनिकीकरण के प्रति एक समान प्रतिक्रिया नहीं करते हैं। कुछ अस्वीकार करते हैं, कुछ विकल्प रूप में रखते हैं, कुछ समाज आत्मसात कर लेते हैं तथा समर्थन करते हैं। आधुनिकीकरण को संभव बनाने वाले महत्वपूर्ण साधनों में शामिल हैं— शिक्षा, संचार, राष्ट्रीयता की विचारधारा, करिश्माई नेतृत्व, अवपीड़क सरकारी सत्ता।

भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संरचनात्मक स्तरों पर दिखती है। आर्थिक संरचनात्मक स्तर पर पारिवारिक एवं सामुदायिक उपकरणीय अर्थव्यवस्था के स्थान पर यंत्रिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था अपनाई जा रही है। सामाजिक स्तर पर अर्जित प्रस्थिति भूमिका की अपेक्षा परंपरागत प्रदत्त भूमिका व प्रस्थिति में कमी आयी है। राजनैतिक संरचनात्मक स्तर पर जनतांत्रिक शक्ति संरचना की स्थापना की गई है। सांस्कृतिक स्तर पर धर्म निरपेक्ष मूल्य व्यवस्था द्वारा परिवर्तन लाया जा रहा है। व्यक्ति का जब आधुनिकीकरण होता है तो उसमें कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। जैसे कि कृषि के स्थान पर वह रोजगार करता है। आधुनिक तकनीक एवं संचार माध्यमों का बहुतायत से प्रयोग करता है। नगरीय जीवन को प्राथमिकता देता है। घर में आधुनिक भौतिक सुख साधन चाहता है। सामाजिक विकास एवं राजनीति में अधिक रूचि लेता है। प्राथमिक नातेदारों की अपेक्षाकृत अव्यक्तिगत वातावरण की ओर आकर्षित होता है आदि।

3.14 सन्दर्भ सूची

1. प्रो० जी०पी० त्रीपाठी— भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।
2. तेजस्कर—ओजस्कर पाण्डेय—समाज कार्य दर्शन (2009)— भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल—लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)—इलाहबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा— सामाजिक समस्याय (2008)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा—भारतीय समाज (2007)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा० अवतार सिंह—भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा० गणेश पाण्डे—अपराध शास्त्र (2008)— राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—विधि शास्त्र(2006)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय, भोपाल)—डा० शैफाली यादव
10. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा० अभय सिंह—सूचना का अधिकार अधिनियम 2005, (2009)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा० आर०के० अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा० इकबाल सिंह—मुस्लिम विधि (2001)— सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।

3.14.1—सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सी०पी० अरोरा—विधि अपराध अधिनियम (2010)— यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010) ।
2. डा० टी०पी० त्रीपाठी—सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)— इलाहबाद लॉ एजेन्सी ।
3. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—श्रमिक विधियां—(2005)—सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।
4. डा० एस०के० कपूर— मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)—सेन्द्रल लॉ पब्लिकेशन ।

3.15 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) आधुनिकीकरण का क्या अर्थ है? इसकी प्रमुख परिभाषाओं का विश्लेषण कीजिए।
- (2) आधुनिकीकरण के पूर्व समाज में क्या होना आवश्यक है? समाज आधुनिकीकरण के प्रति कैसी प्रतिक्रिया करता है?
- (3) आधुनिकीकरण के महत्वपूर्ण साधनों की व्याख्या कीजिए।
- (4) भारत में पश्चिम का एवं आधुनिकीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है?
- (5) भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
- (6) एक आधुनिक व्यक्ति में क्या लक्षण होते हैं?
- (7) आधुनिकीकरण की समस्याओं पर एक लेख लिखिए।

एलएलएम प्रथम वर्ष
भारत में विधि एवं सामाजिक परिवर्तन

खण्ड-4: आधुनिकीकरण और समुदाय विधि

इकाई-4: विधिक सुधार

इकाई संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 आधुनिकीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय विधिक परिदृश्य
 - 4.2.1 अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार
 - 4.2.2 नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियाँ
- 4.3 आधुनिकीकरण एवं भारतीय संविधान
- 4.4 आधुनिकीकरण के सदर्थ में विधिक सुधार
 - 4.4.1 सामाजिक एवं आर्थिक न्याय
 - 4.4.2 लोकहित वाद
 - 4.4.3 लोक अदालतें
 - 4.4.4 अनु0 21 के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति
 - 4.4.5 कुछ अन्य महत्वपूर्ण विधिक प्रयास व सुधार
 - 4.4.5.1 अनु0 21 का विस्तार
 - 4.4.5.2 आपराधिक न्याय प्रशासन में सुधार
 - 4.4.5.3 सूचना का अधिकार
- 4.5 सारांश
- 4.6 सन्दर्भ सूची
 - 4.6.1 सहायक सन्दर्भ सूची
- 4.7 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

परंपरा तथा आधुनिकता का सहअस्तित्व बना रहता। भारतीय समाज ने अच्छी परंपराओं पर आधुनिकता का बहिष्कार किया, सड़ी-गली व्यर्थ की परंपराओं को त्याग कर आधुनिकता अपनाई तथा कतिपय स्थानों पर परंपरा व आधुनिकता साथ-साथ रहे। तात्पर्य है कि विषय व स्थिति के अनुकूल भारतीय समाज ने तीनों रास्तों को अंगीकृत किया। परन्तु यह प्रक्रिया अत्यधिक जटिल रही है तथा उपरोक्त तीनों रास्तों का सम्मिश्रण कई बार भ्रमित करता है। जवाहरलाल नेहरू ने, भारतीय समाज ने आधुनिकता को कैसे स्वरूप में स्वीकारा है पर टिप्पणी करते हुए लिखा है— आधुनिक मस्तिष्क व्यवहारिक एवं प्रकार्यात्मक, नैतिक एवं सामाजिक तथा सर्ववादी एवं मानवतावादी है। यह सामाजिक बेहतरी के लिए व्यवहारिक आदर्शवाद से शासित है। इनको संचालित करने वाले आदर्श, युग के उद्देश्यों एवं युगधर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानवता इसका ईश्वर है तथा सामाजिक विज्ञान इसका धर्म। उपरोक्त विचारधारा के आधार पर समाज का योजनाबद्ध विकास, आधुनिकीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण है। खुले समाज का सृजन, नई संस्थाओं का उदय, विचारों में परिवर्तन को स्वीकृति आदि, सामाजिक संरचना के आधुनिकीकरण के घटक हैं।

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड-4 की इकाई-3 का उद्देश्य है कि आप आधुनिकीकरण के संदर्भ में किए गए विधिक प्रयासों एवं सुधारों को समझ सकें। संक्षेप में प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है कि आप निम्नांकित बिन्दुओं को आत्मसात कर सकें।

- आधुनिकीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय विधिक परिदृश्य
- आधुनिकीकरण एवं भारतीय संविधान
- आधुनिकीकरण के संदर्भ में विधिक सुधार
- सामाजिक एवं आर्थिक न्याय
- लोकहित वाद
- लोक अदालतें
- अनु0 21 का विस्तार एवं क्षतिपूर्ति
- आपराधिक न्याय प्रशासन में सुधार
- सूचना का अधिकार

4.2 आधुनिकीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय विधिक परिदृश्य

यह मुख्यतः दो रूपों में परिलक्षित होता है— (1) अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार (2) नयी विश्वव्यापी आर्थिक नीतियाँ।

4.2.1 अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानव अधिकारों संबंधी प्रावधानों के रखे जाने का एक कारण मनुष्य जाति का प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कटु अनुभव था जबकि मानवीय अधिकारों का बहुत बड़े पैमाने पर उल्लंघन हुआ था। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना यह संकल्प व्यक्त करती है कि आने वाली पीढ़ियों को युद्धों के प्रकोप से बचाया जायेगा, क्योंकि इन युद्धों ने दो बार मनुष्य जाति को अकथनीय दुःख दिया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना मौलिक मानवीय अधिकारों, मानव व्यक्ति की गरिमा एवं मूल्य पुरुषों एवं महिलाओं के समान अधिकारों की पुनः पुष्टि करता है।

महासभा के सर्वप्रथम निर्णयों में से एक निर्णय मानवीय अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल को तैयार करवाना था तथा इसलिये महासभा ने आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् से कहा कि वह मानवीय अधिकारों के कमीशन से इस संबंध में अध्ययन करवाने को कहे। जिन व्यक्तियों ने मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का प्रारूप तैयार किया उनके मस्तिष्क में दो-दो विश्वयुद्धों में बड़े पैमाने पर हुये मानवीय अधिकारों के उल्लंघन ताजे थे तथा इनकी गूँज या प्रतिछाया सार्वभौमिक घोषणा की प्रस्तावना के शब्दों में दिखती है। प्रस्तावना के निर्माताओं के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वह मूल अधिकारों में मानव व्यक्ति की गरिमा एवं मूल्य तथा पुरुष एवं महिलाओं के समान अधिकारों में आस्था की पुनः पुष्टि करे क्योंकि उनके विचार में यह स्वतंत्रता, न्याय एवं विश्व में शांति की नींव थी। सार्वभौमिक घोषणा के अंगीकार किये जाने के समय से इसने इतना शक्तिशाली प्रभाव डाला है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय दोनों रूप से सही कहा गया है कि इसका विधिक गुण चाहे जो हो घोषणा ने एक ऐसा मानक स्थापित किया है जिससे राष्ट्रीय व्यवहार को माना जा सकता है तथा राष्ट्र जिसे प्राप्त करने की आकांक्षा कर सकते हैं। घोषणा चार्टर में व्यक्त भावना तथा समय की आवश्यकताओं की सामान्यताओं को समोच्च रेखा (Contour) तथा विषय वस्तु देने में सहायक रहा है। फासेट (Fawcett) ने भी लिखा है कि वास्तव में सभी लोगों एवं सभी राष्ट्रों की प्राप्ति के सामान्य मानक के रूप में विश्वस्तरीय उद्घोषणा के रूप में घोषणा एक ऐसी खान है जिससे इन अधिकारों के संरक्षण हेतु अन्य अभिसमयों एवं राष्ट्रीय संविधानों ने घोषणा से ग्रहण किया है तथा कर रहे हैं।

4.2.2 नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियाँ

आधुनिकीकरण के संदर्भ में उदारीकरण एक नयी आर्थिक नीति है। उदारीकरण से अभिप्रेत है सरकारी विनियमनों में ह्रास जिससे कि बाजार के विभिन्न बल बिना किसी बाधा के संचालित हो सके। इससे दो

अन्य संबद्ध विचारों निजीकरण एवं भूमंडलीकरण को मिलाकर नयी आर्थिक नीति का सृजन हुआ है। भारत में नीति निर्माताओं को संरक्षणवाद एवं पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अच्छाइयों एवं बुराइयों का ज्ञान था, इसी कारण स्वतंत्रता के बाद भारत में मिश्रित आर्थिक व्यवस्था को अपनाया गया। परन्तु अमरीका, इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में खुली प्रतिस्पर्धा के वातावरण पर बल दिया गया तथा पूंजीवाद ही दिग्दर्शक रहा। भारतीय आर्थिक व्यवस्था स्वाश्रय, समान वितरण, समाजवाद एवं कल्याणकारी राज्य के आदर्शों पर आधारित रही। परन्तु इसके कुछ बहुत ही बुरे परिणाम लचीली विधि, ढीले विकास कार्यक्रमों, भ्रष्टाचार, पिछड़ती आर्थिक व्यवस्था के रूप में सामने आए। सामाजिक सुरक्षा, लोक स्वास्थ्य, लैंगिक समानता तथा भूमि सुधार जैसी नीतियाँ बहुत संतुष्टिजनक नहीं रहीं। सहायताओं तथा प्रोत्साहनों ने आर्थिक व्यवस्था को और अधिक लचर कर दिया। पूरे विश्व में आधुनिकीकरण की लहर चल रही थी। भारत में भी दबाव बढ़ रहा था कि आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप कम किया जाए। अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक के दबाव में भारत ने अपने आर्थिक आपात से निकलने के लिए 1990 में नयी आर्थिक नीति को अपना लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नयी आर्थिक नीति को प्रारूप देने वाली कुछ महत्वपूर्ण आर्थिक संस्थायें हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है:-

(1) पुनर्गठन और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अर्थात् विश्व बैंक (The International Bank for Reconstruction and Development, World Bank -IBRD)—विश्व बैंक अपना कार्य

जून, 1946 से आरम्भ किया। यह बैंक एक अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता संगठन है और संयुक्त राष्ट्रों के साथ एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में सम्बद्ध है। इसका उद्देश्य सदस्य देशों को आर्थिक विकास में सहायता देना है। इस प्रकार यह बैंक विश्व के लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में लगा हुआ है। यह बैंक सदस्य सरकारों को उत्पादन के प्रयोजनों के लिए ऋण देता है तथा ऐसे सहकारी अभिकरणों या निजी उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए ऋण देता है जो सहकारी प्राभूति के अन्तर्गत है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation- IFC)—इस निगम की

स्थापना सन् 1956 में की गई। यह विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्थान है। इस निगम का उद्देश्य सदस्य देशों में उत्पादक निजी उद्योगों को विकसित करने के लिए सहयोग देना है। विशेष रूप से कम विकसित क्षेत्रों में विश्व बैंक के क्रिया कलापों द्वारा सहायता देना इस निगम का एक निश्चित कार्यक्रम है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association -IDA)—इस संघ

की स्थापना सितम्बर, 1960 में विश्व बैंक के सहायक अभिकरण के रूप में की गई। इसका उद्देश्य विश्व के अपेक्षाकृत कम विकसित देशों में आर्थिक विकास, उत्पादन वृद्धि और जीवन स्तर को ऊँचा करने की

दिशा में सहायता करना है जिससे सदस्य देश अपने महत्वपूर्ण विकास की आवश्यकताओं के मामले में अपेक्षाकृत सरल शर्तों पर ऋण प्राप्त कर सकें।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय निधि (International Monetary Fund-IMF)**—अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय निधि स्थापना का उद्देश्य वित्तीय मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना है। इस बढ़ावा देने का माध्यम एक स्थायी संस्था होगी जिसके प्रयोजन निम्नलिखित होंगे— अपनी आर्थिक नीति के प्राथमिक प्रयोजन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार और उसका संतुलित विकास उसके द्वारा रोजगार के अवसरों को बढ़ावा देना तथा यथार्थ आमदनी के साधन प्रदान करना तथा सभी सदस्यों में उत्पादक स्रोतों का विकास करना, उनके विनिमय की क्षमता को बढ़ावा देना, सदस्यों के बीच व्यवस्थित विनिमय को बनाये रखना तथा विनिमय के तुलनात्मक अपक्षय को रोकना और समुचित सुरक्षाओं के अधीन निधि के स्रोतों को सुलभ कराकर सदस्यों को विश्वास प्रदान करना है।

(5) **शुल्क दरों और व्यापार विषयक सामान्य समझौता (General Agreement on Tariffs and Trade - GATT)**—इस समझौते का प्रारूप हवाना में नवम्बर 1947 से मार्च, 1948 के बीच सम्पन्न व्यापार और नियोजन विषयक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में तैयार किया गया था। जी0ए0टी0टी0 पर 30 अक्टूबर, 1947 को जेनेवा में हस्ताक्षर किये गये और इसका प्रवर्तन 1 जनवरी, 1948 से किया गया। इस समय तक यह संस्था व्यापारिक आचरण की नियमावली देने वाली, एकमात्र संस्था रही है जिसे प्रमुख व्यापारिक राष्ट्रों द्वारा मान्यता मिल चुकी है। यह एक बहुपक्षीय सन्धि के रूप में है।

(6) **व्यापार और विकास विषयक संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (United Nations Conference On Trade and Development-UNCTAD)**—इस सम्मेलन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना है, विशेष रूप में विकासशील देशों के निर्यात को बढ़ावा देना इसका लक्ष्य है जिससे वे देश अपने देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को सरलता से पूरा कर सकें। अंकटाड सभी अन्तर्राष्ट्रीय ऐसे निकायों के क्रियाकलापों को सह संबंधित कर देता है जिनका संबंध समितियों से है तथा सरकारों के नाम नीतियों का संतुतीकरण करता है।

(7) **संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United nations Development Programme - UNDP)**—इस संस्था की स्थापना 1965 में उस समय की गयी जब महासभा ने विकास के दो कार्यक्रमों को अर्थात् तकनीकी सहायता विषयक विस्तारित कार्यक्रम और संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम विषयक विशिष्ट निधि को एक में मिला देने का निश्चय किया था। यू0एन0डी0पी0 कम आय के देशों को पर्याप्त मात्रा में सहायता सेवाएं प्रदान करता है जिससे कि वे अपने मानवीय और प्राकृतिक साधनों का अधिक और पूर्ण उत्पादक प्रयोग कर सकें।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कानून विषयक संयुक्त राष्ट्र आयोग – UNCITRAL) — अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बीच आने वाली कानूनी बाधाओं को कम करने की आवश्यकता की पूर्ति के लिए महासभा ने 17 दिसम्बर, 1966 को इस आयोग का गठन किया। इसमें 36 राज्य हैं जो कि भिन्न भिन्न भौगोलिक प्रक्षेत्रों और विश्व की प्रमुख आर्थिक और कानूनी प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस आयोग का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विधि को संतुलित करते हुये उसका एकीकरण करना है।

4.3 आधुनिकीकरण एवं भारतीय संविधान

संविधान के नीति निर्देशक तत्वों का एक उद्देश्य, राज्य की आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में पुर्नरचना है। अनु0 48 स्पष्ट रूप से प्राविधान करता है कि राज्य कृषि एवं पशुपालन को आधुनिक एवं वैज्ञानिक आधारों पर संगठित करेगा तथा नई प्रजातियों के विकास एवं संरक्षण गाय एवं बछड़ों के वध को रोकने के लिए कदम उठायेगा। अनु0 48—अ वातावरण संरक्षण एवं सभी प्राणियों के प्रति दया दिखाने को उपबन्धित करता है।

शिक्षा को आधुनिकीकरण का उपकरण मानते हुए अनु0 45, 14 वर्ष से कम बालकों की मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा सुनिश्चित करता है। छियासिवें (86) संविधान संशोधन द्वारा अनु0 21—अ जोड़ कर प्राथमिक शिक्षा को मौलिक अधिकार बना दिया गया है। कुछ राज्यों में आधुनिकीकरण व्यवसायिक एवं तकनीकी शिक्षा में दिखता है जो योग्य एवं कुशल मानव संसाधन की माँग की आपूर्ति करती है।

अनु0 44 में समान सिविल संहिता की आवश्यकता का रेखांकन, इसके माध्यम से आधुनिकीकरण के आशय को प्रदर्शित करता है। परिवारों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था को तोड़ने के लिए यह माना जाता है कि पारिवारिक विधि के पुनः संयोजन की आवश्यकता है। यद्यपि वैयक्तिक विधि से धर्म का संबंध दूरगामी ही है फिर भी, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के गौरवान्वन के कारण मुस्लिम वैयक्तिक विधि में बहुत अधिक सुधार नहीं हो सके। हिन्दू विधि में हिन्दू संहिता द्वारा भागिक सुधार का ही प्रयास किया जा सका। ईसाई वैयक्तिक विधि में भी सुधार आवश्यक हैं, परन्तु उसमें भी असंतोषजनक प्रयास ही हुए हैं। वैयक्तिक विधियों में न्यायपालिका, लैंगिक न्याय को कम ही सुनिश्चित कर पाई है। फिर भी भरण पोषण के अधिकार एवं गरिमामय जीवन के अधिकार ने कुछ राहत पहुँचाई है।

4.4 आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में विधिक सुधार

विधि ने आधुनिकीकरण का वातावरण तैयार किया है, उसका विकास किया है तथा उसके परिणामों के प्रतिउत्तर में वर्तमान विधिक व्यवस्था में सुधार तथा संशोधन किए हैं। कुछ नयी नीतियों (सामाजिक एवं

आर्थिक न्याय) को अपनाया है तथा नए उपकरणों (लोकहित वाद, लोक अदालत) को विकसित किया है। विधिक सुधारों में विशेषतः महिलाओं, बालकों अनुसूचित जातियों, बन्दियों आदि की दशा सुधार पर बल दिया गया है। सूचना का अधिकार संबंधी अधिनियम तथा साइबर अपराधों की रोकथाम इसी दिशा में किए गए प्रयास हैं

1.4.1 सामाजिक एवं आर्थिक न्याय

सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को और आगे बढ़ाने के लिये केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों ने विभिन्न विधेयक पारित किये, जिन्हें हम सामाजिक विधायन (Social Legislation) के रूप में जानते हैं। जिनमें प्रमुख हैं, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम 1988; उद्योग (विकास एवं विनियमन) अधिनियम 1951; सम्पदा शुल्क अधिनियम 1953; छुआछूत (अपराध) अधिनियम 1955; हिन्दू विवाह अधिनियम 1955; हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; भारतीय जीवन बीमा अधिनियम, 1956; धनकर अधिनियम 1957; दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961; गन्दी बस्ती (सुधार एवं सफाई) अधिनियम 1957; दानकर अधिनियम 1958; बोनस भुगतान अधिनियम 1965, बैंकों के राष्ट्रीयकरण संबंधी अधिनियम 1969 न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948; बैंकवादी विनियमन अधिनियम 1949; बीड़ी तथा सिगार कर्मकार (नियोजन की शर्तें) अधिनियम 1966; बीड़ी कर्मकार उपकर अधिनियम 1976; वन्धित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम, 1976; बालक अधिनियम 1960; सेवा श्रम (विनियमन एवं उत्सादन) अधिनियम 1970; विस्थापित व्यक्ति (प्रतिकर एवं पुनर्वास) अधिनियम 1954; कर्मचारी भविष्य निधि और प्रकीर्ण उपबन्ध अधिनियम, 1952; कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948; साधारण बीमा कारवार (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1972; औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947; प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961; उपदान संदाय अधिनियम, 1972 आदि।

सामाजिक विधायन को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है— प्रथम वे अधिनियम जिनका संबंध सामाजिक बुराईयों के निवारण से हैं जैसे— छुआछूत, दहेज, वेश्यावृत्ति आदि, द्वितीय वे विधियाँ हैं, जिनका संबंध सामुदायिक कल्याण से है जैसे— स्वास्थ्य, शिक्षा, मकान एवं योजना आदि। तृतीय वे हैं जिनका संबंध सामाजिक सुरक्षा से है जैसे— सामाजिक बीमा, वृद्धावस्था एवं प्रसूति प्रसुविधा। चौथे जिनका संबंध सामाजिक कार्य एवं सामाजिक कल्याण से है जैसे— बाल कल्याण, अपचार या अपराध (delinquency), परिवीक्षा (probation) या जुआ का निवारण। पाँचवाँ वे हैं जिनका संबंध जमींदारी उन्मूलन, काश्तकारी (tenancy), भूदान या सहकारिता है।

भारतीय न्यायपालिका ने भी सामाजिक न्याय की कल्पना को साकार करने की दिशा में महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। यद्यपि यह सच है कि सर्वोच्च न्यायालय के तीन प्रमुख निर्णयों ने सामाजिक न्याय की धारणा को धक्का पहुँचाया वे हैं, गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) आर0सी0 कूपर बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (1970) और प्रीवी पर्स वाद। (1971) इन निर्णयों को व्यर्थ कर देने के लिये भारतीय

संसद ने संविधान का 24वाँ एवं 25वाँ संशोधन किया। केशवानन्द भारती (1973) में सर्वोच्च न्यायालय ने 25वाँ, 24वाँ, या 29वें संविधान संशोधन को संवैधानिक ठहराया। बाद के अपने कई निर्णयों और विशेषकर 1978 के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने सामाजिक न्याय को आगे बढ़ाने और व्यावहारिक रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यही नहीं, भारत के कई उच्च न्यायालयों ने भी सामाजिक न्याय की परिकल्पना को व्यावहारिक रूप देने का सराहनीय कार्य किया है।

1.4.2 लोकहित वाद

लोकहित वाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत लोक कल्याणकारी राज्य में सभी व्यक्तियों को न्याय के समान अवसर उपलब्ध कराने की अवधारणा को सार्थक रूप दिया गया है तथा इसके द्वारा सभी को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की गई है कि न्यायालय के दरवाजे सभी के लिये खुले हैं। लोकहित वाद के प्रमुख लक्षण निम्नानुसार हैं—

(1) इसमें याचिका दायर करने वाले व्यक्ति के निजी विधिक अधिकार का हनन हुआ होना आवश्यक नहीं है क्योंकि लोकहित वाद का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक हितों की संरक्षा करना है, न कि व्यक्तिगत हितों की।

(2) लोकहित वाद उन लोगों के हितों के संरक्षणार्थ दायर किये जाते हैं, जो गरीबी, साधनहीनता या अज्ञानता के कारण स्वयं वाद लाने में असमर्थ होते हैं।

(3) इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि याचिका केवल उस व्यक्ति द्वारा ही दायर की जाए, जिसके किसी विधिक अधिकार का हनन हुआ है, अपितु कोई भी समाजसेवी व्यक्ति या संस्था सद्भावनापूर्वक जनहित से जुड़े किसी मामले में जनहित वाद दायर कर सकती है।

(4) कल्याणकारी राज्य में कार्यपालिका प्राधिकारियों को अपना कर्तव्य—बोध कराने की दिशा में लोकहित वाद एक प्रभावी साधन का काम करता है क्योंकि उनके द्वारा जनहित की उपेक्षा में किये गये कार्यों या अकृत्यों के लिये उनके विरुद्ध लोकहित में मुकदमा दायर किया जा सकता है।

(5) लोकहित वाद का एक आवश्यक तत्व यह है कि वह सद्भावनापूर्वक, बिना किसी स्वार्थ या द्वेष की भावना से प्रस्तुत किया गया हो तथा वाद प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति या संस्था का इसमें कोई वैयक्तिक प्रत्यक्ष या परोक्ष हित निहित नहीं होना चाहिये।

(6) सुने जाने के अधिकार के उदासीकरण (liberalisation of Locus Standi) का सिद्धान्त केवल लोकहित वादों के प्रति ही लागू होता है।

(7) लोकहितवादों से संबंधित "इपिस्टोलरी अधिकारिता" (Epistolary Jurisdiction) के अन्तर्गत यदि न्यायालय न्यायोचित समझे, तो किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा भेजे गये सामान्य पत्र को भी याचिका मानकर उस पर सुनवाई कर सकता है बशर्ते कि प्रकरण वास्तव में किसी जनहित से संबंधित हो। यहाँ तक कि कभी-कभी न्यायालय द्वारा स्वप्रेरणा (Suo motu) से भी किसी समाचार पत्र या पत्रिका में छपी खबर के आधार पर न्यायिक कार्यवाही संस्थित की जा सकती है, यदि न्यायालय के विचार से ऐसा करना लोकहित में आवश्यक हो।

(8) लोकहित के मामलों में न्यायालय के लिये प्रतिपक्षात्मक प्रक्रिया (Adversarial Procedure) अपनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(9) यह तर्क कि लोकहितवादों के प्रचलन से मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिला है तथा उच्चतर न्यायालयों में मुकदमों की वृद्धि हुई है, निराधार है क्योंकि इस प्रकार केवादों को सुनवाई हेतु स्वीकार किये जाने के पूर्व न्यायालय यह सुनिश्चित कर देता है कि प्रकरण वास्तव में जनहित से संबंधित है तथा प्रस्तुतकर्ता व्यक्ति या संस्था का इसमें कोई निजी स्वार्थ नहीं है। इस हेतु उच्चतम न्यायालय ने एक विशेष लोकहित-वाद प्रकोष्ठ (PIL Cell) स्थापित किया है, जो यह जांच करता है कि प्रकरण वास्तव में लोकहित से संबंधित है अथवा नहीं।

1.4.3 लोक अदालतें

भारत में लोक अदालतों को सांविधिक मान्यता दिलाने का श्रेय उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री पी०एन० भगवती को दिया जाना चाहिये जिन्होंने इसे राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित किये जाने पर जोर दिया। वस्तुतः लोक अदालत का प्रारंभ गुजरात राज्य से ही हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम महात्मा गांधी के शिष्य श्री हरीवल्लभ पारीख ने सन् 1949 में बड़ौदा के निकट एक आदिवासी ग्राम रंगपुर में लोक अदालत लगाने की परिपाटी प्रारंभ की। वे विवाद से संबंधित दोनों पक्षों को सुनने के पश्चात् उन्हें आपस में समझौता करने के लिये प्रेरित करते थे तथा इस प्रकार उनके विवादों को सुलझा देते थे। ग्रामवासियों में श्री पारिख की इस पहल का भरपूर स्वागत हुआ और इस प्रकार शीघ्र और सस्ता न्याय दिलाने वाली संस्था के रूप में लोक अदालतें लोकप्रिय होने लगीं। श्री पारिख ने यह प्रयास सन् 1960 तक निरंतर जारी रखा तथा इसके बाद उन्होंने लोक अदालतों का नियमित रिकार्ड रखना प्रारंभ कर दिया तथा गुजरात के विभिन्न गाँवों में पदयात्रा द्वारा इनका प्रचार-प्रसार किया।

लोक अदालत को कानूनी मान्यता दिलाने का वास्तविक श्रेय महाराष्ट्र राज्य को है जिसने सन् 1986 में लोक न्यायालय संबंधी नियम बनाकर उन्हें अपने राज्य में लागू किया। इन नियमों में लोक न्यायालयों के गठन, आयोजन तथा उनमें अपनाई जाने वाली प्रक्रिया और वित्त के बारे में व्यापक प्रावधान थे।

कुछ राज्यों विशेषकर गुजरात, महाराष्ट्र तथा राजस्थान, ने स्थायी समझौता केन्द्र स्थापित किये थे जिनमें स्थायी तौर पर लोक अदालतें लगती थी। लेकिन अधिकांशतः अस्थायी लोक अदालतें ही प्रचलन में थीं जो विधिक सहायता शिविरों को गांवों में आयोजित करके ग्रामीणों के विवादों को निपटाने का कार्य करती थीं। इनमें मोटरवाहन दुर्घटना, पारिवारिक विवाद, बीमा संबंधी विवाद, झुटपुट झगड़े आदि का निराकरण किया जाता था।

4.4.4 अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति

इसी प्रकार भीम सिंह बनाम जम्मू तथा कश्मीर राज्य (1985) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने राज्य द्वारा याचिकाकर्ता की वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार का हनन किये जाने पर उसे पचास हजार रुपये की राशि क्षतिपूर्ति के रूप में दिलाई। याचिकाकर्ता एक विधायक था जिसे विधानसभा की बैठक में भाग न लेने देने की नीयत से पुलिस ने जानबूझकर गिरफ्तार अपनी-अपनी अभिरक्षा में रखा। न्यायालय ने पाया कि पुलिस ने जानबूझकर दुर्भावना से याचिकाकर्ता को रोके रखा तथा इसमें दण्डाधिकारी और उप-न्यायाधीश की भी सांठ-गांठ थी। उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि जब किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन अवैध सिद्ध हो जाती है, तो उसे केवल रिहा कर देना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। अपितु न्यायालय को अधिकार है कि वह पीड़ित को हुई हानि के लिये उचित क्षतिपूर्ति भी दिलाए। इसके उपरान्त अनेकानेक वादों में ऐसे निर्णय दिए गए।

1.4.5 कुछ अन्य महत्वपूर्ण विधिक प्रयास व सुधार

महिलाओं, बालकों एवं अनुसूचित जातियों, जनजातियों, अन्य पिछड़ा वर्गों, अल्पसंख्यकों संबंधित संरक्षणात्मक विभेद तथा महत्वपूर्ण विधिक प्राविधानों संबंधी चर्चा पूर्व के खण्डों में की जा चुकी है अतएव यहाँ उनके विश्लेषण का लोप किया जा रहा है। आधुनिकीकरण के परिप्रेक्ष्य में कुछ अन्य विधिक सुधारों एवं प्रयासों विवरण निम्नलिखित है—

1.4.5.1 अनु0 21 का विस्तार

जीवन की स्वतंत्रता संबंधी मूलभूत अधिकार के क्षेत्र को और अधिक व्यापक बनाए जाने के सन्दर्भ में बम्बई के फुटपाथ के वासियों का मामला ओल्गा टेलिस बनाम बम्बई कारपोरेशन (1986) विशेष उल्लेखनीय है। इस वाद में बम्बई नगर निगम द्वारा फुटपाथ तथा झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले निवासियों को निष्कासित किये जाने की कार्यवाही के विरुद्ध फुटपाथवासियों तथा एक पत्रकार ने याचिका प्रस्तुत की जिसमें यह कहा गया था कि इन स्थानों पर रहना उनके जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक था। अतः यदि उन्हें यहाँ से, बिना वैकल्पिक आवास उपलब्ध कराये निष्कासित किया जाता है, तो इससे उनके जीवन के अधिकार का हनन होगा। याचिकाकर्ताओं का तर्क था कि अनुच्छेद 21 में वर्णित जीवन के अधिकार के

अन्तर्गत जीविका उपार्जन करने का अधिकार भी सम्मिलित है। याचिका को स्वीकार करते हुये उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि सार्वजनिक स्थानों से झुग्गी झोपड़ियों तथा फुटपाथ पर रहने वाले व्यक्तियों को हटाये जाने से संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन हुआ है। न्यायालय ने कहा कि जीविकोपार्जन के साधन के अभाव में जीवन का अधिकार अर्थहीन होगा, अतः जीविकोपार्जन के अधिकार को जीवन के अधिकार का ही एक अविच्छिन्न अंग माना जाना चाहिये। तथापि उच्चतम न्यायालय ने यह विनिश्चित किया कि बम्बई नगर निगम अधिनियम की धारयें 313, 393-क, 314 तथा 417 जिनके अधीन निगम ने यह कार्यवाही की थी, संवैधानिक हैं क्योंकि इनसे फुटपाथ और झुग्गी-झोपड़ियों के निवासियों के जीवन यापन के अधिकार पर युक्तियुक्त प्रतिबन्ध लगाया गया था। सार्वजनिक सड़कों को धन्धे या व्यापार के लिये प्रयोग किया जाना जनहित में उचित नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने मानवीय आधारों पर निगम को यह निर्देश दिया कि वह इन फुटपाथ-वासियों को वर्षा ऋतु के बाद ही हटाने की कार्यवाही करे, ताकि उन्हें अन्यत्र जाने में असुविधा न हो। न्यायालय ने यह भी निर्देश दिया कि नगर निगम फेरी वालों को लाइसेंस जारी कर उनके व्यवसाय का विनियमन करे।

4.4.5.2 आपराधिक न्याय प्रशासन में सुधार

भारत में आपराधिक न्याय प्रशासन के क्षेत्र में हुसेनआरा खातून बनाम बिहार राज्य (1980) का वाद महत्वपूर्ण है। बिहार के जेलों की दुर्व्यवस्था तथा कैदियों से अमानवीय व्यवहार के बारे में एक सेवानिवृत्त पुलिस महाअधीक्षक तथा राष्ट्रीय पुलिस आयोग के सदस्य ने अपनी निरीक्षण टिप्पणियाँ (Tour-Notes) लिखीं। इन टिप्पणियों में यह कहा गया था कि बिहार के जेलों में अनेक विचाराधीन कैदी दस वर्षों से अधिक समय से जेल में विचारण की प्रतीक्षा में कैद हैं जबकि उनके अपराध के लिये दिये जाने वाले दण्ड की अधिकतम सीमा इससे बहुत कम थी। यहाँ तक कि कुछ अपराधियों के मामले में यह आधी अवधि से भी कम थी। अनेक बंदियों का दो वर्ष बीत जाने पर भी उनके विरुद्ध आरोप-पत्र तैयार नहीं किये गये थे और न उनके प्रकरण में जाँच ही आरम्भ की गई थी। कुछ कारावासी ऐसे भी थे जिनके विरुद्ध किसी अपराध का आरोप नहीं था बल्कि उन्हें केवल सुरक्षात्मक अभिरक्षा (Protective Care) में रखा गया था क्योंकि या तो वे स्वयं किसी अपराध के शिकार थे या उसके साक्षी थे। इस श्रेणी में अनेक दीनहीन महिलाओं और बच्चे भी थे। ने इन टिप्पणियों के आधार पर "इंडियन एक्सप्रेस" नामक एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक समाचार पत्र ने इस विषय पर दो लेख प्रकाशित किये। इस समाचार पत्र में प्रकाशित लेख में वर्णित जेल के कारावासियों की शोचनीय दशा के व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय की एक महिला अधिवक्ता श्रीमती कपिला हिंगोरानी ने उच्चतम न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की याचिका दायर की। इस याचिका पर सुनवाई करते हुये न्यायमूर्ति पी0एन0 भगवती ने इन अभागे विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुये टिप्पणी की:-

“न्यायालय द्वारा विचारण की प्रतीक्षा में निरुद्ध पुरुषों, महिलाओं और बालकों की एक बड़ी संख्या जेल के सीखचों के अन्दर बन्द है। इनमें से अनेक के अपराध इतने तुच्छ हैं कि उनके लिये सम्भवतः कुछ ही महीने या एकाध वर्ष की सजा ही दी जा सकती थी। परन्तु दुर्दैव से मानवीयता द्वारा विस्मृत ये व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता खोकर तीन से लेकर दस वर्षों तक की अवधि से जेलों में सड़ रहे हैं। उनका विचारण अभी तक प्रारंभ नहीं हुआ है। देश की न्यायप्रणाली के लिये यह लज्जा की बात है कि वह पुरुष और महिलाओं को इतने लम्बे समय तक बिना विचारण के जेलों में जीवन बिताने के लिये बाध्य करे। एक ओर जब हम ऊँची आवाज में मानव अधिकारों के संरक्षण और प्रवर्तन की पुकार कर रहे हैं तथा मूलभूत स्वतंत्रताओं को बनाये रखने की दुहाई दे रहे हैं, तो क्या हम जेल में वर्षों से रखे गये इन असंख्य अनाम व्यक्तियों को मानव अधिकारों से वंचित नहीं रह रहे हैं, जिनके विरुद्ध अपराध संभवतः सिद्ध भी न हो और उन्हें निर्दोष पाकर छोड़ना पड़े।”

1.4.5.3 सूचना का अधिकार

5 दिसम्बर, 2002 को राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्ध सरकार द्वारा सूचना की स्वतंत्रता का अधिनियम, 2002 पारित किया गया था। इस अधिनियम को निरस्त करके उसके स्थान पर वर्तमान सूचना के अधिकार का अधिनियम, 2005 पारित किया गया है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य देश के नागरिकों को लोक प्राधिकारियों के पास सरकारी कामकाज से संबंधित सूचनाओं को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करना है। इस अधिकार की मांग बहुत दिनों से चल रही थी और यह कहा जाता था कि लोकतांत्रिक प्रणाली में सूचना का अधिकार एक अत्यन्त आवश्यक अधिकार है जिससे प्रत्येक नागरिक यह जान सके कि लोक प्राधिकारीगण सरकारी कामकाज कैसे कर रहे हैं। ब्रिटिश शासनकाल से चले आ रहे कानून की दुहाई देकर नागरिकों का लोक अधिकारी महत्वपूर्ण सूचनाओं को गोपनीय बनाकर उनका भयादोहन करते रहे हैं। लार्ड कर्जन के समय बनाया गया कानून आफिसियल सिक्रेट अधिनियम भी इन्हीं में से एक है। इसके अनुसार सरकारी दस्तावेजों को साधारण जनता से गोपनीय रखने का उद्देश्य देश की सुरक्षा व एकता को बनाये रखना था। किन्तु व्यवहार में वे हर तथ्य को गोपनीय बनाने के फिराक में रहते थे। इसी कारण नागरिकों को न केवल अपने मामले में बल्कि सार्वजनिक मामलों में भी सच्चाई का पता नहीं चल पाता था। वर्तमान अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक लोक अधिकारी का यह दायित्व होगा कि नागरिकों द्वारा माँगी गई सूचनाएं उसे प्रदान करे तथा सभी दस्तावेजों का विवरण रखे जो परिचालन की अपेक्षा के अनुरूप हो। इन दस्तावेजों को ठीक तरीके से कैटलागिंग तथा सूचीबद्ध होना चाहिए तथा ऐसे अन्तराल पर प्रकाशित होना चाहिए जैसे कि सरकार या सक्षम अधिकारी विहित करें। इस प्रकार इस अधिनियम का उद्देश्य प्रशासन में खुलापन, पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व को बढ़ाना है। धारा 5 के अनुसार प्रत्येक लोक प्राधिकारी इस अधिनियम के लागू होने के 100 दिन के भीतर इतने केन्द्रीय और राज्य सूचना अधिकारियों की नियुक्ति करेगा जितने आवश्यक हों। ये सूचना अधिकारी किसी भी व्यक्तियों को सूचना प्रदान करेंगे जो इसके लिए आवेदन दे। कोई भी व्यक्ति जो सूचना प्राप्त करने के इच्छुक है वह इसके लिए लिखित या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा हिन्दी या अंग्रेजी में लोकसूचना अधिकारी को आवेदन देगा (धारा 6)। लोक

सूचना अधिकारी आवेदन पाने के पश्चात् यथाशीघ्र किन्तु 30 दिन के भीतर विहित शुल्क के भुगतान पर या तो सूचना देगा अथवा धारा 8 और 9 के अन्तर्गत विहित कारणों के आधार पर इन्कार कर देगा। किन्तु जहाँ सूचना किसी व्यक्ति के प्राण स्वतंत्रता से संबंधित है उसे आवेदन के पश्चात् 48 घण्टे के भीतर प्रदान कर दिया जाना चाहिए। धारा 8 और 9 में उन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनके आधार पर सूचना देने से इन्कार किया जा सकता है। लोक सूचना अधिकारी के निर्णय से पीड़ित व्यक्ति 30 दिनों के भीतर ऐसे अधिकारी के पास अपील कर सकेगा जिसको विहित किया जाए (धारा 12)। धारा 23 के अन्तर्गत यह उपबन्ध है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी आदेश के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई भी मामला नहीं लाया जा सकता है। धारा 24 में उन संगठनों का उल्लेख है जिनके विरुद्ध यह अधिनियम लागू नहीं किया जाएगा अर्थात् केन्द्रीय सरकार द्वारा दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट गुप्तचर या सुरक्षा संबंधी संगठन। धारा 20 के अधीन यह उपबन्ध है कि सूचना अधिकारियों द्वारा बिना उचित कारण के आवेदन लेने या सूचना न देने पर केन्द्रीय सूचना आयोग संबंधित अधिकार पर 250 रुपये प्रतिदिन की दर से का जुर्माना लग सकता है जब तक सूचना नहीं प्रदान की जाती है। धारा 12, 13 और 14 के अन्तर्गत केन्द्रीय सूचना आयोग के गठन, सेवा शर्तों और पदच्युक्ति से संबंधित उपबन्ध हैं। धारा 15, 16 और 17 के अधीन राज्य सूचना आयोग के गठन, उनकी सेवा शर्तों और उनकी पदच्युक्ति से संबंधित उपबन्ध दिए गए हैं।

स्पष्ट है कि सूचना का अधिकार अधिनियम भारत के आधुनिकीकरण के परिप्रेक्ष्य में एक सशक्त पहल है जिसको जन सहयोग से प्रभावी बनाया जा सकता है।

4.5 सारांश

भारतीय संविधान में अनेकों ऐसे उपबन्ध हैं जो प्राचीनता से नाता तोड़ कर आधुनिक विकास की ओर प्रवृत्त करते हैं। उदाहरणस्वरूप मौलिक अधिकारों की रूढ़ि एवं प्रथाओं पर अभिभाविता, अस्पृश्यता की समाप्ति, धर्म, प्रजाति, जाति एवं लिंग के आधार पर भेदभाव का निषेध, मानवों में बेगार एवं दुर्व्यापार पर रोक, धार्मिक अभ्यासों पर निर्बन्धन आदि। मौलिक अधिकार एवं राज्य के नीति निर्देशक तत्व आधुनिकता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारत में विधि ने आधुनिकीकरण का वातावरण तैयार किया है, उसका विकास किया है तथा उसके परिणामों के प्रतिउत्तर में वर्तमान विधिक व्यवस्था में सुधार तथा संशोधन किए हैं। कुछ नयी नीतियों जैसे कि सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की ओर अभिमुखता तथा नए उपकरण जैसे लोक हित वाद तथा लोक अदालत के उपकरणों को विकसित किया है। सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को आगे बढ़ाने के लिए भ्रष्टाचार निवारण, छुआछूत प्रतिषेध, सती प्रतिषेध, बाल विवाह प्रतिषेध, प्रसूति प्रसुविधा आदि के संबंध में विधि का निर्माण किया

गया है। आर्थिक न्याय के लिए भूमि सुधार, जमींदारी उन्मूलन, न्यूनतम मजदूरी, बोनस भुगतान, कर्मकार प्रतिकर आदि संबंधी विधायन पारित किए गए हैं।

4.6 सन्दर्भ सूची

- (1) प्रो जी०पी० त्रीपाठी— भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास(2007)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
2. तेजस्कर—ओजस्कर पाण्डेय—समाज कार्य दर्शन (2009)— भारत बुक सेन्टर
3. मलिक और रावल—लॉ एण्ड सोशल ट्रान्सफोरमेशन इन इण्डिया(2009)—इलाहबाद लॉ एजेन्सी
4. राम आहुजा— सामाजिक समस्याय (2008)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
5. राम आहुजा—भारतीय समाज (2007)— रावत पब्लिकेशन दिल्ली
6. डा० अवतार सिंह—भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872(2006)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
7. डा० गणेश पाण्डे—अपराध शास्त्र (2008)— राधा पब्लिकेशन दिल्ली
8. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—विधि शास्त्र(2006)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
9. विधि का सामाजिक परिवर्तन (स्टेडी मटेरियल भोज मुक्त विश्वविद्यालय, भोपाल)—डा० शैफाली यादव
10. डा० कैलाश राय— जनहित वकालत विधिक सहायता एवं समरूपी विधिक(2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
11. डा० अभय सिंह—सूचना का अधिकार अधिनियम 2005, (2009)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
12. डा० आर०के० अग्रवाल—हिन्दू विधि(2002)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन
13. डा० इकबाल सिंह—मुस्लिम विधि (2001)— सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

4.7—सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सी०पी० अरोरा—विविध अपराध अधिनियम (2010)— यूनीवर्सल लॉ पब्लिके(2010)।
2. डा० टी०पी० त्रीपाठी—सिविल प्रक्रिया संहिता(2006)— इलाहबाद लॉ एजेन्सी।
3. प्रो० इन्द्रजीत सिंह—श्रमिक विधियां—(2005)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।
4. डा० एस०के० कपूर— मानव अधिकार एवं अन्तराष्ट्रीय विधि(2004)—सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन।

4.7 निबन्धात्मक प्रश्न

- (1) भारत में विधि ने आधुनिकीकरण को किस प्रकार बढ़ावा दिया है?
- (2) आधुनिकीकरण के अन्तर्राष्ट्रीय विधिक परिदृश्य की चर्चा कीजिए।
- (3) भारतीय संविधान आधुनिकीकरण के संबंध में क्या प्राविधान करता है?
- (4) भारत में आधुनिकीकरण के संदर्भ किए गए विधिक सुधारों की व्याख्या कीजिए।
- (5) भारतीय न्यायपालिका ने आधुनिकीकरण में क्या योगदान दिया है? आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

